BAHI (N)-350

आधुनिक विश्व का इतिहास

1815 ईस्वी से 1945 ईस्वी

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
तीनपानी बाई पास रोड़ ट्रान्सपोर्ट नगर के पास
हल्द्वानी&263139
फोन नं. 05946&261122] 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स न. 05946&264232] **ई-मेल** info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

अध्ययन बोर्ड समिति

डॉ. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, प्रोफेसर इतिहास एवं निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी — **अध्यक्ष**

प्रोफेसर रविन्द्र कुमार, इतिहास विभाग, समाज विज्ञान विद्याशाखा,इग्नू, नई दिल्ली — **सदस्य**

डॉ.लाल बहादुर वर्मा, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — **सदस्य**

डॉ.रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा,इतिहास विभाग,जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली — **सदस्य**

डॉ. मदन मोहन जोशी, प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी — **सदस्य**

पाठ्यक्रम संयोजन एंव संपादन

डॉ. मदन मोहन जोशी, प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

इकाई एक- रूढ़ीवादिता का युग: वियना कांग्रेस,मेटरनिख, कंसर्ट ऑफ यूरोप - डॉ जीतेश कुमार जोशी, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई दो- 1830 एवं 1848 की फ्रांसीसी क्रांति - विकास जोशी, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई तीन- इंग्लैंड में उदारवाद-1832 का रिफोर्म एक्ट तथा चार्टिस्ट आंदोलन - डॉ जीतेश कुमार जोशी, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई चार- प्रथम तथा द्वितीय अफीम युद्ध, अमेरिकी सिविल वॉर –डॉ संपत्ति असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई पाँच -प्रथम विश्वयुद्ध एवं रूसी क्रांति: विकास जोशी, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई छह - इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई सात -इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई आठ-इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई नौ - इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई दस - इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई ग्यारह-इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई बारह- इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई तेरह - इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार
इकाई चौदह-इतिहास विभाग की BAHI-301 से साभार

प्रकाशन वर्ष: मई
कापी राइट:/ उत्तराखण्ड मुक्त विश्विद्यालय
संस्करण: सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति
प्रकाशक: कुल सचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल
उत्तराखण्ड।

इकाई एक

रूढ़िवादिता का युग — मेटरनिख, विएना काँग्रेस और कंसर्ट ऑफ़ यूरोप

1.0 परिचय

1.1 उद्देश्य

1.2 नेपोलियन युद्धों की पृष्ठभूमि

1.3 मेटरनिख: व्यक्तित्व और रूढ़िवादी दर्शन

1.4 विएना काँग्रेस (1814–15): उद्देश्य, कार्यवाही और परिणाम

1.5 कंसर्ट ऑफ़ यूरोप: निर्माण, कार्यशैली और प्रभाव

1.6 यूरोप की राजनीति पर रूढ़िवादी व्यवस्था का प्रभाव

1.7 आलोचनाएँ और पतन

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 अभ्यास प्रश्न

1.11 संदर्भ सूची

1.0 परिचय

फ्रांसीसी क्रांति (1789–1799) ने यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ताने-बाने में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया। इस क्रांति ने लोकतंत्र, स्वतंत्रता, समानता और मानवाधिकार के विचारों को स्थापित किया, जिसने पारंपरिक राजतंत्रीय और सामंतवादी व्यवस्थाओं को चुनौती दी। फ्रांसीसी क्रांति की प्रेरणा ने न केवल फ्रांस बल्कि पूरे यूरोप में राजनीतिक जागरूकता और राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया। यूरोपीय राजशाही ने इस नए उदारवादी और क्रांतिकारी आंदोलन को खतरे के रूप में देखा और इसे दबाने के प्रयास किए।

नेपोलियन बोनापार्ट (1799–1815) की शक्ति और विस्तारवादी नीतियों ने फ्रांसीसी क्रांति के विचारों को यूरोप के अन्य हिस्सों में फैलाने का काम किया। नेपोलियन ने सैन्य अभियानों और प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से समान कानून, आधुनिक प्रशासन और नागरिक स्वतंत्रता को लागू किया। हालांकि, उसकी विस्तारवादी नीति और सामरिक विजय ने यूरोप में राजनीतिक अस्थिरता और युद्धों का दौर शुरू कर दिया। कई राज्य, विशेषकर ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन ने उसे यूरोप में खतरे के रूप में देखा और अंततः उसकी पराजय के लिए गठबंधन किया।

नेपोलियन युद्धों के बाद यूरोप के प्रमुख राज्य यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि फिर कभी कोई ऐसी क्रांतिकारी और विस्तारवादी शक्ति यूरोप में स्थिरता को खतरे में न डाल सके। इस उद्देश्य से रूढ़िवादी व्यवस्था का निर्माण किया गया। रूढ़िवादिता का यह सिद्धांत पारंपरिक राजतंत्र, सामाजिक संरचना और चर्च के महत्व को बनाए रखने पर आधारित था। इसका मुख्य लक्ष्य था यूरोप में राजनीतिक स्थिरता और शक्ति संतुलन स्थापित करना, ताकि क्रांति और युद्धों का पुनरावृत्ति रोकी जा सके।

इस समय की प्रमुख हस्ती क्लीमेन्स वान मेटरनिख थीं, जो ऑस्ट्रिया के मुख्य मंत्री और राजनयिक थे। मेटरनिख ने यूरोप में स्थिरता और संतुलन बनाए रखने के लिए सख्त रूढ़िवादी नीतियाँ अपनाई। उनका मानना था कि केवल पारंपरिक राजतंत्र और चर्च ही समाज में शांति और व्यवस्था बनाए रख सकते हैं। मेटरनिख की कूटनीति ने विएना काँग्रेस (1814–15) और बाद में कंसर्ट ऑफ़ यूरोप जैसी संस्थाओं की नींव रखी, जिनका उद्देश्य यूरोप में राजनयिक सहयोग और स्थिरता सुनिश्चित करना था।

इस इकाई में हम रूढ़िवादी युग के मुख्य तत्वों का अध्ययन करेंगे। इसमें मेटरनिख की राजनीतिक सोच, विएना काँग्रेस की कार्यवाही, और कंसर्ट ऑफ़ यूरोप के उद्देश्य और प्रभाव शामिल हैं। साथ ही, हम देखेंगे कि कैसे इन उपायों ने 19वीं सदी के यूरोप में राजनीतिक स्थिरता तो प्रदान की, लेकिन उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों पर अंकुश लगाया। इस अध्ययन से यह समझना संभव होगा कि यूरोप में रूढ़िवादी व्यवस्था ने किस प्रकार क्रांति और युद्ध के खतरों को नियंत्रित करने का प्रयास किया।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद विद्यार्थी निम्नलिखित बातों को समझने और विश्लेषण करने में सक्षम होंगे:

- मेटरनिख की राजनीतिक दृष्टि और रूढ़िवादिता की अवधारणा;शिक्षार्थी समझ पाएंगे कि मेटरनिख ने यूरोप में स्थिरता और शांति बनाए रखने के लिए किस प्रकार रूढ़िवादी नीतियों को अपनाया।
- विएना काँग्रेस की कार्यवाही और परिणाम; शिक्षार्थी विएना काँग्रेस के उद्देश्यों, मुख्य निर्णयों और यूरोप के राजनीतिक परिदृश्य पर इसके प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।
- कंसर्ट ऑफ़ यूरोप की संरचना और भूमिका; शिक्षार्थी जान सकेंगे कि इस गठबंधन ने यूरोप में शक्ति संतुलन और सहयोग स्थापित करने में किस प्रकार योगदान दिया।

- रूढ़िवादी व्यवस्था और यूरोप की राजनीति पर प्रभाव; शिक्षार्थी समझ पाएंगे कि रूढ़िवादी नीतियों ने 19वीं सदी के यूरोप में राजनीतिक स्थिरता बनाए रखी, लेकिन उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों पर नियंत्रण भी रखा।
- आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित करना; शिक्षार्थी यह विश्लेषण कर सकेंगे कि रूढ़िवादिता की नीतियाँ किन कारणों से सफल रहीं और किन परिस्थितियों में उनकी सीमाएँ दिखाई दीं।

इस प्रकार, इस इकाई का उद्देश्य केवल ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि विद्यार्थियों में समीक्षात्मक और विश्लेषणात्मक क्षमता विकसित करना भी है, जिससे वे 19वीं सदी के यूरोपीय राजनीतिक ढांचे को समग्र दृष्टिकोण से समझ सकें।

1.2 नेपोलियन युद्धों की पृष्ठभूमि

18वीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांस में हुई फ्रांसीसी क्रांति ने न केवल फ्रांस बल्कि पूरे यूरोप में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक हलचल पैदा कर दी। क्रांति के दौरान प्रजा ने राजतंत्र और सामंतवाद के खिलाफ विद्रोह किया और स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे विचार स्थापित किए। इन विचारों ने यूरोप की परंपरागत शाही शक्तियों में भय पैदा किया और उन्हें फ्रांस की क्रांतिकारी नीतियों को नियंत्रित करने के उपाय ढूंढ़ने पर मजबूर कर दिया।

फ्रांसीसी क्रांति के बाद सत्ता में आए नेपोलियन बोनापार्ट (1799–1815) ने फ्रांस को एक शक्तिशाली और विस्तारवादी साम्राज्य में बदल दिया। नेपोलियन ने अपने प्रशासनिक और कानूनी सुधारों के माध्यम से यूरोप में समान कानून (Napoleonic Code), आधुनिक प्रशासन और नागरिक स्वतंत्रता को लागू किया। लेकिन उसके सैन्य अभियानों और विस्तारवादी नीति ने पूरे यूरोप में युद्ध और अस्थिरता का दौर शुरू कर दिया।

नेपोलियन के तहत फ्रांस ने कई पड़ोसी देशों पर आक्रमण किया और उनकी राजनीतिक व्यवस्था को बदल दिया। उसने ऑस्ट्रिया, प्रशा, रूस, स्पेन और इटली में युद्ध किए और कई क्षेत्रों में फ्रांसीसी प्रभाव स्थापित किया। नेपोलियन की इस विस्तारवादी नीति से यूरोप की प्रमुख शक्तियाँ — ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन — उसके प्रभाव को संतुलित करने के लिए गठबंधन बनाने पर मजबूर हुईं।

1812 में रूस पर नेपोलियन के अभियान की विफलता और उसके बाद के सैनिक पराजयों ने उसके साम्राज्य को कमजोर करना शुरू किया। अंततः 1814 में उसके साम्राज्य का पतन हुआ और उसे अल्बा द्वीप में निर्वासित कर दिया गया। नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप के प्रमुख राज्य यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि क्रांतिकारी और विस्तारवादी शक्तियाँ भविष्य में महाद्वीप में स्थिरता को खतरे में न डालें।

इस पृष्ठभूमि में यूरोप के प्रमुख राज्यों ने मिलकर रूढ़िवादी व्यवस्था स्थापित करने का निर्णय लिया। इसका उद्देश्य था यूरोप में राजनीतिक स्थिरता बनाए रखना, पुराने राजतंत्र को बहाल करना और शक्ति संतुलन स्थापित करना। यह प्रयास अंततः विएना काँग्रेस (1814–15) और बाद में कंसर्ट ऑफ़ यूरोप के रूप में सामने आया। इस पृष्ठभूमि को समझना मेटरनिख की नीतियों और 19वीं सदी के यूरोपीय राजनीतिक ढांचे को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

1.3 मेटरनिख: व्यक्तित्व और रूढ़िवादी दर्शन

क्लीमेन्स वान मेटरनिख (1773–1859) ऑस्ट्रिया के मुख्य मंत्री और प्रमुख राजनयिक थे। वे अपने समय के सबसे प्रभावशाली और दूरदर्शी कूटनीतिज्ञों में गिने जाते थे। मेटरनिख का मानना था कि राजतंत्र, चर्च और पारंपरिक सामाजिक ढांचे ही समाज में स्थिरता और शांति बनाए रख सकते हैं। उन्होंने यूरोप में राजनीतिक स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए रूढ़िवादी नीतियों को अपनाया और उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों को नियंत्रित करने के प्रयास किए।

मेटरनिख की राजनीति का केंद्रबिंदु था,सत्ता का संतुलन (Balance of Power)। उनका दृष्टिकोण था कि यदि यूरोप के प्रमुख राज्य संतुलित और मजबूत रहेंगे तो कोई भी शक्ति महाद्वीप में हावी नहीं हो पाएगी। इसके लिए उन्होंने विएना काँग्रेस के दौरान सीमा पुनर्विन्यास और राजतंत्र की बहाली पर जोर दिया। मेटरनिख ने फ्रांस को भी शामिल करते हुए यूरोप के सभी प्रमुख राज्यों में संतुलन बनाने का प्रयास किया।

मेटरनिख की रूढ़िवादी सोच का दूसरा पहलू था क्रांतिकारी आंदोलनों और उदारवादी विचारों पर नियंत्रण। उनका मानना था कि फ्रांसीसी क्रांति जैसी घटनाओं को दोबारा रोकने के लिए सख्त शासन और पारंपरिक सामाजिक संरचना आवश्यक है। उन्होंने यूरोप में जातीय और राष्ट्रीय आंदोलनों को नियंत्रित करने के लिए विभिन्न रणनीतियाँ अपनाई, जैसे कि संयुक्त सैन्य कार्रवाई और राजनयिक समझौते।

मेटरनिख की कूटनीति ने यूरोप में लंबे समय तक स्थिरता बनाए रखी। उन्होंने न केवल फ्रांस और ऑस्ट्रिया के बीच संतुलन स्थापित किया, बल्कि रूस, प्रशा और ब्रिटेन के साथ सहयोग को भी सुदृढ़ किया। उनका यह प्रयास यूरोप में 19वीं सदी के अधिकांश समय तक क्रांति और युद्ध के खतरे को कम करने में सफल रहा।

अंततः, मेटरनिख की विचारधारा ने 19वीं सदी के यूरोपीय राजनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर गहरा प्रभाव डाला। उनके नेतृत्व में स्थापित रूढ़िवादी ढांचे ने राजतंत्र, शक्ति संतुलन और कूटनीतिक सहयोग की नींव डाली, जिससे यूरोप में शांति और स्थिरता कायम रही, भले ही उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों पर नियंत्रण रखा गया।

1.3.1 मेटरनिख की प्रमुख नीतियाँ, कदम और प्रभाव

मेटरनिख की नीतियाँ और कदम मुख्यतः यूरोप में स्थिरता बनाए रखने, क्रांतिकारी आंदोलनों को रोकने और शक्ति संतुलन स्थापित करने पर केंद्रित थीं। उन्होंने अपनी कूटनीति और प्रशासनिक कौशल के माध्यम से 19वीं सदी के यूरोपीय राजनीतिक ढांचे को आकार दिया। उनके प्रमुख नीतिगत उपाय निम्नलिखित थे:

1. राजतंत्र की बहाली और संरक्षण

    - मेटरनिख का मानना था कि केवल पारंपरिक राजतंत्र ही सामाजिक और राजनीतिक स्थिरता सुनिश्चित कर सकता है।

    - विएना काँग्रेस (1814–15) में उन्होंने फ्रांस, स्पेन, इटली और जर्मन राज्यों में पुराने राजतंत्रों को बहाल कराने का प्रयास किया।

- इसके परिणामस्वरूप यूरोप में पारंपरिक राजनीतिक व्यवस्था पुनः स्थापित हुई और क्रांतिकारी आंदोलनों का प्रभाव सीमित हुआ।

2. सत्ता संतुलन (Balance of Power) स्थापित करना

    - मेटरनिख की सबसे महत्वपूर्ण नीति थी यूरोप के प्रमुख राज्यों में संतुलन बनाए रखना।
    - उन्होंने फ्रांस को नियंत्रित करते हुए ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन के बीच संतुलन स्थापित किया।
    - इस नीति के परिणामस्वरूप कोई भी शक्ति यूरोप में हावी नहीं हो सकी, और महाद्वीप में अपेक्षाकृत स्थिरता बनी रही।

3. क्रांतिकारी और उदारवादी आंदोलनों पर नियंत्रण

    - मेटरनिख ने यूरोप में राष्ट्रीय और उदारवादी आंदोलनों को रोकने के लिए सख्त उपाय किए।
    - उन्होंने कूटनीतिक समझौतों और आवश्यकता पड़ने पर सैन्य हस्तक्षेप के माध्यम से विद्रोहों को दबाया।
    - उदाहरण: 1820 के स्पेनिश विद्रोह और इटली में लिबरल आंदोलन को कंसर्ट ऑफ़ यूरोप के माध्यम से नियंत्रित किया गया।

4. कूटनीति और गठबंधन राजनीति

    - मेटरनिख ने यूरोप के प्रमुख देशों के बीच सहयोग और संवाद को मजबूत किया।
    - उन्होंने वार्ता और समझौते (Treaties) के माध्यम से विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से हल करने की नीति अपनाई।
    - इसके माध्यम से यूरोप में अंतरराष्ट्रीय संघर्षों और बड़े युद्धों की संभावना कम हुई।

5. सांस्कृतिक और धार्मिक स्थिरता पर जोर

    - मेटरनिख ने चर्च और धार्मिक संस्थाओं को समाज में स्थिरता बनाए रखने का आधार माना।
    - उन्होंने धार्मिक संस्थाओं और परंपराओं के संरक्षण के माध्यम से समाज में स्थिरता बनाए रखने का प्रयास किया।

मेटरनिख की नीतियों के प्रभाव

- यूरोप में 1815 से लगभग 1850 तक राजनीतिक स्थिरता और शांति बनी रही।
- क्रांतिकारी और उदारवादी आंदोलनों पर नियंत्रण कायम हुआ।
- सत्ता संतुलन ने महाद्वीप में बड़े युद्धों की संभावना को कम किया।

- हालांकि, कुछ नीतियाँ राष्ट्रीय आंदोलनों और लोकतांत्रिक सुधारों को दबाने का कारण बनीं।

इस प्रकार, मेटरनिख की नीतियाँ और कदम यूरोप के राजनीतिक ढांचे और अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर दीर्घकालिक प्रभाव डालने वाली रहीं।

1.4 विएना काँग्रेस (1814–15): उद्देश्य, कार्यवाही और परिणाम

नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप में राजनीतिक अस्थिरता और शक्ति शून्य पैदा हो गया था। इस स्थिति में प्रमुख यूरोपीय शक्तियों — ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन — ने मिलकर महाद्वीप में स्थिरता और शांति सुनिश्चित करने का निर्णय लिया। इसी संदर्भ में विएना काँग्रेस का आयोजन 1814 में ऑस्ट्रिया की राजधानी विएना में हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य यूरोप के देशों में पूर्व-क्रांतिकारी व्यवस्था बहाल करना और भविष्य में किसी भी प्रकार की क्रांतिकारी या विस्तारवादी गतिविधियों को रोकना था।

विएना काँग्रेस में फ्रांस, ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन के प्रमुख प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें शामिल सभी शक्तियों ने समान विचारधारा अपनाई कि यूरोप में स्थिरता बनाए रखने के लिए राजतंत्र और पारंपरिक सामाजिक संरचना बनाए रखना आवश्यक है। मेटरनिख, जो ऑस्ट्रिया के मुख्य मंत्री और प्रमुख कूटनीतिज्ञ थे, ने इस काँग्रेस में निर्णायक भूमिका निभाई और यूरोप में शक्ति संतुलन स्थापित करने का नेतृत्व किया।

विएना काँग्रेस के दौरान सीमाओं का पुनर्विन्यास प्रमुख मुद्दा था। फ्रांस को सीमित किया गया, ताकि वह फिर से विस्तारवादी ताकत न बन सके। इसके साथ ही, इटली, जर्मनी और स्पेन के विभिन्न हिस्सों में पुराने राजतंत्र बहाल किए गए। जर्मन राज्यों का संघ भी पुनर्गठित किया गया, जिसे जर्मन संघ (German Confederation) कहा गया। यह संघ 39 स्वतंत्र राज्यों का संगठन था, जिसका उद्देश्य क्षेत्रीय स्थिरता और सहयोग बनाए रखना था।

विएना काँग्रेस ने यूरोप में सत्ता संतुलन (Balance of Power) की नीति को लागू किया। इसका अर्थ था कि कोई भी शक्ति इतनी मजबूत नहीं होगी कि अन्य देशों पर हावी हो सके। फ्रांस को शामिल करते हुए अन्य शक्तियों ने मिलकर यह सुनिश्चित किया कि सभी प्रमुख राज्य संतुलित और स्वतंत्र रहें। इस नीति ने यूरोप में भविष्य के युद्धों को सीमित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

काँग्रेस ने सैन्य गठबंधनों और सुरक्षा उपायों के माध्यम से क्रांतिकारी आंदोलनों और विद्रोहों पर नियंत्रण करने की रणनीति बनाई। उदाहरण के लिए, स्पेन और इटली में उदारवादी और राष्ट्रवादी आंदोलनों को दबाने के लिए औपचारिक और असाधारण उपाय किए गए। यह यूरोप में स्थिरता बनाए रखने के लिए मेटरनिख और अन्य प्रमुख नेताओं की सख्त नीति का हिस्सा था।

विएना काँग्रेस का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था यूरोप में दीर्घकालिक शांति और स्थिरता स्थापित करना। काँग्रेस ने राजनीतिक रूप से संतुलित और संरचित यूरोप का रूप दिया। इस व्यवस्था के तहत 1815 से 1848 तक महाद्वीप में अपेक्षाकृत स्थिरता बनी रही, जिसे इतिहास में "पोषक शांति (Pax Europaea)" के रूप में संदर्भित किया जाता है।

हालांकि विएना काँग्रेस ने स्थिरता प्रदान की, लेकिन इसके परिणामस्वरूप उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों को दबाया गया। राजतंत्र और पारंपरिक शक्ति संरचनाएँ पुनः स्थापित हुईं, जिससे जनता में राजनीतिक असंतोष उत्पन्न हुआ। इसके बावजूद, विएना काँग्रेस ने यूरोप के भविष्य के लिए कूटनीतिक सहयोग और शक्ति संतुलन की नींव डाली, जो कंसर्ट ऑफ़ यूरोप जैसी संस्थाओं के माध्यम से लंबे समय तक बनाए रखी गई।

1.5 कंसर्ट ऑफ़ यूरोप: निर्माण, कार्यशैली और प्रभाव

1815 में विएना काँग्रेस के बाद यूरोप में स्थिरता बनाए रखने के उद्देश्य से प्रमुख शक्तियों — ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा , ब्रिटेन और बाद में फ्रांस — ने मिलकर कंसर्ट ऑफ़ यूरोप की स्थापना की। इसका मूल उद्देश्य महाद्वीप में शांति बनाए रखना और क्रांतिकारी तथा विस्तारवादी गतिविधियों को नियंत्रित करना था। इसे यूरोप में सामूहिक सुरक्षा और कूटनीतिक सहयोग का पहला व्यवस्थित प्रयास माना जाता है।

कंसर्ट ऑफ़ यूरोप का संगठनात्मक ढांचा अपेक्षाकृत लचीला था। इसमें औपचारिक सासंद या स्थायी संसाधन नहीं थे, बल्कि प्रमुख राज्य समय-समय पर बैठकों और कूटनीतिक संवाद के माध्यम से सामूहिक निर्णय लेते थे। इसकी बैठकें यूरोप के विभिन्न संकटों, विद्रोहों या युद्ध की संभावना पर केंद्रित रहती थीं। यह प्रणाली मेटरनिख की दूरदर्शिता और शक्ति संतुलन की नीति का विस्तार थी।कंसर्ट की कार्यशैली का मुख्य आधार सहयोग और सामूहिक कार्रवाई था। जब किसी राज्य में विद्रोह या क्रांति की संभावना दिखाई देती, तो कंसर्ट के सदस्य देश मिलकर हस्तक्षेप करते। उदाहरण के लिए, 1820–1821 के दौरान इटली और स्पेन में उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों को दबाने में कंसर्ट ने सक्रिय भूमिका निभाई। यह साबित करता है कि कंसर्ट का उद्देश्य केवल युद्ध रोकना नहीं, बल्कि राजनीतिक स्थिरता बनाए रखना भी था। कंसर्ट ऑफ़ यूरोप ने यूरोप में राजनयिक संवाद और समझौते को प्राथमिकता दी। सदस्य देशों ने किसी भी विवाद को सैन्य संघर्ष से पहले कूटनीति के माध्यम से हल करने की कोशिश की। इस प्रणाली ने यूरोप में बड़े पैमाने पर युद्धों की संभावना को कम किया और देशों के बीच विश्वास और सहयोग बढ़ाया।कंसर्ट ने यूरोप में राष्ट्रीय और क्रांतिकारी आंदोलनों पर नियंत्रण बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए, ग्रीस की स्वतंत्रता संग्राम और लैटिन अमेरिकी विद्रोहों के समय कंसर्ट ने औपचारिक हस्तक्षेप तो नहीं किया, लेकिन यूरोपीय शक्तियों के बीच समझौते और नीति निर्धारण के माध्यम से घटनाओं को नियंत्रित करने का प्रयास किया।

कंसर्ट ऑफ़ यूरोप का सबसे बड़ा प्रभाव यह था कि उसने यूरोप में लगभग 40 वर्षों तक शांति और स्थिरता बनाए रखी। इसकी नीति ने सत्ता संतुलन की अवधारणा को सुदृढ़ किया और यूरोप में अंतरराष्ट्रीय सहयोग की परंपरा शुरू की। इसके माध्यम से मेटरनिख के नेतृत्व में स्थापित रूढ़िवादी ढांचा लंबे समय तक प्रभावी रहा।हालांकि, कंसर्ट ऑफ़ यूरोप ने शांति बनाए रखी, लेकिन यह प्रणाली क्रांतिकारी विचारों, लोकतांत्रिक आंदोलनों और राष्ट्रीय अस्मिताओं को दबाने का माध्यम भी बनी। इससे जनता में असंतोष और विरोध की भावना उत्पन्न हुई, जो बाद में 1848 के क्रांतियों में प्रकट हुई। इसके बावजूद, कंसर्ट ने यूरोप में राजनयिक सहयोग और स्थिरता की एक नई परंपरा स्थापित की, जो अंतरराष्ट्रीय संबंधों के इतिहास में महत्वपूर्ण मानी जाती है।

1.6 यूरोप की राजनीति पर रूढ़िवादी व्यवस्था का प्रभाव

1815 के बाद विएना काँग्रेस और कंसर्ट ऑफ़ यूरोप के माध्यम से स्थापित रूढ़िवादी व्यवस्था ने यूरोप की राजनीति में स्थिरता और शांति बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रमुख शक्तियों — ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन — ने मिलकर यह सुनिश्चित किया कि कोई भी क्रांतिकारी या विस्तारवादी आंदोलन महाद्वीप में व्यापक प्रभाव न डाल सके। इस व्यवस्था ने यूरोप में पुराने राजतंत्रों को बहाल किया और सत्ता संतुलन की नीति को लागू किया।

रूढ़िवादी व्यवस्था के प्रभाव से यूरोप में राजतंत्र और पारंपरिक सामाजिक संरचना मजबूत हुई। फ्रांस, स्पेन, इटली और जर्मन राज्यों में पुराने राजतंत्र पुनः स्थापित किए गए। इससे राजनीतिक स्थिरता तो आई, लेकिन उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों पर नियंत्रण बढ़ा। इस नीति ने क्रांतिकारी विचारों को दबाने में मदद की, जिससे यूरोप के अधिकांश हिस्सों में अपेक्षाकृत शांति बनी रही।

सत्ता संतुलन की नीति ने यूरोप में महाद्वीपीय संघर्षों को सीमित किया। कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं हुआ कि अन्य राज्यों पर हावी हो सके। फ्रांस, जो पहले विस्तारवादी और क्रांतिकारी ताकत बन चुका था, अब संतुलित और नियंत्रित राज्य बन गया। इस संतुलन ने यूरोप में लंबे समय तक बड़े युद्धों की संभावना को कम किया और छोटे संघर्षों को कूटनीतिक ढांचे के भीतर हल करने की परंपरा स्थापित की।

रूढ़िवादी व्यवस्था ने राष्ट्रीय और उदारवादी आंदोलनों पर नियंत्रण बनाए रखा। मेटरनिख और कंसर्ट ऑफ़ यूरोप ने विभिन्न विद्रोहों को दबाने के लिए सैन्य और कूटनीतिक उपाय अपनाए। इटली, स्पेन और जर्मन क्षेत्रों में लिबरल आंदोलनों और राष्ट्रवाद के उदय को नियंत्रित किया गया। इससे राजतंत्रों की स्थिरता बनी, लेकिन जनता और नवोदित राष्ट्रीय आंदोलनों में असंतोष पैदा हुआ।

रूढ़िवादी व्यवस्था ने यूरोप में कूटनीतिक सहयोग और सम्मेलन की परंपरा स्थापित की। संकट के समय प्रमुख शक्तियों ने सामूहिक बैठकें और संवाद के माध्यम से निर्णय लिए। यह पहल यूरोप में अंतरराष्ट्रीय सहयोग और विवाद समाधान के लिए स्थायी संरचना का आधार बनी। इससे युद्धों की संभावना कम हुई और छोटे विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने की परंपरा विकसित हुई।

हालांकि रूढ़िवादी व्यवस्था ने स्थिरता प्रदान की, लेकिन इसके प्रभाव से लोकतंत्र और राष्ट्रीय अस्मिता के विचार सीमित हो गए। जनता में असंतोष बढ़ा और क्रांति की संभावनाएँ छिपी रही। इस असंतोष का परिपक्व रूप 1848 में "जनता की क्रांतियाँ (Revolutions of 1848)" के रूप में सामने आया। इससे स्पष्ट हुआ कि रूढ़िवादिता केवल सीमित समय तक स्थिरता बनाए रख सकती है।

संक्षेप में, रूढ़िवादी व्यवस्था ने यूरोप में राजनीतिक स्थिरता, शक्ति संतुलन और कूटनीतिक सहयोग स्थापित किया। यह व्यवस्था बड़े युद्धों और क्रांतियों को नियंत्रित करने में सफल रही, लेकिन उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों को दबाने के कारण समाज में असंतोष और संघर्ष की जड़ें भी बनीं। इस प्रकार, 19वीं सदी के यूरोप की राजनीति में रूढ़िवादी व्यवस्था का

1.7 आलोचनाएँ और पतन

रूढ़िवादी व्यवस्था और मेटरनिख की नीतियों ने 19वीं सदी के यूरोप में स्थिरता तो प्रदान की, लेकिन इसे कई दृष्टिकोणों से आलोचना भी मिली। आलोचकों का मानना था कि इस व्यवस्था ने जनता की राजनीतिक इच्छाओं और लोकतांत्रिक आंदोलनों को दबाया। उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों पर नियंत्रण ने सामाजिक असंतोष को बढ़ाया और कई क्षेत्रों में क्रांति की संभावनाओं को जन्म दिया।रूढ़िवादी नीतियों की आलोचना का एक मुख्य कारण यह था कि उन्होंने राष्ट्रीय अस्मिताओं और सांस्कृतिक आंदोलनों को सीमित किया। जर्मन राज्यों, इटली और स्पेन में जनता के भीतर राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता की भावना जागरूक हो रही थी, लेकिन रूढ़िवादी व्यवस्था ने इन्हें दबाने का प्रयास किया। इससे राजतंत्र और जनता के बीच दूरियां बढ़ीं।

कंसर्ट ऑफ़ यूरोप के माध्यम से लगातार हस्तक्षेप ने यह संकेत दिया कि राजनीतिक स्थिरता केवल शासकों और प्रमुख शक्तियों के नियंत्रण में संभव है। आम जनता और उदारवादी विचारकों को निर्णय प्रक्रिया में कोई भागीदारी नहीं मिली। इससे जनता में असंतोष और विरोध की भावना गहरी हुई।रूढ़िवादी व्यवस्था की आलोचना यह भी रही कि यह अल्पकालिक समाधान थी। क्रांतियाँ और विद्रोह पूरी तरह नहीं रुके। 1820 और 1830 के दौरान स्पेन, इटली और बेल्जियम में उठते विद्रोह और 1848 की व्यापक क्रांतियाँ यह साबित करती हैं कि जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को दबाना स्थायी रूप से सफल नहीं हो सकता।

मेटरनिख की नीतियाँ और कंसर्ट ऑफ़ यूरोप ने यूरोप के सत्तावादी ढांचे को बनाए रखा, लेकिन इसने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सुधारों को रोक दिया। उदारवादी और लोकतांत्रिक विचार सीमित हो गए। इसके कारण समाज के विभिन्न वर्गों में असंतोष और विरोध की जड़ें मजबूत हुईं।रूढ़िवादी व्यवस्था ने राजतंत्रों की शक्ति और स्थायित्व बढ़ाया, लेकिन जनता और राष्ट्रवाद की ताकत को दबाने के कारण इसकी प्रभावकारिता समय के साथ घटती गई। सत्ता संतुलन और शांति के लंबे समय तक बनाए रखने के बावजूद, यह व्यवस्था क्रांति और सामाजिक बदलाव के दबाव के तहत कमजोर पड़ने लगी।

संक्षेप में, रूढ़िवादी व्यवस्था ने यूरोप में स्थिरता तो प्रदान की, लेकिन इसके सीमित दायरे, लोकतांत्रिक और राष्ट्रीय आंदोलनों पर नियंत्रण, और जनता की आकांक्षाओं की अनदेखी ने इसे आलोचना के दायरे में लाया। इसका पतन 1848 के क्रांतिकारी घटनाओं और राष्ट्रवादी आंदोलनों के उभार के माध्यम से स्पष्ट रूप से दिखाई दिया, जिससे यह सिद्ध हुआ कि रूढ़िवादिता केवल अस्थायी समाधान थी।

1.8 सारांश

इस इकाई में हमने 19वीं सदी के यूरोप में स्थापित रूढ़िवादी युग का व्यापक अध्ययन किया। फ्रांसीसी क्रांति और नेपोलियन युद्धों के परिणामस्वरूप यूरोप में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हुई थी, जिसे नियंत्रित करने के लिए प्रमुख शक्तियों ने मिलकर रूढ़िवादी व्यवस्था की स्थापना की। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य राजतंत्र की बहाली, शक्ति संतुलन बनाए रखना और क्रांतिकारी आंदोलनों को नियंत्रित करना था।

क्लीमेन्स वान मेटरनिख इस युग के सबसे प्रभावशाली कूटनीतिज्ञ थे। उनके नेतृत्व में ऑस्ट्रिया ने विएना काँग्रेस और कंसर्ट ऑफ़ यूरोप के माध्यम से यूरोप में स्थिरता बनाए रखने के लिए प्रमुख नीतियाँ अपनाई। मेटरनिख ने राजतंत्र की सुरक्षा, सत्ता संतुलन और क्रांतिकारी आंदोलनों पर नियंत्रण को अपने नीतिगत केंद्र में रखा।

विएना काँग्रेस (1814–15) ने यूरोप के सीमाओं का पुनर्विन्यास किया, पुराने राजतंत्र बहाल किए और जर्मन राज्यों का संघ स्थापित किया। इस काँग्रेस ने यूरोप में राजनीतिक संतुलन और कूटनीतिक सहयोग की नींव डाली। इसके परिणामस्वरूप यूरोप में अपेक्षाकृत स्थिरता और शांति स्थापित हुई।

कंसर्ट ऑफ़ यूरोप ने यह स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह संगठन सदस्य देशों के बीच संवाद, सामूहिक निर्णय और विद्रोहों को नियंत्रित करने के उपायों पर आधारित था। इसके माध्यम से सत्ता संतुलन और राजनीतिक स्थिरता सुनिश्चित हुई, लेकिन उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों को दबाने का दुष्प्रभाव भी देखा गया।

हालांकि, रूढ़िवादी व्यवस्था ने यूरोप में लगभग चार दशकों तक स्थिरता और शांति बनाए रखी, लेकिन इसके सीमित दृष्टिकोण ने लोकतांत्रिक और राष्ट्रीय आंदोलनों को दबाया। 1848 की क्रांतियाँ और विभिन्न राष्ट्रवादी आंदोलनों का उदय यह दिखाता है कि रूढ़िवादिता केवल अल्पकालिक समाधान थी। इस इकाई के अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि रूढ़िवादी युग ने यूरोप में स्थिरता प्रदान की, लेकिन सामाजिक और राजनीतिक बदलावों को पूरी तरह से रोक नहीं पाया।

1.9 शब्दावली

रूढ़िवादिता (Conservatism) – राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण जिसमें पारंपरिक संस्थाओं, जैसे राजतंत्र और चर्च, की रक्षा और स्थिरता बनाए रखने पर जोर दिया जाता है।

विएना काँग्रेस (Congress of Vienna, 1814–15) – नेपोलियन युद्धों के बाद यूरोप की सीमाओं और राजतंत्रों को पुनर्स्थापित करने के लिए आयोजित एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन।

कंसर्ट ऑफ़ यूरोप (Concert of Europe) – विएना काँग्रेस के बाद स्थापित प्रमुख यूरोपीय शक्तियों का गठबंधन, जिसका उद्देश्य महाद्वीप में शांति और शक्ति संतुलन बनाए रखना था।

सत्ता संतुलन (Balance of Power) – अंतरराष्ट्रीय नीति की वह अवधारणा जिसमें कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली न हो कि अन्य राज्यों पर हावी हो सके।

नेपोलियन युद्ध (Napoleonic Wars, 1803–1815) – फ्रांस के नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा लड़े गए युद्ध, जिन्होंने पूरे यूरोप की राजनीति और सीमाओं को प्रभावित किया।

क्रांतिकारी आंदोलन (Revolutionary Movement) –सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक व्यवस्था में बड़े और अचानक बदलाव के लिए जनता द्वारा शुरू किया गया आंदोलन।

उदारवादी आंदोलन (Liberal Movement) – व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतंत्र और कानूनी समानता पर आधारित राजनीतिक और सामाजिक आंदोलन।

1.10 अभ्यास प्रश्न

1. मेटरनिख के नेतृत्व में स्थापित रूढ़िवादी व्यवस्था ने यूरोप में स्थिरता तो प्रदान की, लेकिन किस प्रकार यह उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों को दबाने का माध्यम भी बनी? विस्तृत रूप में वर्णन करें।

2. विएना काँग्रेस और कंसर्ट ऑफ़ यूरोप की नीतियों का यूरोप की राजनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर प्रभाव विस्तार से समझाएँ।

3. 1848 की क्रांतियों को ध्यान में रखते हुए यह बताएं कि रूढ़िवादी व्यवस्था क्यों केवल अल्पकालिक समाधान साबित हुई।

1.11 संदर्भ सूची

1. Mark Mazower, Governing the World: The History of an Idea, Penguin Books, 2012.
2. Paul W. Schroeder, The Transformation of European Politics 1763–1848, Oxford University Press, 1994.
3. Charles W. Ingrao, The Habsburg Monarchy, 1618–1815, Cambridge University Press, 2000.
4. Klemens von Metternich, Metternich: Memoirs 1773–1815, London: Henry Holt, 1898.
5. F. L. Carsten, Metternich and the European Order, London: Macmillan, 1971.
6. R. J. W. Evans, The Pursuit of Power: Europe 1815–1914, Penguin Books, 2016.
7. Derek Beales, Europe in the Age of Metternich, Longman, 1992.
8. J. C. Robertson, Europe after Napoleon: A New Political Order, Routledge, 2010.
9. Henry Kissinger, A World Restored: Metternich, Castlereagh and the Problems of Peace 1812–22, Houghton Mifflin, 1957.
10. A. J. P. Taylor, The Struggle for Mastery in Europe 1848–1918, Oxford University Press, 1954.

इकाई दो

1830 एवं 1848 की फ्रांसीसी क्रांतियाँ

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 1815 के बाद फ्रांस की राजनीतिक स्थिति

2.2.1 नेपोलियन का पतन और वियना की संधि

2. 2.2 बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना

2. 2.3 लुई अठारह (Louis XVIII) का शासन

2. 2.4 चार्ल्स दशम (Charles X) की नीतियाँ

2. 2.5 उदारवाद और राष्ट्रवाद की उभरती धाराएँ

2.3 1830 की फ्रांसीसी क्रांति

2.3.1 क्रांति की पृष्ठभूमि

2. 3.2 चार्ल्स X के दमनकारी अध्यादेश

2. 3.3 तीन गौरवशाली दिवस (The Three Glorious Days)

2. 3.4 क्रांति में उदारवादी, गणतंत्रवादी और मजदूर वर्ग की भूमिका

2. 3.5 लुई फिलिप का सत्ता ग्रहण – "नागरिक राजा" (Citizen King)

2. 3.6 1830 की क्रांति के परिणाम और महत्व

2.4 1830 की क्रांति का यूरोप पर प्रभाव

2.4.1 बेल्जियम की स्वतंत्रता

2.4.2 पोलैंड का राष्ट्रीय विद्रोह

2.4.3 इटली और जर्मनी में उदारवादी आंदोलन

2.4.4 यूरोप में राष्ट्रवाद का पुनर्जागरण

2.4.5 1830 क्रांति का वैचारिक महत्व

2.5 1848 की क्रांति-पृष्ठभूमि एवं कारण

2.5.1 सामाजिक–आर्थिक स्थिति

2.5.2 औद्योगिक क्रांति का प्रभाव

2.5.3 खाद्य संकट एवं बेरोज़गारी

2.5.4 उदारवादी और समाजवादी विचारधाराओं का विकास

2.5.5 लुई फिलिप की विफलताएँ

2.6 1848 की फ्रांसीसी क्रांति—मुख्य घटनाएँ

2.6.1 फरवरी 1848: विद्रोह का आरंभ

2.6.2 द्वितीय गणराज्य की स्थापना

2.6.3 राष्ट्रीय कार्यशालाओं (National Workshops) की स्थापना

2.6.4 जून विद्रोह और उसका दमन

2.6.5 लुई नेपोलियन बोनापार्ट का उदय

2.6.6 1848 की क्रांति का अंत

2.7 1848 की क्रांति के परिणाम और प्रभाव

2.7.1 फ्रांस में शासन-व्यवस्था का परिवर्तन

2.7.2 यूरोप में 1848 की लहर (The Springtime of Nations)

2.7.3 समाजवादी एवं उदारवादी विचारधारा का प्रसार

2.7.4 राष्ट्रवाद का व्यापक उदय

2.7.5 1848 की क्रांति की असफलताएँ और सीमाएँ

2.8 सारांश

2.9 मुख्य शब्दावली

2.10 संदर्भ-ग्रंथ सूची

2.11 प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

1815 से 1848 का काल यूरोपीय इतिहास में गहन राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक उथल-पुथल का युग माना जाता है। नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप में 'वैधानिकता' और 'स्थायित्व' की स्थापना के उद्देश्य से वियना की संधि ने पुराने राजवंशों को पुनर्स्थापित किया, परंतु यह व्यवस्था आधुनिक युग की उभरती शक्तियों यथा उदारवाद, राष्ट्रवाद, और जनाधिकारों की चेतना के साथ सामंजस्य नहीं बिठा सकी। फ्रांस, जो 1789 की महान क्रांति का केंद्र था, इस संघर्ष का नेतृत्व करने वाली प्रमुख शक्ति बना रहा। यहाँ 1830 और 1848 की दो महत्त्वपूर्ण क्रांतियाँ हुई, जिन्होंने न केवल फ्रांस के राजनीतिक ढाँचे को परिवर्तित किया, बल्कि समूचे यूरोप को वैचारिक रूप से प्रभावित किया।

1830 की क्रांति पुरानी सामंती राजसत्ता के विरुद्ध नागरिक अधिकारों के संघर्ष का परिणाम थी। बुर्बो वंश के पुनर्स्थापित सम्राटों ने प्रशासनिक और राजनीतिक नियंत्रण अपने हाथों में रखने का लगातार प्रयास किया, जिसके कारण उदारवादियों, मध्यमवर्ग और नगर-निवासियों में असंतोष बढ़ता गया। इस असंतोष का विस्फोट जुलाई 1830 में 'तीन गौरवशाली दिवस' के रूप में हुआ, जिसने चार्ल्स X की राजसत्ता का अंत कर दिया और 'नागरिक राजा' लुई फिलिप को सत्ता में स्थापित किया।

1848 की क्रांति, सामाजिक-आर्थिक संकट, औद्योगिक परिवर्तन, बेरोजगारी और राजनीतिक अधिकारों से वंचित मध्यवर्ग एवं श्रमिक वर्ग के असंतोष का परिणाम थी। इसमें समाजवादी विचारधारा का उदय हुआ और श्रमिक वर्ग ने पहली बार व्यापक राजनीतिक भूमिका निभाई। यह क्रांति केवल फ्रांस तक सीमित नहीं रही बल्कि यह लहर पूरे यूरोप में फैल गई, जिसे 'राष्ट्रों का वसंत' कहा गया।

इन दोनों क्रांतियों ने यूरोप में स्वतंत्रता, लोकतंत्र, संवैधानिक शासन और राष्ट्रवाद की धाराओं को नई दिशा दी। इनके माध्यम से यह स्पष्ट हो गया कि जनता राजनीतिक अधिकारों और सहभागी शासन के बिना निरंकुशता को स्वीकार नहीं करेगी। । अंततः, फ्रांस की 1830 और 1848 की क्रांतियाँ आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था की नींव रखने वाली निर्णायक घटनाएँ सिद्ध हुईं। ये यूरोप में वैचारिक परिवर्तन और राजनीतिक पुनर्गठन के स्रोत बनीं। इन क्रांतियों के कारण यूरोप में संवैधानिकता, नागरिक अधिकारों और राष्ट्रवाद की धारा स्थिर रूप से स्थापित हुई।

2.1 उद्देश्य

- इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य छात्रों को 1815 से 1848 के मध्य फ्रांस में घटित राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों की गहन समझ प्रदान करना है।
- विद्यार्थी 1830 और 1848 की क्रांतियों के कारणों, पृष्ठभूमि और घटनाक्रम को क्रमबद्ध रूप में समझ सकेंगे।
- छात्र इन दोनों क्रांतियों के परिणामों और प्रभावों का विवेचनात्मक अध्ययन कर सकेंगे।

- विद्यार्थी समझ सकेंगे कि कैसे 1830 और 1848 की क्रांतियाँ यूरोप में राष्ट्रवाद, उदारवाद और लोकतंत्र के विकास की प्रेरणा बनीं।
- इस इकाई का उद्देश्य यह भी है कि छात्र दोनों क्रांतियों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकें। समानताओं और अंतरों की पहचान के साथ वे यह समझ सकेंगे कि यूरोपीय इतिहास में इन घटनाओं की क्या विशिष्ट भूमिका रही और कैसे ये आधुनिक राज्य-व्यवस्था के निर्माण का कारण बनीं।

2.2 1815 के बाद फ्रांस की राजनीतिक स्थिति

1815 में नेपोलियन बोनापार्ट की अंतिम पराजय के बाद फ्रांस में बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना हुई। वियना की संधि ने 'वैधानिकता' के सिद्धांत के आधार पर पुराने राजवंशों को पुनः शासन सौंप दिया। लेकिन यह व्यवस्था एक ऐसे समाज पर थोपी गई थी जो 1789 की क्रांति और नेपोलियन शासन के माध्यम से आधुनिक राजनीतिक चेतना ग्रहण कर चुका था। इससे राजसत्ता और जनता के बीच मतभेद बढ़ते गए। फ्रांस में राजनीतिक शक्तियाँ तीन प्रमुख गुटों में विभाजित थीं- उच्च राजभक्त (Ultras), संवैधानिक उदारवादी, और गणतंत्रवादी। उच्च राजभक्त बुर्बो राजवंश को पूर्व की तरह निरंकुश अधिकार देना चाहते थे। इसके विपरीत संवैधानिक उदारवादी संवैधानिक राजतंत्र और सीमित राजसत्ता के समर्थक थे। जबकि गणतंत्रवादी क्रांतिकारी परंपरा को पुनः जीवित कर एक लोकतांत्रिक गणतंत्र स्थापित करना चाहते थे।

नेपोलियन के पतन के बाद आरंभिक वर्षों में बुर्बो वंश ने प्रतिशोध की नीति अपनाई, जिसे 'श्वेत आतंक' कहा गया। राजभक्तों ने नेपोलियन समर्थकों और उदारवादियों के विरुद्ध दमन चलाया। इससे फ्रांसीसी समाज में राजनीतिक ध्रुवीकरण बढ़ा और राजसत्ता के प्रति अविश्वास गहराया। 1815–1830 के बीच फ्रांस में आर्थिक अस्थिरता और बेरोजगारी भी बढ़ी। युद्धों के कारण देश पर भारी कर्ज था और प्रशासनिक संरचना पुनर्गठन के दौर से गुजर रही थी। इससे मध्यवर्ग और व्यापारियों में असंतोष बढ़ने लगा, जो आगे चलकर 1830 की क्रांति का आधार बना। इन परिस्थितियों के कारण बुर्बो शासन और जनता के बीच टकराव अनिवार्य हो गया। उदारवादी और नागरिक समाज की शक्तियाँ धीरे-धीरे संगठित होने लगीं, और 1830 में यह असंतोष विस्फोट के रूप में सामने आया।

2.2.1 नेपोलियन का पतन और वियना की संधि

नेपोलियन की 1815 में वाटरलू की पराजय ने फ्रांस के इतिहास में एक युग का अंत कर दिया। नेपोलियन साम्राज्य की महत्वाकांक्षी विस्तारवादी नीतियों से यूरोप में व्यापक असंतोष उत्पन्न हो गया था। उसकी हार के बाद मित्र राष्ट्रों- ब्रिटेन, रूस, प्रशा और ऑस्ट्रिया- ने यूरोप का पुनर्गठन करने का निर्णय लिया। इसके लिए 1814–1815 में मेटरनिख की अध्यक्षता में यूरोप के शक्ति संतुलन को पुनर्स्थापित करने एवं पुरातन व्यवस्था को लागू करने के लिए वियना कांग्रेस आयोजित की गई। इस कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य यूरोप में 'शक्ति संतुलन' स्थापित करना और भविष्य में किसी भी एक राष्ट्र के प्रभुत्व को रोकना था। वियना की संधि ने फ्रांस में बुर्बो वंश के शासन को पुनर्स्थापित किया। यह व्यवस्था 'वैधानिकता' और 'स्थायित्व' के सिद्धांत पर आधारित थी। किन्तु

यह संधि आधुनिक राजनीतिक चेतना के विपरीत थी। फ्रांसीसी समाज ने 1789 की क्रांति और नेपोलियन के शासन के दौरान जो अधिकार और स्वतंत्रताएँ प्राप्त की थीं, वे अब पुनः सीमित कर दी गईं। इस संधि के कारण उदारवादी, गणतंत्रवादी और राष्ट्रवादी वर्ग में गहरा असंतोष उत्पन्न हुआ। वियना की संधि ने यूरोप में शांति स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन यह शांति दमन पर आधारित थी। फ्रांस में पुराने राजतंत्रीय मूल्यों के पुनर्जीवन की यह नीति आधुनिक विचारधाराओं से टकरा गई और अंततः 1830 की क्रांति की पृष्ठभूमि बन गई।

2.2.2 बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना

1815 में नेपोलियन की अंतिम पराजय के बाद फ्रांस में बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना यूरोपीय शक्तियों की सामूहिक राजनीतिक इच्छा का परिणाम थी। वियना की संधि के निर्माताओं का मानना था कि यूरोप में स्थिरता तभी आ सकती है जब पारंपरिक राजवंशों को पुनः उनका अधिकार लौटाया जाए। इसीलिए लुई सत्रहवें के पश्चात लुई अठारह को फ्रांस का शासक घोषित किया गया। यह पुनर्स्थापना केवल एक राजनीतिक परिवर्तन नहीं थी, बल्कि क्रांति-पूर्व व्यवस्था की पुनर्गठन की दिशा में एक निर्णायक कदम माना जाता है। बुर्बो वंश का पुनरागमन फ्रांसीसी समाज के लिए मिश्रित भावनाओं का कारण बना। एक ओर जनता लम्बे युद्धों से त्रस्त थी और स्थिरता चाहती थी, दूसरी ओर उसे भय था कि बुर्बो राजतंत्र कहीं क्रांति द्वारा प्राप्त अधिकारों को समाप्त न कर दे। जनता की यह चिंता असंगत नहीं थी, क्योंकि बुर्बो समर्थक वर्ग विशेषकर अल्ट्रा-रॉयलिस्ट फ्रांस में 1789 से पहले की निरंकुश व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। पुनर्स्थापना काल में 'श्वेत आतंक' (White Terror) की घटनाएँ सामने आईं, जिसमें नेपोलियन समर्थकों, क्रांतिकारियों और उदारवादियों पर प्रतिशोधात्मक कार्रवाई की गई। बुर्बो समर्थक संगठनों और धार्मिक शक्तियों ने राजनीतिक विरोधियों पर दमन किया। इससे फ्रांस में राजनीतिक ध्रुवीकरण बढ़ा और बुर्बो शासन के प्रति अविश्वास गहरा होता गया। अंततः बुर्बो पुनर्स्थापना क्रांतिकारी युग के बाद उत्पन्न अपेक्षाओं के साथ तालमेल नहीं बैठा सकी। 1815-1830 के दौरान जनता, मध्यवर्ग और राजनीतिक उदारवादियों का असंतोष लगातार बढ़ता रहा। यही असंतोष 1830 की फ्रांसीसी क्रांति का मूल कारण बना और बुर्बो शासन का अंत हुआ।

2.2.3 लुई अठारह (Louis XVIII) का शासन

लुई अठारह ने फ्रांस की परिस्थितियों को देखते हुए अपेक्षाकृत व्यावहारिक शासन-पद्धति अपनाने का प्रयास किया। क्रांति तथा नेपोलियन काल के गहरे प्रभाव को समझते हुए उन्होंने पूर्ण निरंकुशता पुनर्स्थापित करने के बजाय संवैधानिक ढाँचे के भीतर शासन चलाने की नीति अपनाई। 1814 का चार्टर उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है, जिसने नागरिक स्वतंत्रता, विधायिका और विधिक समानता को स्वीकार किया। इससे फ्रांस में अस्थायी रूप से संतुलन स्थापित हुआ। हालाँकि, लुई अठारह स्वयं तो मध्यमार्गी थे, लेकिन उन पर अल्ट्रा-रॉयलिस्ट दबाव अत्यधिक था। संसद के उच्च सदन और मंत्रिमंडल में ऐसे राजभक्तों का प्रभाव बढ़ गया जिन्होंने पुरातन व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का लगातार प्रयास किया। इससे उदारवादियों और मध्यवर्ग में असंतोष फैलने लगा। विशेषकर प्रेस स्वतंत्रता पर नियंत्रण और पुलिस दमन से जनता में आक्रोश बढ़ा। लुई अठारह के शासनकाल में फ्रांस आर्थिक चुनौतियों से भी जूझ रहा था। नेपोलियन युद्धों के कारण भारी कर्ज और

महँगाई बढ़ गई थी। उद्योग एवं व्यापार धीमी गति से पुनर्स्थापित हो रहे थे। आर्थिक मंदी के कारण बेरोजगारी बढ़ी, जिससे सरकार की लोकप्रियता प्रभावित हुई। आर्थिक अस्थिरता राजनीतिक असंतोष को और बढ़ाने वाली सिद्ध हुई। राजा की उदार नीतियों और मंत्रिमंडल की दमनकारी नीतियों के बीच लगातार संघर्ष चलता रहा। कई बार उदारवादी सरकार बनी, परंतु अल्ट्रा-रॉयलिस्टों के विरोध के कारण वे लंबे समय तक नहीं टिक सकीं। इस राजनीतिक अस्थिरता ने फ्रांस को 1830 की ओर धकेलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

2.2.4 चार्ल्स दशम (Charles X) की नीतियाँ

लुई अठारह की 1824 में मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी चार्ल्स X बना, जो कि अत्यधिक रूढ़िवादी, राजभक्त और निरंकुशता के कट्टर समर्थक था। चार्ल्स X बुर्बो वंश का वह शासक था जिसने क्रांतिकारी युग के सभी सुधारों को नापसंद किया और 1789 से पूर्व की राजसत्ता को पुनर्जीवित करने का स्पष्ट प्रयास किया। वह अल्ट्रा-रॉयलिस्टों का प्रतिनिधि था और शाही अधिकारों को 'दैवीय अधिकार' के रूप में प्रस्तुत करता था। इस कारण उसके शासनकाल की शुरुआत से ही फ्रांसीसी समाज में तनाव बढ़ने लगा। चार्ल्स X ने चर्च और अभिजात वर्ग को विशेष संरक्षण दिया। उसने चर्च के प्रभाव को बढ़ाने तथा सामंती भूमि-अधिकारों की आंशिक बहाली के प्रयास किए। इससे किसान और मध्यम वर्ग दोनों नाराज हुए। यह नीति फ्रांस के सामाजिक ढाँचे को पीछे की ओर ले जाने वाली मानी गई और जनता इसे आधुनिक राजनीतिक चेतना के विरुद्ध समझती थी। उसने प्रेस पर कठोर नियंत्रण स्थापित किया और संसद की शक्तियों को सीमित करने का प्रयास किया। उदारवादी पत्रकारों एवं नेताओं को दमन का सामना करना पड़ा। प्रेस सेंसरशिप कानूनों ने बुद्धिजीवियों और छात्रों में विद्रोह की भावना को जन्म दिया। इन नीतियों के कारण चार्ल्स X की लोकप्रियता तेजी से घटती गई। 1829 में चार्ल्स X ने पोलिग्नाक नामक कट्टर राजभक्त को प्रधानमंत्री नियुक्त किया, जिसने दमन को और बढ़ा दिया। संसद ने इस निर्णय का कड़ा विरोध किया, लेकिन राजा ने अपनी निरंकुशता जारी रखी। 1830 में उसने 'जुलाई अध्यादेश' (July Ordinances) जारी किए, जो सीधे-सीधे संविधान का उल्लंघन थे और प्रेस तथा चुनाव प्रणाली पर कठोर प्रतिबंध लगाते थे। इन अध्यादेशों ने जनता में विस्फोटक असंतोष पैदा किया। अंततः चार्ल्स X की दमनकारी नीतियों ने 1830 की फ्रांसीसी क्रांति को जन्म दिया। वह क्रांति के सामने टिक नहीं सका और उसे सत्ता छोड़कर देश से भागना पड़ा। इस प्रकार चार्ल्स X की नीतियाँ 1830 की क्रांति का तत्काल कारण सिद्ध हुईं।

2.2.5 उदारवाद और राष्ट्रवाद की उभरती धाराएँ

1815 के बाद फ्रांस में उदारवाद एक सशक्त राजनीतिक विचारधारा के रूप में उभरने लगा। उदारवादियों का मानना था कि राजसत्ता को संविधान द्वारा सीमित होना चाहिए और जनता को शासन में भागीदारी का अधिकार होना चाहिए। व्यापारियों, मध्यवर्ग, अकादमिकों और पत्रकारों के बीच यह विचार तेजी से लोकप्रिय हुआ। वे प्रेस स्वतंत्रता, विधिक समानता, प्रतिनिधि सरकार और नागरिक अधिकारों को अनिवार्य मानते थे। राष्ट्रवाद की धारा भी इसी काल में पुनर्जीवित हुई। 1789 की क्रांति और नेपोलियन के युग में विकसित राष्ट्रवादी भावनाएँ 1815 के बाद भी फ्रांस में सक्रिय रहीं। वियना की संधि द्वारा फ्रांस को सीमित करने और पुराने राजवंशों को पुनर्स्थापित करने से राष्ट्रवादी असंतोष बढ़ा। फ्रांसीसी जनता स्वयं को एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में देखती

थी, जिसे राजनीतिक स्वतंत्रता और गरिमा चाहिए। इसलिए बुर्बो वंश की रूढ़िवादी नीतियाँ राष्ट्रवादी आकांक्षाओं से टकरा गईं। उदारवाद और राष्ट्रवाद दोनों ने शिक्षित वर्ग और मध्यवर्ग में नई जागृति पैदा की। विश्वविद्यालयों, पत्र–पत्रिकाओं और पुस्तकालयों में आधुनिक विचारों का प्रसार हुआ। यह समय यूरोपीय राजनीतिक विचारों के विकास का भी था- लॉक, मोंटेस्क्यू, रूसो तथा बाद में मिल जैसे विचारकों के सिद्धांतों का प्रभाव फ्रांसीसी समाज पर गहराने लगा। युवाओं, विद्यार्थियों और पेशेवर वर्ग के बीच राजनीतिक क्लबों तथा विवाद सभाओं में इन विचारों का प्रसार हुआ। ये विचार केवल सिद्धांत नहीं थे, बल्कि सामन्ती दमन और निरंकुशता के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध का आधार बन रहे थे। इसी सामाजिक चेतना ने 1830 की क्रांति को वैचारिक आधार दिया। समग्रतः उदारवाद एवं राष्ट्रवाद की उभरती धाराएँ फ्रांस में आधुनिक राजनीतिक संस्कृति की नींव बन गईं। इन विचारों ने न केवल 1830 की क्रांति को प्रेरित किया, बल्कि आगे चलकर 1848 की क्रांति और यूरोपीय राष्ट्रीय आंदोलनों में भी निर्णायक भूमिका निभाई।

2.3 1830 की फ्रांसीसी क्रांति

1830 की फ्रांसीसी क्रांति उन्नीसवीं शताब्दी में उदारवाद, राष्ट्रवाद और आधुनिक राजनीतिक चेतना के उभार का प्रतीक मानी जाती है। यह क्रांति मुख्यतः बुर्बो वंश की दमनकारी नीतियों, जन-असंतोष और मध्यवर्ग की बढ़ती राजनीतिक आकांक्षाओं का परिणाम थी। इतिहास के कुछ लेखक इसे राजा द्वारा की गई क्रान्ति "राजपलटी" कहकर भी संबोधित करते हैं क्योंकि चार्ल्स दशम इससे पहले हुई क्रान्ति की भीषणता ओर खून खराबे को भूलकर पुनः फ्रांस में सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दियों के शासकों के सामान निरंकुश सत्ता स्थापित करने का हिमायती था। 1815 के बाद फ्रांस में पुरातन व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का जो प्रयास किया गया था, वह आधुनिक और क्रांतिकारी विचारों से असंगत था। जनता, विशेषकर मध्यवर्ग, पत्रकार, छात्र और मजदूर; सभी इस व्यवस्था से असंतुष्ट थे। क्रांति के उद्भव में चार्ल्स X की गलत नीतियों का विशेष योगदान रहा। उसने संसद की शक्तियों को सीमित कर दिया, प्रेस पर कठोर नियंत्रण लगाया तथा 1830 में दमनकारी अध्यादेश जारी किए, जिसने जनता के धैर्य की सीमा तोड़ दी। राजनीतिक अधिकारों को कम करने और अभिजात वर्ग तथा चर्च को पुनः विशेषाधिकार देने की नीतियों ने सामाजिक तनाव को बढ़ाया। यह असंतोष क्रांति की भूमि तैयार कर रहा था।

1830 की क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि इसका आधार वर्ग-चेतना और आधुनिक राजनीतिक विचारधारा में निहित था। उदारवादियों को संविधानसम्मत सरकार चाहिए थी, जबकि मजदूर वर्ग आर्थिक कठिनाइयों और बेरोज़गारी से जूझ रहा था। गणतंत्रवादी गुट पूर्ण राजशाही के अंत की माँग कर रहा था। इन विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच असंतोष तो अलग-अलग कारणों से था, लेकिन लक्ष्य था; राजसत्ता के निरंकुश स्वरूप को समाप्त करना। तीन गौरवशाली दिवस (27–29 जुलाई 1830) इस क्रांति का निर्णायक चरण था, जब जनता खुलकर सड़कों पर आ गई। पेरिस की सड़कों पर जनता और सेना के बीच संघर्ष हुआ, बैरिकेड्स बनाए गए और क्रांतिकारी नारे गूँजने लगे। अंततः राजसत्ता का दमन तंत्र ढह गया और चार्ल्स X को सत्ता छोड़कर देश से भागना पड़ा। इसने बुर्बो वंश के शासन का अंत कर दिया।

क्रांति के परिणामस्वरूप फ्रांस में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई और लुई फिलिप "नागरिक राजा" के रूप में सत्तासीन हुए। इस क्रांति ने न केवल फ्रांस में राजनीतिक परिवर्तन किया, बल्कि यूरोप भर में उदारवाद

और राष्ट्रवाद की नई लहरें उत्पन्न कीं। इस प्रकार 1830 की क्रांति यूरोपीय आधुनिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुई।

2.3.1 क्रांति की पृष्ठभूमि

1830 की क्रांति की पृष्ठभूमि 1815 के बाद की फ्रांसीसी राजनीतिक अस्थिरता में निहित थी। बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना के साथ ही अभिजात वर्ग और चर्च पुनः शक्तिशाली हो गए थे। दूसरी ओर, क्रांति और नेपोलियन युग के दौरान विकसित नागरिक स्वतंत्रता, समानता और राजनीतिक जागरूकता की धारा समाज में गहराई तक पहुँच चुकी थी। इस संघर्ष ने फ्रांस को विचारधारात्मक रूप से विभाजित कर दिया। लुई अठारह के मध्यमार्गी शासन के बावजूद, अल्ट्रा-रॉयलिस्टों का प्रभाव लगातार बढ़ा और उन्होंने संविधान द्वारा प्रदान की गई स्वतंत्रताओं को सीमित करने की कोशिश की। उसकी मृत्यु के बाद चार्ल्स X ने सत्ता संभाली, जो अत्यधिक रूढ़िवादी और दमनकारी नीतियों का समर्थक था। उसने प्रेस पर नियंत्रण, संसद के अधिकारों में कटौती और चर्च के प्रभाव को बढ़ावा देने जैसी नीतियाँ अपनाईं। इससे उदारवादी वर्ग और सामान्य जनता में व्यापक असंतोष फैल गया। आर्थिक परिस्थितियाँ भी खराब थीं। व्यापार में मंदी, बेरोज़गारी और महँगाई ने स्थिति को और जटिल कर दिया। इस राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक असंतोष ने मिलकर क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार की। इस प्रकार 1830 की क्रांति आकस्मिक नहीं, बल्कि लंबे समय से संचयित जन-असंतोष का परिणाम थी।

2.3.2 चार्ल्स X के दमनकारी अध्यादेश

1830 में चार्ल्स X ने प्रेस और जन-प्रतिनिधित्व को नियंत्रित करने हेतु जुलाई अध्यादेश (July Ordinances) जारी किए, जिन्हें क्रांति का तात्कालिक कारण माना जाता है। इन अध्यादेशों में प्रेस की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया गया और बिना सरकारी अनुमति कोई भी समाचार प्रकाशित करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इससे स्वतंत्र पत्रकारिता और उदारवादी राजनीतिक गतिविधियाँ लगभग ठप हो गईं। दूसरा, चुनाव व्यवस्था में बड़े बदलाव किए गए। मतदान के अधिकार को अत्यधिक सीमित कर दिया गया और केवल उच्च-करदाता एवं अभिजात वर्ग को ही मताधिकार दिया गया। इससे मध्यवर्ग की राजनीतिक भूमिका लगभग समाप्त हो गई। नई संसद का गठन भी राजा की इच्छा के अधीन कर दिया गया, जिससे प्रतिनिधि शासन की अवधारणा को गहरी चोट लगी। ये अध्यादेश संविधान का खुला उल्लंघन थे, जिसने जनता और राजनीतिक नेताओं में तीव्र असंतोष पैदा किया। पत्रकारों ने खुलकर विरोध किया, विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किए और पेरिस की सड़कों पर विद्रोही माहौल पैदा हो गया। यही अध्यादेश जुलाई 1830 के तीन गौरवशाली दिवसों की चिंगारी बने।

2.3.3 तीन गौरवशाली दिवस (The Three Glorious Days)

27 से 29 जुलाई 1830 तक चले तीन गौरवशाली दिवस फ्रांसीसी क्रांति 1830 का केंद्रीय चरण थे। प्रेस प्रतिबंध के विरोध में पत्रकारों और विद्यार्थियों ने सबसे पहले प्रदर्शन शुरू किया। जल्द ही यह आंदोलन विभिन्न सामाजिक वर्गों तक फैल गया। पुलिस और सेना द्वारा बल प्रयोग के बाद जनता ने बैरिकेड्स खड़े कर दिए और पेरिस की सड़कों को युद्धभूमि में बदल दिया। संघर्ष लगातार तीव्र होता गया। मजदूर, नागरिक मिलिशिया और

उदारवादी समूह संगठित होकर शाही सेना के विरुद्ध लड़ने लगे। पेरिस के कई महत्वपूर्ण स्थान विद्रोहियों के हाथों में आ गए। जनता के उत्साह और अप्रत्याशित प्रतिरोध से राजतंत्र की शक्ति कमजोर पड़ने लगी। अंततः 29 जुलाई को विद्रोहियों ने निर्णायक सफलता प्राप्त की। शाही सेना पीछे हट गई और चार्ल्स X को देश छोड़कर भागना पड़ा। इन तीन दिनों ने न केवल बुर्बो शासन का अंत किया, बल्कि यह सिद्ध किया कि जनता संगठित होकर निरंकुश सत्ता को चुनौती दे सकती है।

2.3.4 क्रांति में उदारवादी, गणतंत्रवादी और मजदूर वर्ग की भूमिका

इस क्रांति में विभिन्न सामाजिक वर्गों की भूमिका महत्वपूर्ण और विशिष्ट थी। उदारवादियों का लक्ष्य एक संवैधानिक, सीमित राजतंत्र स्थापित करना था। वे प्रेस स्वतंत्रता, प्रतिनिधि सरकार और नागरिक अधिकारों की रक्षा चाहते थे। उदारवादी व्यापारियों, वकीलों, शिक्षकों और पत्रकारों ने आंदोलन को दिशा देने में प्रमुख योगदान दिया। गणतंत्रवादी समूह राजशाही की पूर्ण समाप्ति की माँग कर रहे थे। उनका मानना था कि केवल गणराज्य ही जनता की वास्तविक आकांक्षाओं को पूरा कर सकता है। विद्यार्थियों और युवा बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा इस विचार से प्रभावित था। उनके प्रदर्शन और सड़कों पर संगठित प्रतिरोध ने जन-उभार को गति दी। मजदूर वर्ग ने आंदोलन को जन-आधार प्रदान किया। आर्थिक कठिनाइयों, बेरोज़गारी और महँगाई ने उन्हें आंदोलित किया। बैरिकेड्स बनाने, संघर्ष करने और पेरिस की सड़कों पर निर्णायक लड़ाई लड़ने में मजदूर वर्ग की भूमिका सबसे सक्रिय रही। इन तीनों वर्गों के संयुक्त प्रयासों ने 1830 की क्रांति को सफल बनाया।

2.3.5 लुई फिलिप का सत्ता ग्रहण – "नागरिक राजा" (Citizen King)

चार्ल्स X के पतन के बाद सत्ता का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण बन गया। उदारवादियों ने गणराज्य की स्थापना के बजाय एक संवैधानिक राजतंत्र को अधिक व्यावहारिक विकल्प माना। इस संदर्भ में ऑरलियॉ परिवार के लुई फिलिप को सिंहासन के लिए उपयुक्त माना गया, जो अपेक्षाकृत उदार, आधुनिक और मध्यम वर्ग के हितों के समर्थक माने जाते थे। लुई फिलिप ने 'नागरिक राजा' की उपाधि ग्रहण की, जिसका अर्थ था कि वह जनता की इच्छाओं के अनुरूप शासन करने का वचन देते हैं। उन्होंने शाही विशेषाधिकारों को कम किया, मध्यवर्ग को अधिक अधिकार दिए और संविधान में सुधार किए। उनका शासन व्यापारी और उदारवादी वर्ग के हितों को बढ़ावा देने वाला माना गया। हालाँकि, मजदूर वर्ग और गणतंत्रवादियों को यह परिवर्तन अधूरा लगा। यद्यपि लुई फिलिप ने कई उदार नीतियाँ अपनाईं, परंतु उनका शासन धीरे-धीरे मध्यवर्गीय हितों का संरक्षक बन गया। यही कारण था कि उनके शासनकाल के अंत में 1848 की एक और महत्त्वपूर्ण क्रांति का जन्म हुआ।

2.3.6 1830 की क्रांति के परिणाम और महत्व

1830 की क्रांति का सबसे बड़ा परिणाम था, बुर्बो वंश का अंत और संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना। इससे फ्रांस में राजनीतिक सत्ता का केंद्र अभिजात वर्ग से हटकर मध्यवर्ग की ओर स्थानांतरित हुआ। यह परिवर्तन आधुनिक लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। राजनीतिक रूप से, प्रेस की स्वतंत्रता बहाल की गई, मताधिकार का विस्तार हुआ और संसद की शक्तियाँ बढ़ाई गईं। नए शासन ने

'संवैधानिकता' और 'जन-प्रतिनिधित्व' को शासन के मूल सिद्धांतों के रूप में स्वीकार किया। यह परिवर्तन फ्रांस के उदारवादी वर्ग के लिए बड़ी उपलब्धि थी।

आर्थिक दृष्टि से, मध्यवर्ग ने व्यापार, उद्योग और प्रशासन पर अधिक नियंत्रण स्थापित किया। लुई फिलिप का शासन मध्यवर्गीय पूँजीवाद के विकास को बढ़ावा देने वाला रहा, जिससे फ्रांस में औद्योगिक विस्तार की गति तेज हुई। हालांकि मजदूर वर्ग की समस्याएँ बड़ी हद तक अनसुलझी रहीं।

इस क्रान्ति के सामाजिक प्रभाव भी महत्त्वपूर्ण थे। क्रांति ने जनता में नागरिक चेतना और राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ाई। छात्रों, पत्रकारों और मजदूरों में संगठित प्रतिरोध की भावना पैदा हुई, जिसने आगे चलकर 1848 की क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, 1830 की फ्रांसीसी क्रांति ने यूरोप में उदारवादी और राष्ट्रवादी आंदोलनों को पुनर्जीवित किया। बेल्जियम, पोलैंड, जर्मनी और इटली में स्वतंत्रता एवं एकता के लिए नए आंदोलन शुरू हुए। इसलिए यह क्रांति केवल फ्रांस तक सीमित नहीं रही, बल्कि यूरोपीय इतिहास में परिवर्तन की व्यापक प्रक्रिया का हिस्सा बन गई।

2.4 1830 की क्रांति का यूरोप पर प्रभाव

1830 की फ्रांसीसी क्रांति केवल फ्रांस तक सीमित नहीं रही, बल्कि पूरे यूरोप में इसके व्यापक प्रभाव दिखाई दिए। फ्रांस यूरोपीय राजनीति में विचारों और आंदोलनों का केंद्र था, इसलिए वहाँ होने वाले परिवर्तन स्वाभाविक रूप से अन्य देशों तक पहुँचते थे। जुलाई क्रांति ने यह सिद्ध किया कि दमनकारी राजशाही के विरुद्ध जनता सशक्त रूप से खड़ी हो सकती है और अपनी राजनीतिक इच्छाशक्ति को स्थापित कर सकती है। फलस्वरूप, यूरोप के अन्य भागों में भी जनता ने राजतंत्र की कठोर नीतियों के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा प्राप्त की।

यूरोप में 1815 के बाद से स्थापित "वियना व्यवस्था" का उद्देश्य राजतंत्रीय शक्ति को पुनः स्थापित करना और उदारवादी-राष्ट्रवादी विचारों को दबाना था। किंतु 1830 की क्रांति ने इस व्यवस्था की स्थिरता को चुनौती दी। रूस, ऑस्ट्रिया और प्रशा जैसे देशों द्वारा स्थापित रूढ़िवादी राजनीतिक ढाँचा जनता के बढ़ते राजनीतिक चेतना के सामने कमजोर दिखाई पड़ने लगा। 1830 का विद्रोह वियना व्यवस्था के विरुद्ध पहला बड़ा, स्पष्ट और प्रभावकारी झटका था। क्रांति के बाद बेल्जियम, पोलैंड, जर्मनी और इटली जैसे देशों में नई राजनीतिक लहर उठी। उदारवादियों और राष्ट्रवादियों ने फ्रांस के उदाहरण को एक प्रेरणा स्रोत के रूप में अपनाया। उन्होंने समझा कि यदि फ्रांस में राजशाही को जन आंदोलन के द्वारा सीमित किया जा सकता है, तो यह परिवर्तन अन्य देशों में भी संभव है। इसलिए 1830 के बाद यूरोप के विभिन्न हिस्सों में स्वतंत्रता, प्रतिनिधिक शासन और राष्ट्रीय एकता की मांग तेज हो गई।

इसके अलावा, 1830 की क्रांति ने विचारधारा के स्तर पर एक नई ऊर्जा का संचार किया। लोकतंत्र, जनाधिकार, प्रेस की स्वतंत्रता और संवैधानिक शासन जैसे सिद्धांतों को व्यापक जनसमर्थन प्राप्त हुआ। बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, छात्रों और मध्यवर्ग ने इन विचारों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इससे यूरोप में आधुनिक राजनीतिक चेतना का विस्तार हुआ और शासन व्यवस्था के बारे में जनता की अपेक्षाएँ बढ़ीं। अंततः 1830 की क्रांति ने यूरोप में उस उथल-पुथल की नींव रखी जिसने आगे चलकर 1848 की महान क्रांति को जन्म

दिया। इस प्रकार, जुलाई क्रांति ने राजनीतिक रूप से एक नए युग, उदारवाद, राष्ट्रवाद और जनता की राजनीतिक भागीदारी के युग की शुरुआत की।

2.4.1 बेल्जियम की स्वतंत्रता

1830 में फ्रांस की क्रांति का सीधा प्रभाव बेल्जियम पर पड़ा। नेपोलियन-युग के बाद वियना की संधि ने बेल्जियम को नीदरलैंड्स के अधीन कर दिया था, जबकि बेल्जियम की सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई पहचान अलग थी। इस मजबूर राजनीतिक एकीकरण के कारण बेल्जियम में असंतोष लगातार बढ़ रहा था। फ्रांस की जुलाई क्रांति ने बेल्जियम के राष्ट्रवादियों को प्रेरित किया, और उन्होंने अगस्त 1830 में विद्रोह कर दिया। विद्रोह तेजी से देशभर में फैल गया, जिसके परिणामस्वरूप नवंबर 1830 में बेल्जियम ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। यूरोपीय शक्तियों ने अंततः 1831 में बेल्जियम को एक स्वतंत्र और तटस्थ राज्य के रूप में मान्यता दी। इस प्रकार, यूरोप में पहली सफल राष्ट्रीय स्वतंत्रता 1830 की फ्रांसीसी क्रांति का महत्वपूर्ण प्रतिफल थी।

2.4.2 पोलैंड का राष्ट्रीय विद्रोह

फ्रांस की क्रांति ने पोलैंड के देशभक्त युवाओं और सैनिकों को भी प्रभावित किया। पोलैंड उस समय रूसी साम्राज्य के अधीन था और वहाँ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता पर कठोर प्रतिबंध थे। नवंबर 1830 में पोलिश छात्रों और सैनिकों ने राष्ट्रीय विद्रोह आरंभ किया, जिसका उद्देश्य रूसी नियंत्रण से मुक्ति प्राप्त करना था। विद्रोह प्रारंभ में सफल रहा, लेकिन रूस विशाल सैन्य शक्ति के साथ हस्तक्षेप करता हुआ पोलैंड को पुनः अपने नियंत्रण में ले आया। विद्रोह असफल होने के बावजूद, इसने पोलिश राष्ट्रवाद को मजबूत किया और यूरोप में स्वतंत्रता आंदोलनों के प्रति सहानुभूति बढ़ाई। पोलैंड आने वाले दशकों में राष्ट्रवादी संघर्ष का प्रतीक बन गया।

2.4.3 इटली और जर्मनी में उदारवादी आंदोलन

इटली और जर्मनी, जो कई छोटे राज्यों में विभाजित थे, 1830 की क्रांति के बाद राजनीतिक रूप से सक्रिय हो उठे। इटली में कार्बोनेरी जैसे गुप्त समाजों ने क्रांतिकारी गतिविधियाँ तेज कर दीं। इटली के विभिन्न क्षेत्रों में संवैधानिक शासन और विदेशी शासन से मुक्ति की मांग के साथ विद्रोह हुए, यद्यपि ऑस्ट्रिया ने अधिकांश को दबा दिया। लेकिन इससे इटली के एकीकरण आंदोलन को नई वैचारिक शक्ति मिली।

जर्मनी में भी छात्र संगठनों और उदारवादियों ने प्रेस की स्वतंत्रता, संवैधानिक शासन और राजनीतिक एकता की मांग उठाई। यद्यपि जर्मन राजकुमारों ने आंदोलनों को कठोरता से दबाया, लेकिन 1830 के बाद जर्मन राष्ट्रवाद और राजनीतिक एकता की चेतना अधिक प्रबल हो गई। यह चेतना आगे चलकर 1848 की क्रांति और अंततः जर्मनी के एकीकरण का आधार बनी।

2.4.4 यूरोप में राष्ट्रवाद का पुनर्जागरण

1830 की क्रांति ने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रवादी आंदोलन केवल विचारों तक सीमित नहीं रहते, बल्कि राजनीतिक परिवर्तन की शक्ति रखते हैं। फ्रांस की घटनाओं ने यूरोप के अलग-अलग क्षेत्रों में राष्ट्रीय चेतना को पुनर्जीवित किया। लोगों ने महसूस किया कि भाषा, संस्कृति और क्षेत्रीय पहचान के आधार पर स्वतंत्र राष्ट्र-

राज्य की स्थापना संभव है। इस राष्ट्रवादी पुनर्जागरण का सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ कि यूरोप में पुरानी बहुराष्ट्रीय साम्राज्यवादी व्यवस्थाएँ, जैसे ऑस्ट्रिया, रूस और ओटोमन साम्राज्य अंदर से कमजोर पड़ने लगी। यह राष्ट्रवाद आगे चलकर 1848 की व्यापक यूरोपीय क्रांति का प्रेरक तत्व बन गया।

2.4.5 1830 क्रांति का वैचारिक महत्व

1830 की क्रांति ने यूरोपीय राजनीति में उदारवाद और जनसत्ता के सिद्धांतों को पुनर्जीवित किया। प्रेस की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति का अधिकार, संवैधानिकता, नागरिक अधिकार और प्रतिनिधिक शासन जैसे विचारों को मजबूत वैचारिक आधार मिला। इससे शासन की वैधता का आधार राजशाही नहीं, बल्कि जनता की इच्छा बनने लगा। इसके अतिरिक्त, 1830 की क्रांति ने बौद्धिक वर्गों लेखकों, दार्शनिकों और छात्रों को राजनीतिक ढाँचे की समीक्षा के लिए प्रेरित किया। इस वैचारिक उभार ने यूरोप को आधुनिकता की दिशा में आगे बढ़ाया और भविष्य की क्रांतियों, विशेषतः 1848 की क्रांति, के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

2.5 1848 की क्रांति - पृष्ठभूमि एवं कारण

1848 की फ्रांसीसी क्रांति यूरोप के इतिहास में एक व्यापक, बहुआयामी और निर्णायक घटना थी। यह केवल फ्रांस की राजनीतिक उथल-पुथल नहीं थी, बल्कि पूरे महाद्वीप में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक परिवर्तनों की एक संगठित परिणति थी। 1830 की क्रांति ने उदारवादी चेतना को तो मजबूत किया था, परंतु अगले दो दशकों में अनेक विरोधाभास, असमानताएँ और शासक वर्ग की नीतियाँ फिर से असंतोष की ज्वाला को भड़काने लगी। विशेषतः फ्रांस में "नागरिक राजा" लुई फिलिप का शासन प्रारंभ में उदारवादी प्रतीत हुआ, किंतु समय के साथ यह मध्यवर्ग तक सीमित होकर श्रमिक वर्ग की आवश्यकताओं को नज़रअंदाज़ करता चला गया।

1840 के दशक को यूरोपीय इतिहास में "कष्ट का दशक" (The Hungry Forties) कहा जाता है, क्योंकि इस समय आर्थिक मंदी, खाद्य संकट, बेरोज़गारी, मूल्य-वृद्धि और औद्योगिक क्षेत्रों में श्रमिक शोषण के स्तर बढ़ गए थे। इन परिस्थितियों ने सामान्य जनता की जीवन-स्थितियों को अत्यंत दयनीय बना दिया। फ्रांस का मजदूर वर्ग अपर्याप्त मजदूरी, लंबे कार्य-घंटों और असुरक्षित श्रम-परिस्थितियों से त्रस्त था, जबकि बेरोज़गारों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी। इस सामाजिक असंतोष ने राजनीतिक व्यवस्था के प्रति व्यापक अविश्वास उत्पन्न किया। दूसरी ओर, उदारवाद और समाजवाद दोनों विचारधाराएँ तेजी से विकसित हो रही थीं। उदारवादी मध्यवर्ग राजनीतिक सुधार, निर्वाचन व्यवस्था में विस्तार और प्रेस की स्वतंत्रता की मांग कर रहा था। वहीं समाजवादी विचारधाराओं ने औद्योगिक शोषण के विरुद्ध श्रमिकों को संगठित करने की नींव रखी। सेंट-सिमोन, फूरिये और ओवेन जैसे समाजवादी चिंतकों के विचारों ने मजदूर वर्ग के बीच नई चेतना उत्पन्न की, जिसने परिवर्तन की मांग को नई दिशा दी।

राजनीतिक स्तर पर लुई फिलिप का शासन रूढ़िवादी और संकीर्ण हितों वाला होता चला गया। सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हितों तक सीमित रही और आम जनता की समस्याओं को अनदेखा किया गया। चुनावों में संपत्ति आधारित प्रतिबंधों ने बड़ी आबादी को लोकतांत्रिक प्रक्रिया से बाहर कर दिया। सरकार का भ्रष्टाचार, प्रेस की

स्वतंत्रता पर नियंत्रण और जनवादी राजनीतिक सभाओं (Banquets) पर प्रतिबंध ने जनता को आक्रोशित कर दिया। इन सभी कारकों यथा- आर्थिक संकट, सामाजिक असमानता, राजनीतिक दमन और उभरती वैचारिक चेतना ने मिलकर 1848 की क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार की। यह क्रांति केवल तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया नहीं थी, बल्कि 1815 के बाद से जमा हो रहे विरोधाभासों का विस्फोटक रूप थी जिसने अंततः फ्रांस की शासन-व्यवस्था को पूर्णतः बदल दिया।

2.5.1 सामाजिक–आर्थिक स्थिति

1840 के दशक में फ्रांस में सामाजिक–आर्थिक असमानताएँ अत्यधिक बढ़ गई थीं। औद्योगीकरण के प्रारंभिक चरण में श्रमिकों का शोषण प्रमुख समस्या बन गई थी। मजदूर वर्ग अत्यंत कम मजदूरी, असुरक्षित कार्य-स्थितियों और लंबे कार्य-घंटों के बोझ तले दबा हुआ था। शहरीकरण के कारण जनसंख्या में वृद्धि हुई, लेकिन रोजगार के अवसर उसी अनुपात में नहीं बढ़े। इससे बेरोज़गारी और गरीबी में तेजी आई और शहरों में झुग्गी बस्तियों का विस्तार हुआ। वहीं दूसरी ओर मध्यम वर्ग (बुर्जुआ वर्ग) आर्थिक रूप से सशक्त तो हो गया था, परंतु उसकी राजनीतिक आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो रही थीं। संपत्ति और कराधान आधारित मताधिकार व्यवस्था के कारण केवल सीमित वर्ग को राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इस प्रकार, सामाजिक-आर्थिक असंतोष ने फ्रांस में शासन-विरोधी वातावरण तैयार किया, जिसने आगे चलकर क्रांति को जन्म दिया।

2.5.2 औद्योगिक क्रांति का प्रभाव

औद्योगिक क्रांति ने फ्रांस की आर्थिक संरचना को तो बदला, लेकिन सामाजिक तनाव भी बढ़ा दिए। मशीनों के प्रयोग से कुशल श्रमिकों का महत्व घटा और मजदूरी में गिरावट आई। इससे श्रमिक वर्ग में असुरक्षा की भावना बढ़ी। उत्पादन तो बढ़ा, परंतु श्रमिकों की जीवन-स्थिति नहीं सुधरी, जिससे वर्ग-संघर्ष गहरा हुआ। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक पूंजीवाद ने अमीर और गरीब के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया। पूँजीपति वर्ग अत्यधिक सम्पन्न होता गया, जबकि मजदूर वर्ग बुनियादी आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करता रहा। यही असमान विकास 1848 की क्रांति का एक प्रमुख आर्थिक कारण बना।

2.5.3 खाद्य संकट एवं बेरोज़गारी

1845–47 के बीच यूरोप में खराब फसलों ने व्यापक खाद्य संकट उत्पन्न कर दिया। फ्रांस में गेहूँ और आलू की पैदावार घटने से खाद्य पदार्थों के मूल्य अचानक बढ़ गए। जनता की क्रय-शक्ति सीमित थी, इसलिए सामान्य वर्ग पर इस संकट का सीधा प्रभाव पड़ा। भूख, कुपोषण और भुखमरी जैसी स्थितियाँ उत्पन्न होने लगीं। औद्योगिक क्षेत्रों में भी मंदी फैल गई। कारखाने बंद होने लगे और बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी बढ़ी। बेरोज़गार श्रमिकों और कुपोषित जनता की पीड़ा ने क्रांति की आग को हवा दी। आर्थिक संकट ने जनता को यह विश्वास दिलाया कि राजनीतिक परिवर्तन के बिना उनकी स्थिति में सुधार संभव नहीं है।

2.5.4 उदारवादी और समाजवादी विचारधाराओं का विकास

1840 के दशक में फ्रांस में उदारवादी और समाजवादी दोनों धाराएँ तेजी से उभर रही थीं। उदारवादी मध्यवर्ग राजनीतिक अधिकारों का विस्तार, संसदीय सुधार और प्रेस की स्वतंत्रता की मांग कर रहा था। उनका मानना था कि राजनीतिक प्रणाली का लोकतांत्रिक रूपांतरण सामाजिक स्थिरता के लिए आवश्यक है। समाजवादी विचारधारा ने श्रमिकों को संगठित किया और उन्हें वर्ग-संघर्ष की प्रकृति से परिचित कराया। सेंट-सिमोन, फूरिये, प्रूधो जैसे विचारकों ने श्रमिक शोषण की आलोचना की और उत्पादन तथा संपत्ति के वितरण में न्याय की मांग की। इन विचारों ने मजदूर वर्ग में नई चेतना उत्पन्न की, जो आगे चलकर 1848 की क्रांति की ऊर्जा बनी।

2.5.5 लुई फिलिप की विफलताएँ

लुई फिलिप का शासन प्रारंभ में उदारवादी माना गया, परंतु धीरे-धीरे यह मध्यवर्गीय हितों तक सीमित हो गया। "नागरिक राजा" होने का दावा करने वाला यह शासक जनता की समस्याओं से दूर होता चला गया। चुनाव प्रणाली में संपत्ति आधारित प्रतिबंधों ने बड़ी जनता को राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया। राजनीतिक दमन और सरकारी भ्रष्टाचार ने जनता का विश्वास पूरी तरह खत्म कर दिया। बैंकेट प्रणाली (एक राजनीतिक अभियान था, जो असल में गुप्त राजनीतिक भोजों की एक श्रृंखला थी, जिसका उद्देश्य राजा लुई-फिलिप के शासन के खिलाफ असंतोष व्यक्त करना और सार्वजनिक सभाओं पर लगे प्रतिबंधों को दरकिनार करना था) -राजनीतिक बैठकों पर प्रतिबंध लगाना जनता के आक्रोश का अंतिम कारण बना। इस प्रकार, लुई फिलिप की नीतियों और दमनकारी रवैये ने सीधे तौर पर 1848 की क्रांति को जन्म दिया।

2.6 1848 की फ्रांसीसी क्रांति - मुख्य घटनाएँ

1848 की क्रांति फ्रांस में अचानक उत्पन्न हुई घटना नहीं थी, बल्कि लंबे समय से चल रहे राजनीतिक दमन, आर्थिक संकट और सामाजिक असमानताओं का परिणाम थी। फरवरी 1848 में जब सरकार ने राजनीतिक बैंकेटों पर प्रतिबंध लगाया, तो यह जनता के लिए असहनीय हो गया और पेरिस की सड़कों पर तीव्र विरोध प्रदर्शन शुरू हो गया। छात्र, मजदूर, बुद्धिजीवी और उदारवादी सभी एकजुट होकर सरकार के विरुद्ध संघर्ष में उतर आए। यह विद्रोह तेजी से एक व्यापक क्रांतिकारी आंदोलन में परिवर्तित हो गया। पेरिस में प्रदर्शनकारी भीड़ और सुरक्षा बलों के बीच संघर्ष होने लगा। 23 और 24 फरवरी को स्थिति अत्यंत तनावपूर्ण हो गई और राजमहल के चारों ओर क्रांतिकारी भीड़ ने घेरा डाल दिया। जनता की नाराज़गी और बढ़ते हिंसक संघर्ष को देखते हुए लुई फिलिप ने अंततः त्यागपत्र दे दिया और इंग्लैंड भाग गया। इस तरह, "नागरिक राजा" का शासन जो 1830 में उदारवादी वादों के साथ शुरू हुआ था, 1848 में जनता के क्रांतिकारक दबाव के सामने समाप्त हो गया।

लुई फिलिप के पतन के बाद सत्ता एक अनिश्चित स्थिति में थी। उदारवादी नेताओं, गणतंत्रवादियों और समाजवादियों के बीच नए शासन के स्वरूप को लेकर मतभेद थे, परंतु जनता की एकमत मांग थी कि एक नई गणतांत्रिक व्यवस्था स्थापित की जाए। इसे ध्यान में रखते हुए 25 फरवरी 1848 को द्वितीय गणराज्य की घोषणा कर दी गई। यह फ्रांस में राजनीतिक प्रयोगों और लोकतांत्रिक आकांक्षाओं का नया दौर था। द्वितीय गणराज्य ने कई महत्वपूर्ण सुधार किए; पुरुषों को सार्वभौमिक मताधिकार प्रदान किया, प्रेस की स्वतंत्रता बहाल की और

श्रमिकों की समस्याओं के समाधान हेतु राष्ट्रीय कार्यशालाओं की स्थापना की। हालांकि इन सुधारों में कई सीमाएँ और विरोधाभास भी थे। मध्यवर्ग और समाजवादी वर्ग के बीच आर्थिक नीतियों को लेकर तनाव उत्पन्न होने लगा। इस तरह, क्रांति की सफलता के तुरंत बाद ही नए संघर्षों की जमीन तैयार हो गई।

अंततः जून 1848 में राष्ट्रीय कार्यशालाओं के बंद होने के निर्णय ने मजदूर वर्ग को विद्रोह के लिए प्रेरित किया, जिसे सरकार ने कठोर सैन्य दमन के माध्यम से कुचल दिया। इसके बाद राजनीतिक संतुलन उदारवादियों और रूढ़िवादियों के पक्ष में झुक गया। इसी परिस्थिति में लुई नेपोलियन बोनापार्ट उभरे और दिसंबर 1848 के चुनावों में भारी बहुमत से राष्ट्रपति चुने गए। यह घटना न केवल 1848 की क्रांति का अंत थी, बल्कि फ्रांस में नए सत्तावादी युग की शुरुआत भी थी।

2.6.1 फरवरी 1848: विद्रोह का आरंभ

जनवरी-फरवरी 1848 में जब सरकार ने राजनीतिक बैंकेटों पर प्रतिबंध लगाया, तो यह सीधे राजनीतिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हमला था। पेरिस के नागरिक, विशेषतः विद्यार्थी और मजदूर, सड़कों पर उतर आए। 22 फरवरी को बड़े प्रदर्शन हुए, जिनका सरकार ने कठोरता से सामना किया। इससे वातावरण और उग्र हो गया। 23 फरवरी को प्रदर्शनकारी भीड़ ने कई सरकारी इमारतों को घेर लिया। सुरक्षा बलों द्वारा भीड़ पर गोली चलाने की घटना ने विद्रोह को जन-आंदोलन में बदल दिया। जनता ने बैरिकेड बनाकर पेरिस की सड़कों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया और सरकार पूरी तरह असहाय हो गई।

2.6.2 द्वितीय गणराज्य की स्थापना

24 फरवरी 1848 को जब लुई फिलिप ने त्यागपत्र दिया, तब सत्ता को संभालने की जिम्मेदारी अस्थायी सरकार पर आई। इस अस्थायी सरकार में उदारवादी, गणतंत्रवादी और समाजवादी तीनों प्रवृत्तियों के नेता शामिल थे। इसी सरकार ने 25 फरवरी को फ्रांस में द्वितीय गणराज्य की घोषणा की। द्वितीय गणराज्य ने कई महत्वपूर्ण सुधार प्रारंभ किए। सार्वभौमिक पुरुष मताधिकार प्रदान करना 19वीं सदी में अत्यंत क्रांतिकारी कदम था। इसने फ्रांस में लोकतांत्रिक अधिकारों का विस्तार किया और जनता में राजनीतिक चेतना का प्रसार किया।

2.6.3 राष्ट्रीय कार्यशालाओं (National Workshops) की स्थापना

राष्ट्रीय कार्यशालाएँ समाजवादी नेताओं की प्रमुख मांग पर स्थापित की गईं। इनका उद्देश्य बेरोज़गारों को कार्य उपलब्ध कराना और राज्य द्वारा रोजगार सुनिश्चित करने की व्यवस्था करना था। प्रारंभ में मजदूरों ने इसे बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा। किन्तु इस योजना पर तेजी से बोझ बढ़ने लगा। कार्यशालाओं में अधिक काम उपलब्ध नहीं था और कई स्थानों पर मजदूरों को केवल प्रतीकात्मक काम मिलता था। इससे मध्यवर्ग में नाराज़गी बढ़ी, और सरकार ने जून 1848 में राष्ट्रीय कार्यशालाओं को समाप्त करने का निर्णय लिया, जो आगे चलकर एक बड़े विद्रोह का कारण बना।

2.6.4 जून विद्रोह और उसका दमन

राष्ट्रीय कार्यशालाओं के बंद होने की घोषणा मजदूर वर्ग के लिए गहरा आघात थी। हजारों श्रमिक बेरोज़गार हो गए और उन्होंने इस निर्णय के विरोध में हथियार उठाकर विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह पेरिस की सबसे भीषण नागरिक झड़पों में से एक था, जहाँ मजदूरों और सरकारी सेना के बीच कई दिनों तक संघर्ष चलता रहा। अंततः सरकार ने भारी सैन्य बल का उपयोग कर विद्रोह को कुचल दिया। इस दमन ने फ्रांस में वर्ग-संघर्ष को और स्पष्ट कर दिया तथा समाजवादी प्रभाव को कमजोर कर दिया। इसके बाद सत्ता रूढ़िवादी और उदारवादी वर्गों के हाथों में केंद्रीकृत हो गई।

2.6.5 लुई नेपोलियन बोनापार्ट का उदय

जून विद्रोह के बाद जनता स्थिरता चाहती थी। इसी समय नेपोलियन बोनापार्ट के भतीजे लुई नेपोलियन जनता के सामने एक मजबूत, स्थिर और राष्ट्रीय गौरव को पुनर्स्थापित करने वाले नेता के रूप में उभरे। दिसंबर 1848 में हुए राष्ट्रपति चुनावों में लुई नेपोलियन ने भारी बहुमत से जीत हासिल की। उनकी लोकप्रियता मुख्यतः नेपोलियन नाम की विरासत, सामाजिक स्थिरता के वादे और ग्रामीण जनता के समर्थन के कारण थी। उनके उदय ने फ्रांस की राजनीति को एक नए सत्तावादी दौर की ओर मोड़ दिया।

2.6.6 1848 की क्रांति का अंत

लुई नेपोलियन के राष्ट्रपति बनने के साथ ही 1848 की क्रांति का राजनीतिक चरण समाप्त हो गया। हालांकि द्वितीय गणराज्य की स्थापना ने लोकतांत्रिक सिद्धांतों को मजबूत किया, परंतु कुछ ही वर्षों में लुई नेपोलियन ने सत्ता केंद्रीकरण की दिशा में कदम उठाना प्रारंभ किया। 1851 में उन्होंने तख्तापलट कर सरकार को भंग कर दिया और 1852 में स्वयं को सम्राट घोषित कर द्वितीय साम्राज्य की स्थापना की। इस प्रकार, 1848 की क्रांति का अंत एक नई सत्तावादी व्यवस्था के उदय के साथ हुआ, किंतु इसके विचारात्मक प्रभाव दीर्घकालीन रहे।

2.7 1848 की क्रांति के परिणाम और प्रभाव

1848 की फ्रांसीसी क्रांति ने फ्रांस तथा पूरे यूरोप के राजनीतिक परिदृश्य को गहराई से प्रभावित किया। यद्यपि यह क्रांति तत्कालीन राजनीतिक लक्ष्यों में पूर्णतः सफल नहीं हो सकी, परंतु इसके द्वारा उत्पन्न वैचारिक ऊर्जा और सामाजिक चेतना ने आगे आने वाली राजनीतिक संरचनाओं पर स्थायी प्रभाव छोड़ा। फरवरी 1848 में राजतंत्र का पतन और द्वितीय गणराज्य की स्थापना आधुनिक लोकतांत्रिक प्रयोगों का एक महत्वपूर्ण चरण था, जिसने यूरोपीय शासन व्यवस्थाओं में ''लोक-संप्रभुता'' की अवधारणा को पुनः जीवित किया।

इस क्रांति के परिणामस्वरूप फ्रांस में मतदान का अधिकार व्यापक हुआ और आम पुरुष मताधिकार (Universal Male Suffrage) की स्थापना की गई। यह यूरोप में लोकतांत्रिक विचारधारा की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था, जिससे राजनीतिक भागीदारी की अवधारणा का विस्तार हुआ। हालांकि यह परिवर्तन बाद में सीमित कर दिया गया, फिर भी राजनीतिक अधिकारों के प्रसार की यह प्रक्रिया यूरोपीय आधुनिकता का महत्वपूर्ण संकेतक बन गई थी।

1848 की क्रांति ने सामाजिक प्रश्नों (Social Question) को भी व्यापक रूप से उभारा। मजदूर वर्ग द्वारा संचालित आंदोलन, राष्ट्रीय कार्यशालाओं की स्थापना तथा जून विद्रोह ने यह स्पष्ट कर दिया कि औद्योगिक

समाज में श्रमिकों की स्थिति को अनदेखा नहीं किया जा सकता। सामाजिक सुरक्षा, कार्य परिस्थितियों और आर्थिक विषमता जैसे मुद्दे पहली बार राज्य की नीतियों का अनिवार्य अंग बने। यह वह चरण था जिसने बाद में सामाजिक लोकतंत्र (Social Democracy) और समाजवादी आंदोलनों के विकास की नींव रखी। यूरोप के अन्य देशों में भी 1848 के प्रभाव गहराई से महसूस किए गए। जर्मनी, इटली, ऑस्ट्रिया और हंगरी में उठी क्रांतिकारी लहरों ने वियना व्यवस्था को चुनौती दी और ''राष्ट्रीय राज्यों'' की अवधारणा को वैधता प्रदान की। यद्यपि अधिकांश आंदोलन दमन कर दिए गए, लेकिन ''राष्ट्रीय जागरण'' की प्रक्रिया रुक नहीं सकी। 1848 वास्तव में यूरोप में ''राष्ट्रों के वसंत'' (Springtime of Nations) का प्रतीक बन गया।

समग्रतः 1848 की क्रांति ने आधुनिक यूरोपीय इतिहास की दिशा को बदलने में निर्णायक भूमिका निभाई। इसने राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक विमर्श का नया ढांचा निर्मित किया, जिसमें उदारवाद, लोकतंत्र और राष्ट्रवाद का समन्वय था। यद्यपि क्रांति का तात्कालिक परिणाम मिश्रित रहा, किन्तु इसके द्वारा उत्पन्न चेतना और परिवर्तन की धारा आगे के दशकों में राष्ट्र-निर्माण और लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास का आधार बनी।

2.7.1 फ्रांस में शासन-व्यवस्था का परिवर्तन

1848 की क्रांति के परिणामस्वरूप फ्रांस में राजतंत्र का अंत और द्वितीय गणराज्य की स्थापना हुई। यह परिवर्तन फ्रांसीसी इतिहास में एक नए प्रयोग की शुरुआत था, जिसमें नागरिक अधिकारों, स्वतंत्रता, तथा सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर शासन को पुनर्गठित करने का प्रयास किया गया। यह वह पहला चरण था जब शासन संरचना का केंद्र राजतंत्र से हटकर सीधे जनता की संप्रभुता की ओर स्थानांतरित हुआ। द्वितीय गणराज्य के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण विधायी परिवर्तन किए गए, जिनमें आम पुरुष मताधिकार, प्रेस की स्वतंत्रता और श्रमिक अधिकारों की सुरक्षा शामिल थे। हालांकि यह शासन राजनीतिक अस्थिरताओं और वर्गीय संघर्षों से घिरा रहा, फिर भी इसने जनता को राजनीतिक प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष भागीदारी का अवसर प्रदान किया। यही वह अवधि थी जिसने फ्रांस में लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास की नींव रखी, भले ही बाद में लुई नेपोलियन द्वारा साम्राज्य की पुनर्स्थापना कर दी गई।

2.7.2 यूरोप में 1848 की लहर (The Springtime of Nations)

1848 की क्रांति केवल फ्रांस तक सीमित नहीं रही; यह शीघ्र ही पूरे यूरोप में फैल गई और अनेक देशों में वैचारिक तथा राजनीतिक उथल-पुथल का कारण बनी। इसे यूरोपीय इतिहास में ''राष्ट्रों का वसंत'' कहा जाता है, क्योंकि इसने विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद, स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और संवैधानिक शासन की आकांक्षाओं को एक साथ उभार दिया। इस लहर ने वियना व्यवस्था द्वारा स्थापित राजतंत्रीय और सामंती संरचनाओं को चुनौती दी।

जर्मनी में 1848 की क्रांति का प्रमुख परिणाम फ्रैंकफर्ट संसद का गठन था, जिसने एकीकृत जर्मनी के निर्माण की दिशा में गंभीर प्रयास किए। यद्यपि यह प्रयास तत्कालिक रूप से सफल नहीं हुआ, किंतु इसने जर्मन राष्ट्रवाद को वैचारिक आधार प्रदान किया, जो 1871 में एकीकरण का कारण बना। इसी प्रकार, इटली में भी

विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में क्रांतिकारी आंदोलन हुए, जिनके परिणामस्वरूप एकीकरण की भावना और अधिक प्रबल हुई।

ऑस्ट्रिया साम्राज्य में भी 1848 की लहर ने सत्ता की जड़ों को हिला दिया। वियना में उठे जनविद्रोह के कारण मेटरनिख को त्यागपत्र देना पड़ा, जो प्रतिक्रियावादी राजनीति का प्रमुख स्तंभ था। हंगरी में लाजोस कोसुथ के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन चला, जिसने हाब्सबर्ग सत्ता को गंभीर चुनौती दी। हालांकि बाद में इन आंदोलनों को दमन कर दिया गया, किंतु राष्ट्र और जन-संप्रभुता के विचारों को स्थायी रूप से दबाया नहीं जा सका।

पूर्वी यूरोप के कई हिस्सों में भी इसी प्रकार की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ उभरीं। पोलैंड में स्वतंत्रता की मांग, चेक भूमि में राष्ट्रीय चेतना का विकास, तथा बाल्कन में ऑटोमैन शासन के विरुद्ध आंदोलनों ने ''राष्ट्रीय अधिकार'' की अवधारणा को व्यापक रूप से फैलाया। 1848 की यह लहर ''यूरोपीय राजनीतिक जागरण'' का प्रतीक थी, जिसने पूरे महाद्वीप में राजनीतिक परिवर्तन की माँग को एकसाथ उभारा।

इस प्रकार, 1848 की क्रांति की लहर ने यूरोप में आधुनिक राष्ट्रवादी आंदोलनों की नींव रखी। यद्यपि अधिकांश क्रांतियाँ तत्काल विफल हो गईं, परंतु उन्होंने ''राष्ट्रवाद आधारित राजनीतिक समुदाय'' की अवधारणा को अटूट बना दिया। यह वही प्रक्रिया थी जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय एकीकरण, लोकतंत्र और संवैधानिक शासन को यूरोप की स्थायी राजनीतिक दिशा बना दिया।

2.7.3 समाजवादी एवं उदारवादी विचारधारा का प्रसार

1848 की क्रांति ने समाजवादी और उदारवादी विचारधाराओं को व्यापक वैचारिक शक्ति प्रदान की। मजदूर वर्ग द्वारा उठाए गए प्रश्न, न्यायपूर्ण मजदूरी, काम के घंटे, सामाजिक सुरक्षा, तथा आर्थिक समानता; यूरोपीय राजनीति का स्थायी हिस्सा बन गए। फ्रांस में राष्ट्रीय कार्यशालाओं का प्रयोग भले ही अल्पकालिक रहा, परंतु इसने ''राज्य के सामाजिक दायित्व'' की अवधारणा को प्रतिपादित किया, जिसे बाद में समाजवादी आंदोलन ने सैद्धांतिक रूप से विकसित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में उदारवाद भी सुदृढ़ हुआ। संवैधानिक शासन, नागरिक अधिकारों, प्रेस स्वतंत्रता, प्रतिनिधिक संस्थाओं और कानून के शासन जैसी उदारवादी अवधारणाएँ कई यूरोपीय देशों के राजनीतिक कार्यक्रमों में सम्मिलित होने लगीं। इस प्रकार, 1848 की क्रांति को आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के प्रसार का केंद्रीय उत्प्रेरक कहा जा सकता है।

2.7.4 राष्ट्रवाद का व्यापक उदय

1848 की क्रांति ने राष्ट्रवाद को यूरोप के राजनीतिक जीवन की सबसे शक्तिशाली धारा बना दिया। फ्रांस में विद्रोह की सफलता ने यह संदेश दिया कि ''राष्ट्रीय इच्छा'' राजनीतिक परिवर्तन का आधार बन सकती है। जर्मनी, इटली, पोलैंड, हंगरी और बोहेमिया में यह राष्ट्रवादी चेतना नई ऊंचाइयों तक पहुंची। इस राष्ट्रवादी उभार ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय एकीकरण के प्रयासों को गति दी- जैसे कि जर्मनी में बिस्मार्क का एकीकरण और इटली में कावूर, गारीबाल्डी तथा मैजिनी की भूमिका। इस प्रकार, 1848 की क्रांति ने यूरोप के भविष्य के राजनीतिक मानचित्र को आकार देने में निर्णायक योगदान दिया।

2.7.5 1848 की क्रांति की असफलताएँ और सीमाएँ

यद्यपि 1848 की क्रांति ने व्यापक राजनीतिक चेतना पैदा की, परंतु व्यावहारिक स्तर पर यह अनेक मामलों में असफल साबित हुई। फ्रांस में फरवरी क्रांति द्वारा स्थापित द्वितीय गणराज्य कुछ ही वर्षों में राजनीतिक संघर्षों, वर्गीय तनावों और अंतर्विरोधों से कमजोर हो गया। अंततः 1852 में लुई नेपोलियन ने स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया, जिससे गणतांत्रिक प्रयोग अचानक समाप्त हो गया। यूरोप के अधिकांश देशों में भी क्रांतियों को राजतंत्रीय और सैन्य शक्तियों ने दमन कर दिया। जर्मन एकीकरण की पहली कोशिश विफल हो गई, इटली के आंदोलन आंतरिक विभाजन के कारण कमजोर पड़ गए, और हंगरी का विद्रोह रूसी हस्तक्षेप से कुचल दिया गया। इसलिए 1848 को ''आदर्शों की विजय'' और ''व्यावहारिक विफलता'' दोनों के रूप में देखा जाता है।

2.8 सारांश

1848 की क्रांति, जिसे "द्वितीय फ्रांसीसी क्रांति" कहा जा सकता है, उस यूरोपीय युग का निर्णायक मोड़ थी जिसमें सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक असंतोष एक साथ फुट पड़ा। फरवरी 1848 में प्रदर्शन, विद्रोह, और पेरिस की सड़कों पर जनता का उठना, यह सब 1815 के बाद से संचयित असंतोष का परिणाम था। लुई फिलिप की "नागरिक राजा" के रूप में बहुराष्ट्रीय मध्यवर्गीय राजतंत्र ने आम जनता के दुख-दर्द को अनदेखा किया, जिससे राजधानी में विद्रोह के लिए आधार मजबूत हुआ। इस क्रांति ने केवल सत्ता परिवर्तन नहीं किया बल्कि शासन-व्यवस्था, राजनीतिक भागीदारी, नागरिक अधिकारों और श्रमिकों के सामाजिक अधिकारों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन की दिशा खोली। द्वितीय गणराज्य की स्थापना, सार्वभौमिक पुरुषमताधिकार, प्रेस-स्वतंत्रता और श्रमिकों के लिए राष्ट्रीय कार्यशालाओं जैसे प्रयोग यह सब उस बदलाव के प्रतीक थे।

यूरोप पर इसके प्रभाव और भी गहरे थे; 1848 की "राष्ट्रों की वसंत" (Springtime of Nations) ने जर्मनी, इटली, हंगरी, ऑस्ट्रिया, पोलैंड आदि में राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय एकता और संवैधानिक शासन की मांग को गति दी। यद्यपि अधिकांश विद्रोह दमन कर दिए गए, फिर भी व्यवस्था में बदलाव की चाह और राजनीतिक जागरूकता की नींव पक्की हो गई।

हालाँकि क्रांति की उपलब्धियाँ सीमित रहीं, 1851–52 में सत्ता का केंद्रीकरण, पुनर्स्थापित साम्राज्यवाद ने कई नव-उदारीवादी व समाजवादी आकांक्षाओं को दबा दिया। फिर भी, 1830 एवं 1848 की दो क्रांतियाँ आधुनिक यूरोपीय इतिहास में उदारवाद, राष्ट्रवाद और लोकतंत्र की उस दिशा की शुरुआत थीं, जिसने आगे आने वाली राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों की राह तय की। इस प्रकार, 1830 और 1848 की क्रांतियाँ न केवल फ्रांस का परिवर्तक अध्याय थीं, बल्कि यूरोप में आधुनिक राज्य-व्यवस्था, नागरिक अधिकारों व राष्ट्रवाद की नींव रखने वाली घटनाएँ भी थीं।

2.9 प्रमुख शब्दावली

- संवैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy): वह शासन व्यवस्था जिसमें राजा के अधिकार सीमित होते हैं और संविधान के अंतर्गत राष्ट्र की राजनीतिक सत्ता जनता या प्रतिनिधि संस्थाओं के पास होती है। |

- सार्वभौमिक पुरुषमताधिकार (Universal Male Suffrage): वह व्यवस्था जिसमें सभी वयस्क पुरुषों को बिना संपत्ति-आधार या कर-योग्यता देखे मतदान का अधिकार मिलता है।
- राष्ट्रीय कार्यशालाएँ (National Workshops): 1848 के बाद बेरोज़गारों को रोजगार देने एवं राज्य द्वारा काम उपलब्ध कराने की व्यवस्था।
- "नागरिक राजा" (Citizen King): राजा जो निरंकुश शासक नहीं, बल्कि जनता द्वारा स्थापित संवैधानिक राजा हो, जैसे 1830–1848 का लुई फिलिप।
- राष्ट्रवाद (Nationalism): उस विचारधारा या भावना को कहते हैं जिसमें एक साझा भाषा, संस्कृति, इतिहास या पहचान के आधार पर लोगों को एक राष्ट्र के रूप में पहचान मिलती है।
- उदारवाद (Liberalism): राजनीतिक सिद्धांत जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता, कानूनी समानता, नागरिक अधिकार तथा प्रतिनिधिक शासन में विश्वास करता है।
- श्रमिक आन्दोलन / वर्ग-संघर्ष (Working-class movement / Class struggle): औद्योगिक या ट्रेड-वर्कर्स की आर्थिक और राजनीतिक असमानताओं के विरुद्ध संघर्ष और संगठित प्रयास।

2.10 संदर्भ-ग्रंथ सूची

- https://egyankosh.ac.in/bitstream/123456789/84256/3/Unit-6.pdf
- वर्मा, दीनानाथ. विश्व इतिहास का सर्वेक्षण. पटना: भारती भवन (पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्युटर्स)
- खुराना, के. एल. विश्व का इतिहास. नई दिल्ली: लक्ष्मी नारायण प्रकाशन, 2018
- महाजन, वी. डी. आधुनिक विश्व का इतिहास. नई दिल्ली
- Hayden, J. World History. London: Macmillan Education.
- Cattell & Hays. Modern World History. London: Longmans, 1970
- IGNOU Study Material (B.A. History). यूरोपीय इतिहास एवं विश्व इतिहास की इकाइयाँ

2.11 प्रश्नावली

1. 1830 की फ्रांसीसी क्रांति (जुलाई क्रांति) किन-किन मुख्य कारणों से हुई?
2. 1830–1848 के बीच हुए उदारवादी, राष्ट्रवादी व समाजवादी आंदोलनों का फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा?
3. 1848 के बाद बने द्वितीय गणराज्य की सीमाएँ क्या थीं? उसे स्थायी गणराज्य क्यों नहीं कहा जा सकता?
4. 1830 व 1848 की क्रांतियों की सामूहिक उपलब्धियाँ एवं असफलताएँ क्या थीं?
5. 1830 और 1848 की क्रांतियों ने यूरोपीय राष्ट्रवाद तथा आधुनिक राज्य-निर्माण में किस प्रकार योगदान दिया?

इकाई तीन

इंग्लैंड में उदारवाद: 1832 का सुधार अधिनियम और चार्टिस्ट आंदोलन

3.0 परिचय

3.1 उद्देश्य

3.2 इंग्लैंड में उदारवाद का ऐतिहासिक विकास: पृष्ठभूमि

3.3 1832 का सुधार अधिनियम: कारण, प्रक्रिया और प्रावधान

3.3.1 सुधार अधिनियम के प्रभाव और सीमाएँ

3.4 सुधार अधिनियम (1832) की सीमाएँ और श्रमिक वर्ग में असंतोष

3.5 चार्टिस्ट आंदोलन : पृष्ठभूमि और उद्भव

3.6 पीपुल्स चार्टर : छह प्रमुख माँगें और उनका महत्व

3.7 चार्टिस्ट आंदोलन की रणनीतियाँ, नेतृत्व और संगठनात्मक स्वरूप

3.8 चार्टिस्ट आंदोलन की असफलता के कारण — राजनीतिक, आर्थिक और संगठनात्मक विश्लेषण

3.9 आलोचनात्मकमूल्यांकन

3.10 सारांश

3.11 शब्दावली

3.12 अभ्यास प्रश्न

3.13 संदर्भ सूची

3.0 परिचय

19वीं सदी यूरोप और विशेषतः इंग्लैंड में राजनीतिक परिवर्तन और लोकतांत्रिक चेतना के विस्तार का काल थी। जबकि महाद्वीपीय यूरोप में रूढ़िवादिता और राजतांत्रिक प्रतिक्रिया मजबूत बनी रही, इंग्लैंड में इसी समय उदारवाद और संसदीय सुधार गति पकड़ रहे थे। औद्योगीकरण की तेज़ी, शहरीकरण और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विस्तार ने समाज की संरचना को बदल दिया था। नई सामाजिक शक्तियाँ — औद्योगिक पूँजीपति, मध्यम वर्ग और मजदूर वर्ग — राजनीतिक अधिकारों और प्रतिनिधित्व की माँग करने लगीं। यही परिस्थितियाँ इंग्लैंड में आधुनिक लोकतंत्र की जड़ों को पोषित करती हैं।

औद्योगिक क्रांति और व्यापारिक पूँजी के उभार के बाद इंग्लैंड में वह सामाजिक वर्ग प्रभावी हुआ जिसे राजनीतिक रूप से पहचान की आवश्यकता महसूस हो रही थी। पुराने निर्वाचन क्षेत्रों और मतदान व्यवस्था में सुधार की माँग इसीलिए उठी क्योंकि ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था प्राचीन संरचना पर आधारित थी, जिसमें राजनीतिक शक्ति अभिजात वर्ग और धनी जमींदारों के हाथों में केंद्रित थी। इस विसंगति ने लोकतांत्रिक अधिकारों के संघर्ष की भूमि तैयार की, जिसके परिणामस्वरूप 1832 का सुधार अधिनियम अस्तित्व में आया।

1832 का सुधार अधिनियम ब्रिटिश संसदीय इतिहास का महत्वपूर्ण मोड़ था। इसने मताधिकार के दायरे को विस्तृत किया, सड़े हुए निर्वाचन क्षेत्रों (Rotten Boroughs) की व्यवस्था समाप्त की और नए औद्योगिक शहरों को प्रतिनिधित्व दिया। यद्यपि इस सुधार का लाभ मुख्यतः मध्यम वर्ग को मिला, फिर भी इसने राजनीतिक परिवर्तन की दिशा तय कर दी और आगे के लोकतांत्रिक आंदोलनों को तीव्रता प्रदान की।

इसी प्रक्रिया के भीतर चार्टिस्ट आंदोलन का जन्म हुआ, जिसने श्रमिक वर्ग के व्यापक मताधिकार और संसदीय सुधारों की माँग को राष्ट्रीय स्तर पर उठाया। यह आंदोलन इंग्लैंड में लोकतंत्र के इतिहास का महत्वपूर्ण अध्याय है क्योंकि इसने राजनीतिक अधिकारों को केवल संपत्ति-धारकों तक सीमित रखने के सिद्धांत को चुनौती दी। यद्यपि चार्टिस्ट आंदोलन तत्काल सफल नहीं हुआ, लेकिन इसने इंग्लैंड में जन-आधारित लोकतांत्रिक संघर्ष की नींव रखी।

इस प्रकार इंग्लैंड में उदारवाद, सुधार अधिनियम और चार्टिज़्म के माध्यम से लोकतंत्र क्रमिक रूप से विकसित हुआ। यह विकास न तो तुरंत हुआ और न ही संघर्ष-रहित था, परंतु इसके परिणामस्वरूप आधुनिक ब्रिटिश संसदीय प्रणाली और सार्वभौमिक मताधिकार की परंपरा धीरे-धीरे स्थापित हुई। इस इकाई में हम इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं और उनके प्रभाव के विस्तृत अध्ययन पर ध्यान केंद्रित करेंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद विद्यार्थी निम्नलिखित उद्देश्यों को समझने और विश्लेषित करने में सक्षम होंगे:

- इंग्लैंड में उदारवाद के उद्भव और विकास को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सहित समझ सकेंगे एवं यह जान पाएंगे कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों ने राजनीतिक सुधार की माँग कैसे उत्पन्न की।
- 1832 के सुधार अधिनियम के कारणों, प्रावधानों और संसदीय ढाँचे पर इसके प्रभाव का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।
- सुधार अधिनियम के सीमित चरित्र और उसके बाद श्रमिक वर्ग में असंतोष तथा व्यापक मताधिकार के संघर्ष की परिस्थितियों की व्याख्या कर सकेंगे।
- चार्टिस्ट आंदोलन के स्वरूप, नेतृत्व, रणनीतियों और छह चार्टर मांगों को ऐतिहासिक संदर्भ में समझ सकेंगे।
- चार्टिस्ट आंदोलन की असफलता के कारणों और उसकी ऐतिहासिक भूमिका का वस्तुपरक विश्लेषण कर सकेंगे।

- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि सुधार अधिनियम और चार्टिस्ट आंदोलन ने इंग्लैंड में लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्कृति, संसदीय संस्थाओं और नागरिक अधिकारों के विकास के लिए किस प्रकार आधार प्रदान किया।
- उदारवाद और लोकतांत्रिक अधिकारों के संघर्ष के बीच संतुलन का विश्लेषण कर सकेंगे तथा यह समझ पाएंगे कि इंग्लैंड में राजनीतिक परिवर्तन क्रमिक और शांतिपूर्ण रूप में क्यों हुआ जबकि यूरोप के अन्य भागों में क्रांतियाँ हुई।

इस प्रकार, इस इकाई का उद्देश्य केवल घटनाओं और अधिनियमों का विवरण देना नहीं, बल्कि अंग्रेज़ी राजनीतिक व्यवस्थाओं में लोकतांत्रिक रूपांतरण की प्रक्रिया को समझना और उसकी ऐतिहासिक जटिलताओं का आलोचनात्मक अध्ययन करना है।

3.2 इंग्लैंड में उदारवाद का ऐतिहासिक विकास: पृष्ठभूमि

इंग्लैंड में उदारवाद का विकास किसी अचानक घटित घटना का परिणाम नहीं था, बल्कि यह एक दीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में उभरा। 17वीं सदी की गौरवशाली क्रांति (Glorious Revolution 1688) के बाद इंग्लैंड में संसद की सर्वोच्चता की अवधारणा स्थापित हो चुकी थी। इसी ऐतिहासिक मोड़ ने शासन में मनमानी और निरंकुशता के बजाय कानून आधारित राज्य और नागरिक स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम रखा। इस लंबे संवैधानिक और राजनीतिक अनुभव ने 18वीं और 19वीं सदी में उदारवाद के उभार का आधार तैयार किया।

18वीं सदी के दौरान व्यापारिक पूँजीवाद और बाद में हुई औद्योगिक क्रांति ने इंग्लैंड की सामाजिक संरचना में गहरे परिवर्तन लाए। औद्योगिक नगर तेजी से विकसित हुए और श्रमिक, तकनीकी विशेषज्ञ व व्यापारी वर्ग जैसे नए सामाजिक समुदाय उभरे। ये समुदाय आर्थिक रूप से शक्तिशाली तो थे, परंतु मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था में प्रतिनिधित्व से वंचित थे। इसलिए आर्थिक परिवर्तन ने राजनीतिक सुधार और व्यापक प्रतिनिधित्व की माँग को जन्म दिया, जो उदारवाद के विकास का प्रमुख कारण बना।

इंग्लैंड में उदारवाद की वृद्धि केवल आर्थिक परिवर्तन का परिणाम नहीं थी, बल्कि बौद्धिक और दार्शनिक विचारधाराओं का भी योगदान था। जॉन लॉक, एडम स्मिथ, जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे विचारकों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्राकृतिक अधिकार, सरकार की जवाबदेही और लोकतंत्र के सिद्धांतों को वैचारिक आधार दिया। इन विचारों ने जनता में राजनीतिक चेतना और नागरिक अधिकारों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ाई। धीरे-धीरे यह समझ विकसित हुई कि राजनीतिक व्यवस्था को समाज के बदलते रूप के अनुरूप परिवर्तित होना चाहिए।

औद्योगीकरण के कारण शहरी जनसंख्या बढ़ी और पुराने निर्वाचन क्षेत्र असंगत हो गए। ऐसे गाँव और छोटे क्षेत्र जिनकी जनसंख्या लगभग समाप्त हो चुकी थी, अब भी संसदीय सीटें रखते थे, जबकि मैनचेस्टर, बर्मिंघम और शेफ़िल्ड जैसे औद्योगिक शहरों को संसद में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलता था। इसी विसंगति ने संसदीय सुधार के लिए दबाव बढ़ाया और उदारवाद की राजनीतिक दिशा अधिक स्पष्ट हुई — प्रतिनिधित्व का अधिकार, मताधिकार का विस्तार और राजनीतिक संस्थाओं का पुनर्गठन।

19वीं सदी की शुरुआत तक उदारवादी माँगों को व्यापक समर्थन मिलने लगा। मध्यम वर्ग ने शिक्षा, प्रेस और व्यापारिक संगठनों के माध्यम से राजनीतिक जागरूकता फैलाई। अखबारों, क्लबों और सार्वजनिक सभाओं का विकास हुआ, जहाँ

सरकार और संसद के निर्णयों पर खुलकर बहस होती थी। इससे सार्वजनिक मत और राजनीतिक भागीदारी की संस्कृति विकसित हुई, जो उदारवाद की मूलभूत शर्त मानी जाती है। राजनीतिक अधिकारों का सवाल अब केवल अभिजात वर्ग या धनी जमींदारों तक सीमित नहीं रहा।

इंग्लैंड में उदारवाद का विकास एक क्रमिक, शांतिपूर्ण और संवैधानिक प्रक्रिया के रूप में उभरा। महाद्वीपीय यूरोप के विपरीत, इंग्लैंड में क्रांतियों का दौर नहीं आया, क्योंकि जनता और शासक वर्ग के बीच संघर्ष—यद्यपि मौजूद—संवाद और राजनीतिक समझौते की दिशा में आगे बढ़ा। यह विशेषता इंग्लैंड के राजनीतिक विकास को विशिष्ट बनाती है। सुधार की इस क्रमिक प्रक्रिया ने अंततः 1832 के सुधार अधिनियम के पारित होने का मार्ग प्रशस्त किया।

संक्षेप में, इंग्लैंड में उदारवाद का उदय ऐतिहासिक संवैधानिक परंपरा, औद्योगिक क्रांति, आर्थिक हितों के उत्थान, राजनीतिक विचारधाराओं और सार्वजनिक मत के सम्मिलित परिणाम के रूप में हुआ। एक ओर मध्यम वर्ग राजनीतिक अधिकार और प्रतिनिधित्व के लिए संघर्ष कर रहा था, वहीं दूसरी ओर श्रमिक वर्ग अपने सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के लिए संगठित हो रहा था। यही परिस्थितियाँ आगे चलकर 1832 के सुधार अधिनियम और चार्टिस्ट आंदोलन के रूप में उदारवादी परिवर्तन के दो महत्वपूर्ण चरणों में प्रकट हुईं।

3.3 1832 का सुधार अधिनियम

1832 का सुधार अधिनियम इंग्लैंड के राजनीतिक इतिहास का एक टर्निंग पॉइंट माना जाता है, क्योंकि यह ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था में पहली बार व्यापक कानूनी सुधार लेकर आया। औद्योगिक क्रांति के बाद समाज में गहरे आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन हुए, मगर राजनीतिक व्यवस्था पुरानी सामंती संरचनाओं पर आधारित बनी रही। सांसदों के चुनाव के लिए मताधिकार बहुत सीमित था और जनसंख्या में बदलावों के बावजूद निर्वाचन क्षेत्रों का पुनर्गठन नहीं हुआ था। परिणामस्वरूप औद्योगिक शहरों में रहने वाले लाखों नागरिक प्रतिनिधित्व से वंचित थे, जबकि जनसंख्या के बिना पुराने ज़मींदारी क्षेत्रों के पास अब भी संसदीय सीटें थीं। इन असमानताओं को दूर करने के लिए राजनीतिक सुधार की माँग तेज़ होती गई, जिसकी परिणति 1832 के सुधार अधिनियम में हुई।

सुधार अधिनियम के पारित होने की पृष्ठभूमि में मध्य वर्ग की बढ़ती राजनीतिक चेतना और व्यापारिक वर्ग का उदय मुख्य कारण थे। उद्योगपतियों, बैंकरों, व्यापारियों और पेशेवर वर्ग (डॉक्टर, वकील, शिक्षाविद) ने आर्थिक प्रभाव तो प्राप्त कर लिया था, परंतु संसदीय व्यवस्था में प्रवेश सीमित रहा। इस वर्ग ने तर्क दिया कि प्रतिनिधित्व का अधिकार अब वंश–सत्ता या ज़मीनदारी के आधार पर नहीं, बल्कि उत्पादन और संपत्ति के आधार पर होना चाहिए। वहीं, पुरानी संसद संरचना की जड़ता और अपने हितों की रक्षा के लिए अभिजात्य वर्ग का विरोध देश में व्यापक असंतोष को जन्म दे रहा था।

अधिनियम का मुख्य उद्देश्य निर्वाचन व्यवस्था में अन्यायपूर्ण और असमान सीट वितरण को समाप्त करना था। कानून के अनुसार 56 "रॉटन बरो" (ऐसे निर्वाचन क्षेत्र जिनकी जनसंख्या बहुत कम थी लेकिन सीट बराबर बनी थी) को समाप्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त 30 अन्य निर्वाचन क्षेत्रों की सीटें कम कर दी गईं। इन सीटों को नए औद्योगिक नगरों — जैसे मैनचेस्टर, बर्मिंघम, लीड्स, शेफ़ील्ड — को आवंटित किया गया। इससे पहली बार यह स्वीकार किया गया कि संसद को जनसंख्या और आर्थिक वास्तविकताओं के अनुरूप प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना चाहिए।

मताधिकार के संदर्भ में सुधार अधिनियम ने संसाधन-आधारित राजनीतिक अधिकार को स्थापित किया। अब मताधिकार संपत्ति–धारकों को मिल सकता था — विशेषकर औद्योगिक मध्य वर्ग को — जिसके पास निश्चित मूल्य की संपत्ति या व्यवसाय था। इससे लाखों श्रमिक वर्ग और किसानों को मताधिकार नहीं मिला, लेकिन मध्यम वर्ग के लिए राजनीतिक भागीदारी के दरवाज़े खुल गए। इस अधिनियम ने मतदान को सामान्य अधिकार नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक योग्यता पर आधारित अधिकार के रूप में परिभाषित किया।

सुधार अधिनियम ने चुनावों की पारदर्शिता और प्रतिस्पर्धा को भी प्रभावित किया। हालांकि यह गुप्त मतदान लागू नहीं करता था और न ही भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी या राजनीतिक संरक्षण पूरी तरह समाप्त हुए, परंतु सुधारों के बाद लोकसभा चुनावों में अभिजात्य और सामंती दबाव का वर्चस्व धीरे–धीरे कम होने लगा। चुनाव पहले की तुलना में अधिक खुले और राजनीतिक रूप से सक्रिय हो गए।

1832 के सुधार अधिनियम की सीमाएँ भी गंभीर थीं। श्रमिक वर्ग, किसानों, मज़दूरों, कारीगरों और महिलाओं को मताधिकार नहीं दिया गया। जनसंख्या का दो-तिहाई हिस्सा अब भी राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहा। इस अपूर्ण सुधार ने असंतोष को कम करने की बजाय राजनीतिक चेतना को और तेज़ कर दिया। लोगों ने समझ लिया कि राजनीतिक अधिकार संघर्ष के द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं, और परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक आंदोलन और तेज़ हो गए।

इसके बावजूद इतिहासकार इसे इंग्लैंड में संवैधानिक विकास की आरंभिक ईंट मानते हैं। इसने राजनीतिक अधिकार की अवधारणा को केवल अभिजात वर्ग तक सीमित न रखकर विस्तार की दिशा में आगे बढ़ाया। 1832 का सुधार अधिनियम क्रमिक सुधारवाद, शांतिपूर्ण राजनीतिक संघर्ष और लोकतांत्रिक विकास के इंग्लैंड के मॉडल की पहली बड़ी औपचारिक नींव था।

3.3.1 सुधार अधिनियम के प्रभाव और सीमाएँ

1832 का सुधार अधिनियम केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व की असमानता दूर करने का प्रयास नहीं था, बल्कि यह इंग्लैंड की संसदीय प्रणाली में संरचनात्मक पुनर्गठन की पहली बड़ी पहल थी। इसके प्रमुख प्रावधान, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव तथा उसकी अंतर्निहित सीमाएँ तीनों को समझना आवश्यक है, ताकि इस कानून के ऐतिहासिक महत्व का समग्र मूल्यांकन किया जा सके।

सबसे पहले, अधिनियम के प्रावधानों ने चुनावी व्यवस्था की संरचना में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। 56 रॉटन बरो पूरी तरह समाप्त किए गए और 30 बरो की सीटें कम कर दी गईं, जिनके स्थान पर औद्योगिक नगरों और बढ़ती जनसंख्या वाले कस्बों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। मताधिकार एक निश्चित राशि या संपत्ति के स्वामित्व पर आधारित किया गया, जिससे मध्यम वर्ग पहली बार बड़ी संख्या में संसद के चुनाव में भाग लेने में सक्षम हुआ। निवास–आधारित मताधिकार की शुरुआत भी इसके अंतर्गत शामिल थी।

अधिनियम के मुख्य प्रभाव भी गहरे थे। सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव था — राजनीतिक शक्ति का केंद्र पहली बार अभिजात्य वर्ग से थोड़ा हटकर औद्योगिक मध्य वर्ग की ओर स्थानांतरित होना। संसद में आर्थिक रूप से उत्पादक और व्यवसायिक

वर्ग का प्रतिनिधित्व बढ़ा, जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक नीतियों, व्यापार-विनियमों और औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल वातावरण बना। इसके साथ-साथ राजनीतिक भागीदारी के क्षेत्र का विस्तार हुआ और संसदीय प्रणाली अधिक सक्रिय और प्रतिस्पर्धी बन गई।

इन सकारात्मक प्रभावों के बावजूद, सुधार अधिनियम की सीमाएँ गंभीर थीं। मताधिकार का अधिकार अब भी जनसंख्या के एक बड़े हिस्से को नहीं मिला — मजदूर, किसान, सेवा–नौकर, कारीगर और सभी महिलाएँ राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहीं। मताधिकार संपत्ति-आधारित ही रहा और सामाजिक-आर्थिक असमानता राजनीतिक असमानता में परिवर्तित होती रही। इस प्रकार अधिनियम ने लोकतंत्र की दिशा में कदम तो बढ़ाया, पर लोकतंत्रीकरण पूर्ण रूप में नहीं हुआ।

बेहतर समझ के लिए नीचे सारणी प्रस्तुत है:

श्रेणी	**विवरण**
मुख्य प्रावधान	56 रॉटन बरो समाप्त; 30 बरो की सीटें कम; औद्योगिक शहरों को नई सीटें; संपत्ति-आधारित मताधिकार; निवासाधारित मताधिकार
सकारात्मक प्रभाव	मध्यम वर्ग का राजनीतिक उदय; संसद अधिक प्रतिनिधिक बनी; चुनाव प्रतिस्पर्धी हुए; शासन में औद्योगिक हितों को स्थान
प्रमुख सीमाएँ	श्रमिक वर्ग मताधिकार से वंचित; महिलाओं को अधिकार नहीं; मतदान अब भी गुप्त नहीं; प्रतिनिधित्व केवल संपत्ति-आधारित

ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि 1832 का सुधार अधिनियम लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए निर्णायक लेकिन अधूरा सुधार था। इसने राजनीतिक चेतना को और बढ़ाया तथा आगे के सुधारों और श्रमिक आंदोलनों — विशेषकर चार्टिस्ट आंदोलन — का मार्ग प्रशस्त किया। इंग्लैंड में लोकतांत्रिक परिवर्तन का क्रम वास्तव में इसी अधिनियम से शुरू होता है।

3.4 सुधार अधिनियम (1832) की सीमाएँ और श्रमिक वर्ग में असंतोष

1832 का सुधार अधिनियम इंग्लैंड के राजनीतिक इतिहास में बड़ी उपलब्धि माना जाता है, परंतु इसके सीमित स्वरूप ने समाज के व्यापक वर्गों में असंतोष भी जन्म दिया। यह अधिनियम मुख्यतः औद्योगिक मध्यम वर्ग के हितों के अनुरूप था और लोकतांत्रिक अधिकार जनता के बड़े हिस्से तक नहीं पहुँच सके। सुधार की घोषणा ने लोगों में उम्मीदें जगाईं थीं, किन्तु वास्तविक राजनीतिक भागीदारी के अवसर केवल संपत्ति-स्वामियों तक सीमित रखे गए, जिससे श्रमिक वर्ग में गहरा आक्रोश फैल गया।

अधिनियम की सबसे बड़ी सीमा यह थी कि मताधिकार का विस्तार बहुत सीमित था। मतदान का अधिकार वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता था जिसके पास निर्धारित मूल्य की भूमि, घर या संपत्ति हो। इसके परिणामस्वरूप मजदूर, खदान श्रमिक, कारखाना मजदूर, ग्रामीण कृषक, कारीगर और सामान्य सेवा–कर्मचारी — सभी इसमें शामिल नहीं हुए। शहरी क्षेत्रों में रहने वाले लाखों मजदूर जो औद्योगिक विकास की रीढ़ थे, राजनीतिक रूप से अब भी असहाय बने रहे।

इसके अतिरिक्त महिलाओं को पूरी तरह मताधिकार से बाहर रखा गया। सामाजिक नैतिकता और "राजनीति पुरुषों का क्षेत्र है" जैसी रूढ़ मान्यताओं के आधार पर महिलाओं की अनदेखी की गई। सुधार अधिनियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि इंग्लैंड का लोकतंत्र अभी भी "संपत्ति और लिंग के आधार पर सीमित अधिकार" की अवधारणा को पोषित कर रहा था। इस कारण महिला अधिकार आंदोलनों की चेतना भी प्रारंभिक रूप में विकसित होने लगी।

सुधार अधिनियम के पारित होने के बाद चुनावी प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भ्रष्टाचार में कुछ सीमा तक कमी आई, किंतु अभिजात्य और धनिकों का नियंत्रण समाप्त नहीं हुआ। कई निर्वाचन क्षेत्रों में अब भी ज़मींदारों और उद्योगपतियों का प्रभाव इतना प्रबल था कि श्रमिक वर्ग चुनावों में भाग लेकर भी स्वतंत्र राजनीतिक राय व्यक्त करने में सक्षम नहीं होता था। गुप्त मतदान की अनुपस्थिति का अर्थ था कि नियोक्ता और मालिक अपने श्रमिकों एवं किरायेदारों पर राजनीतिक दबाव डाल सकते थे।

इन सब कारणों से श्रमिक वर्ग में व्यापक निराशा उत्पन्न हुई। मजदूरों को लगने लगा कि राजनीतिक सुधार केवल एक वर्ग से दूसरे वर्ग को सत्ता स्थानांतरित करने का साधन है, न कि जन–साधारण को राजनीतिक अधिकार देने का प्रयास। इसलिए राजनीतिक सुधार के परिणामस्वरूप श्रमिक आंदोलन और अधिक दृढ़ हो गया। मजदूर वर्ग ने राजनीतिक अधिकार को अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए आवश्यक माना और इसने अंग्रेज़ी राजनीति में लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष को नई दिशा दी।

सुधार अधिनियम की सीमाओं ने व्यापक असंतोष को संगठित राजनीतिक आंदोलन में बदलने की प्रक्रिया तेज़ की। 1830 के दशक के अंत से 1840 के दशक के मध्य तक इंग्लैंड में श्रमिक वर्ग ने अखिल-राष्ट्रीय पैमाने पर राजनीतिक चेतना विकसित की, सभाएँ कीं, जनयाचिकाएँ प्रस्तुत कीं, और नेतृत्व की एक नयी विचारधारा उभरी — वही आंदोलन आगे चलकर "चार्टिस्ट आंदोलन" के रूप में विकसित हुआ। श्रमिकों ने महसूस किया कि यदि राजनीतिक ढाँचा उनकी आवाज़ अनसुनी करता है, तो संगठित संघर्ष के अलावा कोई विकल्प नहीं।

इतिहासकार इस तथ्य पर सहमत हैं कि 1832 का सुधार अधिनियम अपनी सीमाओं के कारण ही अधिक व्यापक राजनीतिक बदलाव की नींव बन गया। संसद ने सुधार के लिए पहला दरवाज़ा खोला, लेकिन बंद दरवाज़ों की संख्या इतनी अधिक थी कि संघर्ष अनिवार्य हो गया। सुधार अधिनियम से जन्मा असंतोष इंग्लैंड के लोकतांत्रिक विकास की प्रक्रिया में एक निर्णायक प्रेरक शक्ति बना।

3.5 चार्टिस्ट आंदोलन : पृष्ठभूमि और उद्भव

सुधार अधिनियम (1832) के बाद इंग्लैंड में श्रमिक वर्ग को अपेक्षित राजनीतिक अधिकार नहीं मिले, बल्कि अधिनियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि सत्ता और संसदीय अधिकार अभी भी संपत्ति-आधारित विशेषाधिकार तक ही सीमित हैं। श्रमिक वर्ग की निराशा राजनीतिक चेतना में बदलने लगी और लोगों ने समझा कि उनके आर्थिक हितों की रक्षा तभी संभव होगी जब वे सार्वभौमिक मताधिकार तथा संसद में प्रतिनिधित्व प्राप्त करेंगे। यह भावना धीरे–धीरे एक व्यापक जन आंदोलन के रूप में उभरी, जो आगे चलकर "चार्टिस्ट आंदोलन" कहलाया।

1830 के दशक में आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यंत प्रतिकूल थीं। औद्योगिक विस्तार के बावजूद मजदूरी बहुत कम थी, बेरोजगारी बढ़ रही थी, कारखानों में कार्य-दशाएँ कठोर थीं और बाल श्रम तथा महिलाओं के असुरक्षित श्रम का प्रचलन भी व्यापक था। साथ ही खाद्या–संकट, अकाल और अपराध दर में वृद्धि ने सामाजिक असंतोष को और गहरा किया। इसलिए जनसामान्य को यह अनुभव होने लगा कि उनकी आर्थिक दयनीयता केवल आर्थिक नीतियों का परिणाम नहीं, बल्कि राजनीतिक अधिकारों की अनुपस्थिति का परिणाम है।

चार्टिस्ट आंदोलन के उद्भव में औद्योगिक नगरों में बढ़ते शहरीकरण की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। हजारों मजदूर फैक्टरियों के कारण एक ही स्थान पर इकट्ठा होने लगे, जिससे राजनीतिक चर्चा, जनसभाएँ और सामूहिक विरोध आसान हो गया। श्रमिक–समुदायों के बीच अख़बारों, पुस्तिकाओं और भाषणों के माध्यम से राजनीतिक जागरूकता का तेजी से प्रसार हुआ। मजदूर वर्ग ने समझा कि उनकी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के लिए संसद में प्रवेश और फैसला लेने में भागीदारी आवश्यक है।

चार्टिस्ट आंदोलन के उद्भव में ट्रेड यूनियनों की भूमिका भी उल्लेखनीय थी। यद्यपि कई ट्रेड यूनियनें कानूनी प्रतिबंधों के कारण औपचारिक रूप से सक्रिय नहीं हो सकती थीं, फिर भी वे मजदूरों के संगठन, संरक्षण और राजनीतिक शिक्षण के गुप्त या अनौपचारिक मंच बनी रहीं। इन यूनियनों के विचारों ने चार्टिस्ट आंदोलन को वर्ग-आधारित राजनीतिक स्वरूप दिया।

इस आंदोलन की वैचारिक प्रेरणा में उदारवाद, लोकतंत्र और मानवाधिकारों के आधुनिक विचार भी शामिल थे। फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिकी क्रांति तथा यूरोप में स्वतंत्रता और समानता के लिए संघर्षों ने अंग्रेज़ी मजदूरों को प्रभावित किया। श्रमिक वर्ग ने यह स्वीकार किया कि राजनीतिक अधिकार और आर्थिक सुधार परस्पर जुड़े हुए हैं, और लोकतांत्रिक राजनीतिक ढाँचे के बिना सामाजिक व आर्थिक न्याय की कल्पना संभव नहीं।

चार्टिस्ट आंदोलन के नेतृत्व और संगठन में अतिवादियों (Radicals), सामाजिक सुधारकों, श्रमिक नेताओं और राजनीतिक पत्रकारों ने मिलकर योगदान दिया। विलियम लवेट, फियरगस ओ'कॉनर, ब्रॉटीरे ओ'ब्रायन जैसे नेता मजदूरों के राजनीतिक अधिकारों को जन–आंदोलन के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण रहे। 1837 में विलियम लवेट द्वारा तैयार किए गए दस्तावेज़ — पीपुल्स चार्टर (People's Charter) — ने इस आंदोलन को औपचारिक नाम व वैचारिक ढाँचा प्रदान किया।

चार्टर में पाँच–छह प्रमुख राजनीतिक माँगें दर्ज थीं, और इन्हीं के आधार पर आंदोलन का नाम पड़ा — चार्टिस्ट आंदोलन। ये माँगें किसी वर्ग विशेष के हित की नहीं, बल्कि लोकतंत्र के सार्वभौमिक आधार को स्थापित करने की दिशा में थीं। आंदोलन का स्पष्ट संदेश था कि यदि संसद जनता के हितों की संस्था है, तो जनता के प्रत्येक वयस्क सदस्य को संसद को चुनने का अधिकार मिलना चाहिए।

इस प्रकार, चार्टिस्ट आंदोलन का उद्भव केवल श्रमिक वर्ग की आर्थिक पीड़ा का परिणाम नहीं था, बल्कि यह राजनीतिक अधिकारों, लोकतांत्रिक आदर्शों और सामाजिक न्याय की समन्वित अभिव्यक्ति के रूप में उभरा। यह

आंदोलन इंग्लैंड में लोकतांत्रीकरण का सबसे व्यापक जन–उभार था, जिसने राजनीतिक प्रणाली को जनता की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को सुनने के लिए बाध्य किया।

3.6 पीपुल्स चार्टर : छह प्रमुख माँगें और उनका महत्व

चार्टिस्ट आंदोलन तब तक केवल असंतोष और विरोध की अभिव्यक्ति था, जब तक कि उसकी राजनीतिक आकांक्षाओं को औपचारिक रूप से एक संगठित दस्तावेज़ का रूप नहीं मिल गया। यह महत्वपूर्ण मोड़ वर्ष 1837 में तब आया, जब आंदोलन के प्रमुख नेता विलियम लवेट ने मजदूर वर्ग की सामूहिक माँगों को संकलित कर एक ऐतिहासिक राजनीतिक दस्तावेज़ के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे "पीपुल्स चार्टर (People's Charter)" कहा गया। इसी दस्तावेज़ पर आधारित होने के कारण आंदोलन को आगे से चार्टिस्ट आंदोलन नाम मिला। यह चार्टर उस युग में लोकतांत्रिक राजनीतिक अधिकारों का सबसे सशक्त घोषणापत्र माना गया।

चार्टर की मूल भावना यह थी कि यदि संसद पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करती है, तो राजनीतिक सत्ता का आधार संपत्ति नहीं, व्यक्ति होना चाहिए। इसका अर्थ यह था कि प्रत्येक वयस्क पुरुष को, चाहे वह मजदूर हो, किसान या सेवा–कर्मी, संसद चुनाव में भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इस सिद्धांत को सामंती विशेषाधिकार और पूँजीवादी नियंत्रण के विरुद्ध एक चुनौती माना गया, जिसने इस आंदोलन को वैचारिक रूप से मजबूत किया।

पीपुल्स चार्टर में लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए छह प्रमुख माँगें दर्ज थीं। ये माँगें न केवल मताधिकार तक सीमित थीं, बल्कि चुनाव प्रक्रिया, कार्यकाल, पारिश्रमिक, गुप्त मतदान और प्रतिनिधित्व की पद्धति में संरचनात्मक बदलाव लाना चाहती थीं। इन छः माँगों के माध्यम से चार्टिस्टों ने इंग्लैंड के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में संस्थागत लोकतंत्र स्थापित करने की दिशा में निर्णायक कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

पीपुल्स चार्टर की छह प्रमुख माँगों को सारणी के रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है:

क्रमांक	**चार्टर की माँग**	**अर्थ और उद्देश्य**
1	**सर्वजन वयस्क मताधिकार (Universal Adult Male Suffrage)**	प्रत्येक 21 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष को मतदान का अधिकार
2	**गुप्त मतदान (Secret Ballot)**	चुनाव में दबाव, भय और रिश्वत के प्रभावों को समाप्त करना
3	**चुनावी क्षेत्रों का समान विभाजन (Equal Electoral Districts)**	प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में जनसंख्या के आधार पर समान प्रतिनिधित्व
4	**संसद सदस्यों का पारिश्रमिक (Payment of MPs)**	श्रमिक वर्ग के लोगों को भी आर्थिक कठिनाइयों के बिना सांसद बनने का अवसर

5	**संसदीय चुनावों में संपत्ति योग्यता समाप्त करना (No Property Qualification for MPs)**	सांसद पद को केवल अमीरों और जमींदारों के हाथ में सीमित रहने से रोकना
6	**वार्षिक चुनाव (Annual Parliaments)**	सांसदों को जनता के प्रति जिम्मेदार बनाए रखना और सत्ता का केंद्रीकरण रोकना

ये माँगें केवल राजनीतिक सुधार की तकनीकी सूची नहीं थीं, बल्कि सामाजिक न्याय और लोकतंत्र के मूल्यों की संरचना का खाका थीं। गुप्त मतदान की माँग ने श्रमिकों को मालिकों और अभिजात वर्ग के राजनीतिक दबाव से मुक्त करने का मार्ग प्रदान किया; सांसदों को वेतन देने की माँग ने राजनीति को केवल अमीरों का क्षेत्र बने रहने से रोकने की दिशा में महत्वपूर्ण पहल की। इसी प्रकार समान निर्वाचन क्षेत्र की अवधारणा ने जनसंख्या–आधारित प्रतिनिधित्व की आधुनिक लोकतांत्रिक प्रथा को जन्म दिया।

भले ही तत्कालीन शासक वर्ग और संसद ने चार्टर की इन माँगों को "क्रांतिकारी" और "अव्यावहारिक" बताकर अस्वीकार किया, लेकिन इन सिद्धांतों की ऐतिहासिक प्रासंगिकता निर्विवाद है। आने वाले दशकों में ब्रिटेन की लगभग सभी लोकतांत्रिक सुधार—1872, 1884, 1918, 1928 और 1945 तक — किसी न किसी रूप में इसी चार्टर की माँगों को लागू करते गए। इस प्रकार चार्टर उन मूलभूत सिद्धांतों का घोषणापत्र बन गया, जिन पर आधुनिक ब्रिटिश लोकतंत्र स्थापित हुआ।

सारांशतः, पीपुल्स चार्टर ने श्रमिक वर्ग की राजनीतिक आकांक्षाओं को वैचारिक और संरचनात्मक स्वरूप दिया। यह दस्तावेज़ केवल उस समय के लिए नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक इतिहास के लिए समानता, प्रतिनिधित्व और राजनीतिक अधिकार के विमर्श का अंतरराष्ट्रीय प्रतीक बनकर सामने आया। इसके माध्यम से राजनीतिक नागरिकता का अर्थ पहली बार पूरे समाज के अधिकार के रूप में विकसित हुआ, न कि किसी वर्ग–विशेष के विशेषाधिकार के रूप में।

3.7 चार्टिस्ट आंदोलन की रणनीतियाँ, नेतृत्व और संगठनात्मक स्वरूप

चार्टिस्ट आंदोलन केवल भावनात्मक विरोध नहीं, बल्कि एक सुविचारित, संगठित और रणनीतिक राजनीतिक जन–आंदोलन था। इसकी रणनीतियाँ समय के साथ विकसित होती रहीं — प्रारंभ में शांतिपूर्ण याचिका और लोकतांत्रिक तरीके अपनाए गए, परंतु बाद में दमन और अस्वीकृति के कारण विद्रोही और प्रतिरोधी तरीकों की भी झलक दिखाई दी। आंदोलन की नेतृत्व–संरचना और संगठनात्मक क्षमता इतनी व्यापक थी कि उसने पूरे इंग्लैंड में श्रमिक वर्ग को एक साझा राजनीतिक लक्ष्य के लिए संगठित किया।

रणनीतियों की दृष्टि से प्रारंभिक चरण में संसद के समक्ष याचिका प्रस्तुत करना (Petitioning) आंदोलन का मुख्य साधन था। चार्टिस्टों का विश्वास था कि यदि जनता की इच्छाओं को औपचारिक और क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया जाए तो संसद लोकतांत्रिक सुधार के लिए बाध्य होगी। परिणामस्वरूप 1839, 1842 और 1848 में जनमत-संग्रह के आधार पर विशाल याचिकाएँ संसद को सौंपने की योजना बनाई गई। इनमें क्रमशः लगभग 13 लाख, 32 लाख और फिर 50 लाख हस्ताक्षर दर्ज थे — जो उस समय की ब्रिटिश आबादी की तुलना में अभूतपूर्व थे।

आंदोलन ने जनसभाओं, सार्वजनिक भाषणों, राजनीतिक शिक्षा और जागरूकता अभियानों को भी प्रमुख रणनीति के रूप में अपनाया। लंदन, बर्मिंघम, मैनचेस्टर, लीड्स और ग्लासगो जैसे औद्योगिक शहर आंदोलन के प्रमुख केंद्र बने। चार्टिस्ट नेताओं ने मजदूरों को न केवल राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूक किया, बल्कि उन्हें यह भी समझाया कि अधिकार प्राप्ति सामूहिक संघर्ष से ही संभव है। समाचार पत्रों — जैसे Northern Star — ने आंदोलन की वैचारिक दिशा मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नेतृत्व के संदर्भ में चार्टिस्ट आंदोलन में विविध सामाजिक पृष्ठभूमि और विचारधाराओं के नेता शामिल थे। विलियम लवेट शांतिपूर्ण और संवैधानिक तरीकों के समर्थक थे, जबकि फियरगस ओ'कॉनर जन–उत्साह, प्रतिरोध और जन–दबाव पर बल देते थे। ब्रॉटीरे ओ'ब्रायन, हेनरी विन्सेंट, जॉर्ज जूलियन हार्नी आदि नेता मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी और समाज–परिवर्तनकारी विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस बहुलवादी नेतृत्व ने आंदोलन को व्यापक आधार दिया, यद्यपि विचारधारात्मक मतभेदों के कारण समय–समय पर तनाव भी उत्पन्न हुआ।

संगठनात्मक संरचना की बात करें तो चार्टिस्ट आंदोलन ने स्थानीय शाखाएँ, राष्ट्रीय सम्मेलन, श्रमिक समितियाँ और जनप्रतिनिधि परिषदें स्थापित कीं। इसका संगठन श्रमिक संघों, सहकारी समितियों, राजनीतिक क्लबों और कार्यस्थल समुदायों के माध्यम से फैला। इससे आंदोलन की पहुँच कारखानों, खदानों, बंदरगाहों, रेलवे कार्यस्थलों और ग्रामीण श्रमिक समुदायों तक हो सकी। चार्टिस्ट आंदोलन इंग्लैंड में संगठित श्रमिक राजनीति की पहली व्यापक प्रयोगशाला कहा जा सकता है।

कानूनी और शांतिपूर्ण रणनीतियों के साथ-साथ कुछ चरणों में प्रसंग आधारित प्रतिरोधवादी तरीकों का उपयोग भी किया गया। उच्च कराधान और कठोर श्रम कानूनों के विरोध में हड़तालें, मज़दूरी बंदी और फैक्टरी कार्य का बहिष्कार भी हुआ। कुछ क्षेत्रों में सरकार के कठोर दमन के जवाब में हिंसक प्रतिक्रियाएँ भी दिखाई दीं, परंतु यह आंदोलन की मुख्यधारा नहीं थीं। कुल मिलाकर चार्टिस्ट विचारधारा लोकतांत्रिक अधिकार प्राप्ति के लिए सामूहिक जन–शक्ति को संगठित करने पर केंद्रित थी।

चार्टिस्ट आंदोलन की सबसे बड़ी शक्ति उसकी जनसंख्या आधारित संगठनात्मक संरचना थी। लगभग सर्वत्र फैला श्रमिक वर्ग पहली बार एक साझा राजनीतिक लक्ष्य के लिए एक मंच पर आया। आंदोलन ने श्रमिकों को यह एहसास कराया कि वे केवल उत्पादन शक्ति नहीं, बल्कि राजनीतिक नागरिक भी हैं — और सत्ता के निर्णयों में उनकी भागीदारी अनिवार्य है।

इस प्रकार चार्टिस्ट आंदोलन ने सामूहिक संगठन, विचारधारात्मक नेतृत्व, और जनता–आधारित राजनीतिक रणनीतियों के माध्यम से इंग्लैंड में लोकतांत्रिक चेतना को स्थायी रूप से स्थापित किया। यह आंदोलन केवल सुधारों की माँग करने वाली राजनीतिक प्रक्रिया नहीं था, बल्कि जन-भागीदारी और राजनीतिक अधिकार के आधुनिक सिद्धांत का आधार–स्तंभ था।

3.8 चार्टिस्ट आंदोलन की असफलता के कारण — राजनीतिक, आर्थिक और संगठनात्मक विश्लेषण

चार्टिस्ट आंदोलन इंग्लैंड में श्रमिक वर्ग द्वारा राजनीतिक अधिकारों के विस्तार हेतु चलाया गया एक महत्वपूर्ण जनांदोलन था, परंतु 1830–1850 के बीच व्यापक जनसमर्थन के बावजूद यह तत्कालीन उद्देश्यों को हासिल करने में पूर्णतः सफल नहीं हो पाया। इसकी असफलता का पहला प्रमुख कारण ब्रिटिश शासक वर्ग की कठोर और संगठित राजनीतिक प्रतिरोध नीति थी। संसद, राज-तंत्र समर्थक राजनीति और पुलिस तंत्र — सभी आंदोलनों को दमन के माध्यम से शांत करने के पक्ष में थे। सरकार ने चार्टिस्ट नेताओं को राष्ट्र के लिए खतरा बताकर जनमत को उनके विरुद्ध मोड़ने का प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप व्यापक सामाजिक सहानुभूति आंदोलित होकर भी राजनीतिक समर्थन में परिवर्तित नहीं हो सकी।

दूसरा कारण था — चार्टिस्ट मांगों की प्रकृति। आंदोलन का "पीपुल्स चार्टर" वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान, वार्षिक चुनाव जैसी राजनीतिक मांगों पर आधारित था, जो तत्कालीन सत्ताधारी वर्ग के लिए व्यवस्था-परिवर्तनकारी थीं। इस कारण पार्लियामेंट ने मांगें स्वीकार करने की कोई तत्परता नहीं दिखाई। 1832 के रिफ़ॉर्म एक्ट से मध्यम वर्ग को तो राजनीतिक लाभ मिल गया, लेकिन मजदूर वर्ग वंचित रह गया; परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग का चार्टवाद से धीरे-धीरे अलग होना आंदोलन की ताकत को कमजोर कर गया।

आर्थिक कारकों ने भी असफलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1830 के दशक की आर्थिक मंदी, बेरोज़गारी और मजदूरी कटौती के दौरान आंदोलन में भारी जनसहभागिता दिखी, लेकिन जैसे ही 1840 के दशक के मध्य में अर्थव्यवस्था में सुधार आया, श्रमिकों का उत्साह घटने लगा। लोगों की प्राथमिकता तत्काल आर्थिक राहत की ओर झुक गई और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए लंबा संघर्ष जारी रखना कठिन हो गया। इससे आंदोलन की सक्रियता और निरंतरता दोनों प्रभावित हुए।

संगठनात्मक एकता की कमी भी असफलता का बड़ा कारण थी। चार्टिस्ट आंदोलन के भीतर मध्यमार्गी (Moral Force) और उग्रवादियों (Physical Force) के बीच रणनीति को लेकर तीव्र मतभेद थे। मध्यमार्गी नेतृत्व शांतिपूर्ण जनपेटिशन और नैतिक दबाव को पर्याप्त मानता था, जबकि उग्रवादी वर्ग हिंसात्मक विद्रोह तथा हथियारबंद संघर्ष को आवश्यक बताता था। इन दो धाराओं के बीच समन्वय की कमी ने आंदोलन की दिशा और नेतृत्व क्षमता को कमजोर किया।

नेतृत्व-संबंधी समस्याएँ भी असफलता में महत्वपूर्ण रहीं। चार्टिस्ट नेतृत्व करिश्माई तो था, परंतु विचारधारात्मक मतभेद और व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता के कारण नेतृत्व एक सामूहिक, रणनीतिक और दीर्घकालिक दिशा प्रदान नहीं कर सका। कई नेता गिरफ्तारी और सजा के डर से सतर्क हो गए, जिसके चलते निर्णायक क्षणों में नेतृत्व का अभाव आंदोलन की ताकत को कम करता गया।

आंदोलन की सामाजिक आधार सी सीमित रही। हालाँकि चार्टवाद को औद्योगिक मजदूरों का व्यापक समर्थन मिला, लेकिन ग्रामीण आबादी इससे पूरी तरह नहीं जुड़ सकी। बहुत-से कारीगर, छोटे व्यापारी, और गृहस्वामी सोचते थे कि मांगें श्रमिक वर्ग को ही लाभ पहुँचाएंगी और उन्हें नुकसान। सामाजिक आधार का यह विभाजन आंदोलन को एक समग्र, राष्ट्रीय जनांदोलन के रूप में स्थापित होने से रोकता रहा।

इसके अतिरिक्त, चार्टवाद की समय-संवेदनशीलता भी एक चुनौती थी। यह आंदोलन उस अवधि में चरम पर पहुंचा जब इंग्लैंड का औद्योगिक ढांचा अस्थिर था। जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ स्थिर होती गईं, मजदूर वर्ग के लिए जोखिम लेकर संघर्ष जारी रखना कठिन होता गया। इस अस्थिर-से-स्थिर परिवर्तन के दौरान आंदोलन की गति स्वाभाविक रूप से कम होती गई।

अंततः, चार्टिस्ट आंदोलन तत्कालीन राजनीतिक प्रतिरोध, आर्थिक सुधारों की चरणबद्धता, मध्यम वर्ग की दूरी, संगठनात्मक मतभेद और सामाजिक आधार के सीमित विस्तार के कारण अपने घोषित उद्देश्यों को तुरंत प्राप्त नहीं कर पाया। फिर भी, इसकी ऐतिहासिक विफलता केवल तत्काल परिणामों के आधार पर नहीं आँकी जानी चाहिए — यह आंदोलन आगे चलकर लोकतांत्रिक अधिकारों, श्रमिक राजनीति और प्रतिनिधि शासन की आधारशिला बनाने वाले दीर्घकालीन प्रभावों का वाहक बना। इंग्लैंड में 1867 और 1884 के रिफ़ॉर्म एक्ट सहित अनेक सुधारों में चार्टवाद की प्रतिध्वनि स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इसलिए, चार्टिज़्म भले ही अल्पकालिक रूप से असफल रहा, परंतु दूरगामी लोकतांत्रिक परिवर्तन का निर्णायक प्रेरक सिद्ध हुआ।

3.9 आलोचनात्मक मूल्यांकन

चार्टिस्ट आंदोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते समय हमें इसके ऐतिहासिक संदर्भ, तात्कालिक उपलब्धियों, दीर्घकालीन प्रभावों और वैचारिक सीमाओं — सभी पर समग्र दृष्टि डालनी चाहिए। पारंपरिक इतिहासलेखन में इस आंदोलन को अक्सर उसकी 'विफलता 'के परिप्रेक्ष्य में देखा गया, क्योंकि इसकी छह प्रमुख मांगें तत्काल स्वीकार नहीं की गईं। परंतु आधुनिक इतिहासकार इस निष्कर्ष को अधूरा मानते हैं और चार्टवाद को ब्रिटेन में लोकतांत्रिक विस्तार के लिए एक निर्णायक मोड़ के रूप में व्याख्यायित करते हैं। आंदोलन के वास्तविक योगदान का मूल्यांकन केवल इसके अल्पकालीन राजनीतिक परिणामों तक सीमित नहीं रखा जा सकता।

चार्टवाद की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसने पहली बार श्रमिक वर्ग को संगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने का अवसर दिया। औद्योगिक क्रांति के बाद श्रम-आधारित व्यापक जनसमूह आर्थिक शोषण और सामाजिक असमानता का सामना कर रहा था, परंतु राजनीतिक प्रतिनिधित्व न होने के कारण उनकी आवाज़ शक्तिसंरचनाओं तक नहीं पहुँचती थी। चार्टवाद ने उन वर्गों को राजनीतिक चेतना, संगठन और संघर्ष के महत्व से परिचित कराया जो लंबे समय तक राजनीतिक विमर्श के बाहर थे। यह पहल 19वीं सदी के ब्रिटिश लोकतंत्रीकरण का आधार बनी।

इस आंदोलन का योगदान केवल राजनीतिक मांगों तक सीमित नहीं था। चार्टिस्ट आंदोलन का व्यापक सामाजिक-राजनीतिक एजेंडा लोकतांत्रिक संस्कृति और सहभागी शासन की धारणा को बढ़ावा देता था। चार्टिस्ट समाचारपत्रों, जनसभाओं, शिक्षा संगोष्ठियों और जागरूकता अभियानों के माध्यम से राजनीतिक बहस आमजन तक पहुँची, जिससे लोकतंत्र अभिजात वर्ग की परिधि से निकलकर जनता की रोजमर्रा की चर्चाओं का हिस्सा बन गया। इसी प्रक्रिया ने आगे चलकर यूनियनों, सहकारी समितियों और श्रमिक संगठनों के विकास को मजबूत आधार प्रदान किया।

हालाँकि, चार्टिस्ट आंदोलन की सीमाएँ भी कम नहीं थीं। संगठित संघर्ष के बावजूद आंदोलन एक समान नेतृत्व, रणनीति और कार्यक्रमिक एकता विकसित नहीं कर पाया। हिंसक और अहिंसक, संवैधानिक और उग्रवादी धाराओं के बीच

निरंतर मतभेद ने आंदोलन की प्रभावकारिता को कम किया। इसके अतिरिक्त, मध्य वर्ग का दूरी बनाना तथा ग्रामीण समाज का सीमित जुड़ाव — इसे संपूर्ण राष्ट्रीय जनांदोलन बनने से रोकता रहा। इसके परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग की राजनीतिक आकांक्षाएँ व्यापक वर्गीय गठबंधन का रूप नहीं ले सकीं।

आलोचकों का एक मत यह भी है कि चार्टवाद अपने सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की व्याख्या में पर्याप्त स्पष्टता स्थापित नहीं कर पाया। उस युग में मजदूर वर्ग की प्राथमिकता मजदूरी, काम के घंटे और रोज़गार सुरक्षा जैसे तत्काल आर्थिक मुद्दे थे, जबकि चार्टिज़्म का जोर अधिकतर राजनीतिक सुधारों पर था। आर्थिक संघर्ष और राजनीतिक मांगों की यह असामंजस्यता आंदोलन के संदेश को जनसामान्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं कर पाई।

इसके बावजूद, आंदोलन के ऐतिहासिक महत्व को कम करके नहीं आँका जा सकता। चार्टिज़्म ने ब्रिटेन में लोकतंत्र की दिशात्मक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान, निर्वाचन क्षेत्रों का न्यायसंगत वितरण और प्रतिनिधित्व के अधिकार — ये सभी पहलें बाद के सुधारों में क्रमशः स्वीकार हुईं। दूसरे शब्दों में, चार्टिस्ट मांगों को इतिहास ने अंततः मान्यता दी, यद्यपि क्रमिक और दीर्घकालिक रूप में।

इस प्रकार, चार्टिस्ट आंदोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन यह स्पष्ट करता है कि इसकी वास्तविक उपलब्धि राजनीतिक व्यवस्था के त्वरित परिवर्तन में नहीं, बल्कि लोकतंत्र को सामाजिक आधार, वर्गीय चेतना, जनभागीदारी की भावना और राजनीतिक अधिकारों के प्रसार के रूप में स्थापित करने में निहित है। अल्पकालिक दृष्टि से भले ही आंदोलन असफल प्रतीत होता हो, किंतु दीर्घकालिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह ब्रिटेन के आधुनिक राजनीतिक ढांचे और वैश्विक लोकतांत्रिक आंदोलनों के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

3.10 सारांश

इस इकाई में इंग्लैंड में उदारवाद के विकास, 1832 के रिफ़ॉर्म एक्ट तथा चार्टिस्ट आंदोलन का विस्तृत अध्ययन किया गया। औद्योगिक क्रांति के बाद उभरते सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों, वर्गीय तनावों और राजनीतिक बहिष्करण की पृष्ठभूमि में इंग्लैंड में उदारवादी विचारों ने लोकतांत्रिक अधिकारों के विस्तार की दिशा में नए रास्ते प्रस्तुत किए। 1832 के रिफ़ॉर्म एक्ट ने निर्वाचन प्रणाली में कुछ महत्वपूर्ण सुधार करते हुए राजनीतिक प्रतिनिधित्व को आंशिक रूप से विस्तारित किया, किंतु श्रमिक वर्ग को इसमें उचित स्थान न मिल पाने के कारण व्यापक असंतोष उत्पन्न हुआ।

इसी असंतोष की परिणति चार्टिस्ट आंदोलन के रूप में हुई, जिसने "पीपुल्स चार्टर" के माध्यम से छह प्रमुख लोकतांत्रिक मांगें रखीं — जिनमें वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान, समान निर्वाचन क्षेत्र तथा वार्षिक चुनाव प्रमुख थे। यद्यपि आंदोलन ने विशाल जनसमर्थन प्राप्त किया और इंग्लैंड के इतिहास में श्रमिक वर्ग की पहली संगठित राजनीतिक चेतना का निर्माण किया, फिर भी राजनीतिक दमन, नेतृत्वगत मतभेदों, मध्यम वर्ग के समर्थन के अभाव और आर्थिक परिस्थितियों में सुधार के कारण यह तत्कालीन मांगों को पूरा करने में सफल नहीं हो सका।

फिर भी, चार्टिज़्म को केवल अल्पकालिक परिणामों के आधार पर नहीं आँका जाना चाहिए। इस आंदोलन ने इंग्लैंड में लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्कृति, जनभागीदारी, राजनीतिक अधिकार चेतना और श्रमिक वर्ग के संगठनात्मक विकास

की आधारशिला रखी। 19वीं शताब्दी के बाद के सुधार अधिनियम — विशेषकर 1867 और 1884 — ने चार्टिस्ट मांगों को क्रमिक रूप से स्वीकार किया, जो इसके दीर्घकालिक योगदान को प्रमाणित करते हैं।

समग्र रूप से कहा जाए तो 1832 का रिफ़ॉर्म एक्ट और चार्टिस्ट आंदोलन इंग्लैंड में उदारवाद और लोकतंत्र के ऐतिहासिक विकास की दो निर्णायक कड़ियाँ हैं। पहला सुधार मध्यम वर्ग को राजनीति में स्थान देने का प्रारंभिक कदम था, जबकि चार्टिज़्म राजनीतिक अधिकारों के व्यापक सामाजिक विस्तार और लोकतांत्रिक मूल्यों के जनाधार निर्माण की दिशा में मील का पत्थर सिद्ध हुआ। अतः इंग्लैंड का लोकतंत्रीकरण किसी एक घटना का परिणाम नहीं, बल्कि क्रमिक सुधारों और संघर्षों की लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी — जिसमें चार्टिज़्म का योगदान केंद्रीय और अमिट है।

3.11 शब्दावली

शब्द / अवधारणा	संक्षिप्त अर्थ
उदारवाद (Liberalism)	एक राजनीतिक विचारधारा जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक अधिकारों, विधि के शासन और नागरिक समानता पर आधारित है।
औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution)	18वीं–19वीं सदी में उत्पादन के मशीनों पर आधारित होने के कारण यूरोप — विशेषकर इंग्लैंड — में आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी परिवर्तन की प्रक्रिया।
1832 का रिफ़ॉर्म एक्ट (Reform Act of 1832)	ब्रिटेन में निर्वाचन व्यवस्था में सुधार हेतु पारित अधिनियम जिसने मध्यम वर्ग को राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान किया।
चार्टिस्ट आंदोलन (Chartist Movement)	श्रमिक वर्ग द्वारा 1830–1850 के बीच संचालित लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए जनआंदोलन; "पीपुल्स चार्टर" इसकी मुख्य दस्तावेज़ी मांग थी।
पीपुल्स चार्टर (People's Charter)	वर्ष 1838 में प्रस्तुत दस्तावेज़ जिसमें छह लोकतांत्रिक मांगें शामिल थीं — जैसे वयस्क पुरुष मताधिकार और गुप्त मतदान।
वयस्क मताधिकार (Universal Adult Franchise)	किसी भी व्यक्ति को उसके आर्थिक, सामाजिक, जातीय या संपत्ति-स्वामित्व की स्थिति से परे वोट देने का अधिकार।
गुप्त मतदान (Secret Ballot)	ऐसी मतदान प्रणाली जिसमें मतदाता की पसंद गोपनीय रखी जाती है, जिससे दबाव या प्रतिशोध का भय समाप्त होता है।
समान निर्वाचन क्षेत्र (Equal Constituencies)	सभी निर्वाचन क्षेत्रों में जनसंख्या का संतुलित और न्यायसंगत वितरण, ताकि प्रतिनिधित्व आनुपातिक हो सके।
वार्षिक चुनाव (Annual Parliamentary Elections)	संसद सदस्यों के पुनर्निर्वाचन के लिए हर वर्ष चुनाव करवाने की मांग — ताकि जनता सांसदों को सीधे जिम्मेदार बना सके।

मजदूर वर्ग (Working Class / Proletariat)	श्रमिकों का वह समूह जो वेतन या मजदूरी पर निर्भर होकर उद्योगों, खदानों और कारखानों में श्रम करता है।
मोरल फोर्स चार्टिस्ट (Moral Force Chartists)	चार्टिस्ट नेताओं का शांतिपूर्ण गुट जो संवैधानिक मार्गों, याचिकाओं और वार्ताओं से अधिकार प्राप्ति का पक्षधर था।
फिजिकल फोर्स चार्टिस्ट (Physical Force Chartists)	आंदोलन का उग्रवादी गुट जो दमन की स्थिति में हिंसात्मक विद्रोह और प्रत्यक्ष संघर्ष का समर्थक था।
राजनीतिक दमन (Political Repression)	सरकार द्वारा आंदोलनों, सभाओं, प्रेस और नेताओं को बल, कानून या भय के माध्यम से दबाने की प्रक्रिया।
लोकतांत्रिक संस्कृति (Democratic Culture)	नागरिक अधिकारों, राजनीतिक भागीदारी, चुनावी प्रक्रिया और शासन की जवाबदेही के मूल्यों को प्रोत्साहित करने वाली सामाजिक प्रवृत्ति।
प्रतिनिधिक शासन (Representative Government)	ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन में भाग लेती है।

3.12 अभ्यास प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न (Essay Type Questions)

1. 1832 का रिफ़ॉर्म एक्ट और चार्टिस्ट आंदोलन ने इंग्लैंड में उदारवाद और लोकतंत्र के विकास में कैसी निर्णायक भूमिका निभायी?
2. पीपुल्स चार्टर के माध्यम से चार्टिस्ट आंदोलन ने राजनीतिक अधिकारों और लोकतांत्रिक मूल्य की स्थापना में किस प्रकार योगदान दिया?
3. चार्टिस्ट आंदोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए उसके ऐतिहासिक महत्व और दीर्घकालिक प्रभाव पर चर्चा करें।

3.13 संदर्भ सूची

1. Briggs, Asa. The Age of Improvement: 1783–1867. Longman, 1959.
2. Chase, Malcolm. Chartism: A New History. Manchester University Press, 2007.
3. Epstein, James. The Chartist Movement: A Study of Working-Class Radicalism in Britain 1838–1854. Macmillan, 1966.

4. Hobsbawm, E. J. Industry and Empire: The Birth of the Industrial Revolution. Penguin, 1999.
5. Thompson, E. P. The Making of the English Working Class. Vintage, 1966.
6. Smith, F. B. The Making of the Second Reform Bill. Cambridge University Press, 1966.
7. Brock, M. The Chartist Movement in Britain. Methuen & Co., 1973.
8. Chase, Malcolm & F. F. Thompson. Working-Class Politics in Victorian Britain. Routledge, 1980.
9. British Library Archives: Chartist Movement Collections. https://www.bl.uk/learning
10. Oxford Reference. Chartism. Oxford University Press Online. https://www.oxfordreference.com

इकाई चार

प्रथम एवं द्वितीय अफ़ीम युद्ध, अमेरिकी सिविल वार

4.0प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रथमअफ़ीम युद्ध

4.2.1प्रथमअफ़ीम युद्धके कारण

4.2.2. प्रथम अफीम युद्ध का आरम्भ (1839-42 ई०)

4.2.3. नानकिंग की सन्धि

4.2.4. बोग की सन्धि (Treaty of Bogue)

4.2.5. युद्ध के प्रभाव

4.3 द्वितीय अफ़ीम युद्ध(1856-1860)

4.3.1द्वितीय अफ़ीम युद्ध के कारण

4.3.2 युद्ध की घटनाएँ

4.3.3 टींटसिन की सन्धि (Treaty of Tientsin)

4.3.4 युद्ध का दूसरा चरण

4.3.5 युद्ध का महत्त्व तथा प्रभाव

4.4 अमेरिकी सिविल वार

4.4.1 अमेरिकी सिविल वार के कारण

4.4.2युद्ध का घटनाक्रम

4.4.3युद्ध का अंत और परिणाम

4.5 सारांश

4.6 बहुविकल्पीय प्रश्न

4.7 बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.9निबंधात्मक प्रश्न

4.0प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन में उन्नीसवीं शताब्दी विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि इस काल में न केवल विश्व की राजनीतिक संरचनाओं में व्यापक परिवर्तन हुए, बल्कि औद्योगिक क्रांति, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और मुक्त व्यापार जैसी अवधारणाओं ने वैश्विक परस्परता को एक नए रूप में ढालना शुरू किया। इसी शताब्दी में एशिया और अमेरिका, दोनों महाद्वीपों में ऐसे बड़े संघर्ष हुए, जिनका प्रभाव न केवल संबंधित

क्षेत्रों तक सीमित रहा, बल्कि विश्व इतिहास की दिशा को भी दीर्घकालीन रूप से प्रभावित किया।प्रथम एवं द्वितीय अफीम युद्धऔरअमेरिकी सिविल वारऐसे ही महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों में शामिल हैं।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- प्रथम एवं द्वितीय अफीम युद्धों की पृष्ठभूमि और कारणों को समझ पाएँगे।
- अफीम युद्धों में ब्रिटिश तथा चीनी नीतियों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- इन युद्धों के एशिया, विशेषकर चीन की संप्रभुता पर प्रभाव को समझ पाएँगे।
- अमेरिकी सिविल वार के सामाजिक-आर्थिक कारणों की व्याख्या कर सकेंगे।
- अब्राहम लिंकन की भूमिका तथा युद्ध के परिणामों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- उन्नीसवीं सदी के वैश्विक राजनीतिक परिवर्तन और औपनिवेशिक नीतियों के संबंधों को समझ पाएँगे।

4.2 प्रथमअफ़ीम युद्ध(1839–1842)

चीन विश्व के प्राचीनतम सभ्य देशों में से एक है। प्राचीन काल से ही चीन अपनी संस्कृति, कला और व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन काल से ही रोम के व्यापारी भूमध्य सागर एवं मध्य एशिया पारकर लाल सागर द्वारा चीन के मसाले, रेशम तथा बहुमूल्य रत्नों का व्यापार करते थे। चीन ने विश्व को सर्वप्रथम कागज, छापाखाना, पहिए वाली गाड़ी, बारूद, दिशासूचक यन्त्र और चीनी मिट्टी के बर्तन दिए। चीन से सीधा सम्पर्क स्थापित करने की उत्सुकता ने समुद्री मागों की खोज के द्वारा आधुनिक युग का आरम्भ किया। चीन का आधुनिक इतिहास पश्चिमी देशों के चीन में प्रवेश, मांचू वंश के पतन, पाश्चात्य प्रभाव से पुरानी परम्पराओं में सुधार तथा क्रान्ति द्वारा गणतन्त्र की स्थापना, उदारवाद की असफलता और साम्यवादी क्रान्ति की सफलता का इतिहास है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिसके फलस्वरूप नवीन साम्राज्यवाद का आरम्भ हुआ। इसका स्वरूप मुख्यतः राष्ट्रीय तथा आर्थिक था। नये साम्राज्यवाद के प्रभाव के कारण यूरोपीय राज्यों में विश्व के अविकसित देशों पर अधिकार करने की प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गयी। जिसके परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अफ्रीका एवं चीन जैसे विशाल साम्राज्यों को आपस में बाँट लिया गया और एशिया के कई प्रदेशों तथा प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर अधिकार कर लिया गया।

यूरोपीय व्यापारियों के प्रति चीन की नीति- उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चीन पृथक्तता की नीति पर चलता रहा। चीन के लोग किसी अन्य देश के साथ सम्पर्क स्थापित करना नहीं चाहते थे। अतः चीनी शासक यह नहीं चाहता था कि विदेशी व्यापारी चीन में प्रवेश करें। यूरोपीय व्यापारी व्यापार के साथ-साथ साम्राज्य विस्तार की भावना भी लिए हुए थे। अतः चीनी लोग इन व्यापारियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। यूरोपीय व्यापारियों के साथ ईसाई मशीनरी भी चीन में आये और उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार करना शुरू किया। 1685 ई० में चीनी सम्राट ने एक घोषणा के द्वारा यूरोपीय व्यापारियों को चीन के तटवर्ती बन्दरगाहों में व्यापार करने की अनुमति

प्रदान की। किन्तु इन व्यापारियों ने इस सुविधा का दुरुपयोग किया तथा चीन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे। ईसाई मशीनरी चीनी लोगों को प्रलोभन देकर बलपूर्वक उनका धर्म परिवर्तन करने लगे। उनकी इन कार्यवाहियों से चीनी प्रशासन क्षुब्ध हो गया। अतः उन्होंने 1724 ई० में एक आदेश द्वारा ईसाई मिशनरियों को देश से निष्कासित कर दिया। 1757 ई० में चीनी सरकार ने विदेशी व्यापारियों को केवल 'कैन्टन' (Canton) के बन्दरगाह में ही व्यापार करने की छूट दी, अन्य किसी भी बन्दरगाह में उनके प्रवेश पर रोक लगा दी। कैन्टन में भी उन्हें व्यापार की पूर्ण छूट नहीं थी, उन पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। विदेशी व्यापारियों को कैन्टन में बसने की सुविधा नहीं थी। व्यापार का समय समाप्त होने पर उन्हें कैन्टन छोड़कर मकाओ लौट जाना पड़ता था।व्यापार की सारी शर्तें चीनियों के द्वारा निश्चित् की जाती थी।

विदेशी व्यापारियों का स्थानीय व्यापारियों के साथ सीधा सम्पर्क नहीं था। विदेशी व्यापारी अपनी इच्छानुसार किसी भी चीनी व्यापारी को अपना माल नहीं बेच सकते थे। इसके लिए चीनी सरकार ने **1702 ई० में 'एम्परर मर्चेन्ट'**की स्थापना की। विदेशी व्यापारियों के साथ व्यापार करने वाला यही एकमात्र प्रतिनिधि था। किन्तु यह व्यवस्था सन्तोषजनक न होने के कारण 1752 ई० में व्यापारियों के एक संघ का गठन किया, जिसे **'को-होंग' (Co-Hong)**कहा जाता था। को-होंग 13 चीनी व्यापारियों का एक दल था जो विदेशी व्यापारियों तथा चीनी प्रशासन के बीच मध्यस्थता का काम करता था। विदेशी व्यापारियों तथा चीनी अधिकारियों के बीच समस्त वार्तालाप इसी के द्वारा होता था। स्थानीय व्यापारी भी को-होंग के माध्यम से व्यापार कर सकते थे। को-होंग व्यापारी समूह 1842 ई० तक कार्यशील रहा। इस प्रकार चीन का आयात एवं निर्यात पूर्णतः को-होंग के नियन्त्रण में था।

चीन में अंग्रेज़ व्यापारियों का आगमन तथा आंग्ल-चीनी सम्बन्ध - चीन में विदेशी व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धों से यूरोप के सभी देश क्षुब्ध थे। वे जल्द से जल्द इन प्रतिबन्धों से मुक्त होकर चीन के साथ स्वतन्त्र व्यापार के इच्छुक थे। इसमें सबसे पहले इंग्लैंड ने दिलचस्पी लेनी शुरू की। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक चीन में व्यापारिक दृष्टि से इंग्लैंड ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। 1715 ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कैन्टन में एक कारखाना स्थापित किया। इससे कैन्टन के व्यापार का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस कम्पनी के नियन्त्रण में आ गया। चीनी व्यापारी विदेशी व्यापारियों से कोई भी वस्तु खरीदना पसन्द नहीं करते थे। अतः विदेशी व्यापारियों को वस्तुओं की कीमत सोने अथवा चाँदी में चुकानी पड़ती थी। किन्तु धीरे-धीरे वस्तु विनिमय होने लगा। चीन में विदेशी सामान की कुछ माँग बढ़ने लगी। प्रारम्भ में अंग्रेज़ व्यापारी कपड़ों तथा फलों का व्यापार करते थे, किन्तु इससे उन्हें विशेष लाभ नहीं हो रहा था। अतः चीन में अफीम के व्यापार को व्यापक बनाने का प्रयास किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारी अफीम की खेती भारत में करते थे और उस अफीम को चीन में बेचने लगे। चीन के लोग जल्द ही अफीम के आदि हो गये और इससे इंग्लैंड को काफी लाभ होने लगा। अंग्रेज़ व्यापारी चीनी माल के भुगतान के रूप में इस अफीम को देते थे। जैसे-जैसे कम्पनी का व्यापार उन्नति करता गया, कम्पनी अपने ऊपर लगे हुए व्यापारिक प्रतिबन्धों को हटाने की माँग करती गयी। चीनी सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील थी कि किसी तरह अफीम के व्यापार को रोका जाये। 1833 ई० में चीन ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया। 1800 ई० में चीनी सरकार ने अफीम के व्यापार को निषिद्ध कर दिया। किन्तु अफीम का व्यापार बढ़ता ही गया क्योंकि स्थानीय चीनी अधिकारियों की स्वीकृति से अंग्रेज़ व्यापारी चोरी से चीन में अफीम लाते थे। जहाँ इंग्लैंड चीन के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्धों को और मजबूत करने का इच्छुक था वहीं

वह चीन के साथ राजनीतिक एवं कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना भी चाहता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 1792-93 ई० में मेकार्टने मिशन, 1816 ई० में एमहर्स्ट मिशन और 1833 ई० में लार्ड नेपियर के नेतृत्व में एक मिशन चीन भेजा गया। किन्तु चीन में उनको कोई सफलता नहीं मिली।

अफीम के व्यापार पर प्रतिबन्ध- 1838 ई० में अफीम के व्यापार का प्रश्न पुनः उत्पन्न हुआ। चीन में अफीम का व्यापार लगातार बढ़ता जा रहा था। 1800 ई० में चीन में जहाँ आयात 30 हजार पेटियों तक हो गया। अफीम का बढ़ता हुआ व्यापार चीन के लिए नैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से विनाशकारी सिद्ध हो रहा था। चीनी लोग अफीम के इतने आदी हो गये थे कि यह एक राष्ट्रीय बुराई का रूप धारण कर गई। चीन में अफीम की माँग इतनी बढ़ गई थी कि चीन को अपने द्वारा अंग्रेजों को माल बेचने से ज्यादा कीमत चुकानी पड़ती थी। इससे चीनी अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहे थे। अतः चीनी सरकार ने अफीम के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक विशेष आयुक्त **लिन-त्से-हस**की नियुक्ति की। आयुक्त **लिन-त्से-हस** ने 10 मार्च 1939 ई० को अपनी कार्यवाही कैन्टन से आरम्भ की। लिन अफीम व्यापार को समाप्त करने के लिए कृतसंकल्प था। उसने ब्रिटिश व्यापारियों को अपनी समस्त अफीम को चीनी अधिकारियों को सौंप दिये जाने के लिए एक आदेश जारी किया। ऐसा न करने पर अफीम की पेटियाँ जब्त करने तथा व्यापारियों को कड़ी सजा की चेतावनी दी। इस कार्यवाही के अतिरिक्त अंग्रेज़ व्यापारियों से लिखित में यह आश्वासन भी माँगा था कि भविष्य में वे अफीम का व्यापार चीन में नहीं करेंगे। ब्रिटिश अधिकारी इलियट ने अफीम की लगभग 20 हजार पेटियाँ चीनी अधिकारी को सौंप दीं। किन्तु ब्रिटिश अधिकारी ने लिखित में यह आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार चीनी आयुक्त द्वारा उठाये गये कदमों के कारण चीन और ब्रिटेन के बीच शत्रुता बढ़ गयी। वास्तव में दोनों देशों के हितों के बीच टकराव था। अंग्रेज़ व्यापारी चीन में अधिक-से-अधिक सुविधाएं प्राप्त करना चाहते थे ताकि उन्हें व्यापार में अधिक-से-अधिक लाभ हो। इस प्रकार बढ़ता हुआ अफीम का व्यापार जहाँ एक तरफ ब्रिटिश व्यापारियों के लिए हितकारी था वहीं चीनी सरकार के लिए नैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक हानिकर था। इसलिए दोनों देशों के हितों के बीच टकराव के परिणामस्वरूप संघर्ष आरम्भ हुआ।

4.2.1. प्रथमअफ़ीम युद्धके कारण

चीनी दृष्टिकोण से केवल अफीम के आयात का प्रश्न विवादाग्रस्त था किन्तु दोनों देशों के बीच जो युद्ध हुआ, अफीम उसका कारण नहीं, केवल एक घटना मात्र थी। यद्यपि इस युद्ध को अफीम युद्ध की संज्ञा दी गई है। इस समय अंग्रेज़ों की स्थिति भारत में सुदृढ़ हो चुकी थी। इसके पश्चात् अंग्रेज़ चीन में अपना व्यापारिक तथा राजनैतिक प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। इसलिए प्रारम्भ में अंग्रेज़ व्यापारियों ने व्यापारिक एवं न्यायिक सुविधाओं की माँग की जोकि चीनियों के हितों के विपरीत थी। चीन में हस्तक्षेप बढ़ाने के लिए संघर्ष आवश्यक था, इसीलिए संघर्ष आरम्भ हुआ। युद्ध के पश्चात् जो नानकिंग की सन्धि हुई, उसमें अफीम के व्यापार के बारे में कोई समझौता नहीं हुआ बल्कि अनेक रियायतें या सुविधाएं प्राप्त कीं जिनके लिए युद्ध किया गया था। इस प्रकार युद्ध के मूल में अनेक कारण थे जिनका वर्णन इस प्रकार से है-

1. ब्रिटिश अपराधियों पर चीनी कानूनों को लागू करने के कारण असन्तोष- चीन और इंग्लैंड के बीच इस बात पर भी विवाद था कि कैन्टन में निवास करने वाले ब्रिटिश लोग कानून की दृष्टि से चीन के अधीन हैं या नहीं। चीन की सरकार चीन में रह रहे विदेशियों पर चीनी कानून लागू करती थी। अतः अंग्रेज़ों ने इसका विरोध करना

शुरु कर दिया। 1784 ई० में चीन में ब्रिटिश जहाज़ के एक तोपची से एक चीनी नागरिक मारा गया। चीन के दबाव डालने पर उस तोपची को चीनी अधिकारियों के सुपुर्द कर देना पड़ा। चीनी अदालत ने उस तोपची को मृत्युदण्ड दे दिया। इससे ब्रिटिश नागरिक काफी असन्तुष्ट थे और उन्होंने अपनी सरकार से माँग करनी शुरु कर दी कि चीन में रह रहे अंग्रेज़ों पर केवल अंग्रेज़ी कानून ही लागू किया जाये। इस घटना के बाद 1793 ई० में मेकार्टने मिशन तथा 1816 ई० में एमहर्स्ट मिशन द्वारा कैन्टन में अंग्रेज़ों को स्वशासन का अधिकार दिलाने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। चीनी सरकार के इस व्यवहार के कारण दोनों के बीच कटुता की भावना बढने लगी।

2. विदेशियों पर कठोर प्रतिबन्ध- चीनी सरकार ने विदेशी व्यापारियों पर कठोर प्रतिबन्धलगा रखे थे। आरम्भ में यूरोपीय व्यापारियों को यह छूट थी कि वे चीन के तटवर्ती सभी बन्दरगाहों पर व्यापार कर सकते थे। किन्तु इन व्यापारियों ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया था। अतः चीनी सरकार ने 1757 ई० के पश्चात् विदेशियों का व्यापार केवल कैन्टन के बन्दरगाह तक ही सीमित कर दिया था। कैन्टन में भी विदेशी व्यापारियों को व्यापार की छूट नहीं थी। ये व्यापारी चीनी भाषा में शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे, पूरा वर्ष कैन्टन में निवास नहीं कर सकते थे| अपने परिवारों को साथ नहीं रख सकते थे व जंगी जहाज़ चीन में नहीं रख सकते थे | व्यापार की सभी शर्तें चीन के व्यापारियों द्वारा ही निर्धारित की जाती थीं। 1833 ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी से व्यापार के अधिकार छीने जाने पर दोनों के बीच दरार और बढ़ गयी थी। ब्रिटिश सरकार ने अपने देश व व्यापार के हितों की रक्षा के लिए लॉर्ड नेपियर को नियुक्त किया तथा उसका स्तर एक व्यापारिक अधीक्षक का रखा गया था। चीनी सरकार विदेशियों से समान स्तर पर बात करने के लिए तैयार नहीं थी। अतः उसने जब क्वांग-सी प्रान्त के राज्यपाल से समानता के आधार पर बातचीत का प्रयत्न किया तो उसे निराश होना पड़ा। अतः अपनी प्रतिष्ठा के लिए अंग्रेज़ों को अफीम युद्ध के रूप में शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। व्यापारी वर्ग जो राजनीति में शक्तिशाली थे युद्ध की माँग कर रहे थे जिससे उनको व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें और वे अपने व्यापार का विकास कर सकें।

3. अफीम के व्यापार का प्रश्न- चीनी सरकार चीन में अफीम का आयात बन्द करने के लिए प्रयत्न कर रही थी। किन्तु अंग्रेज़ व्यापारियों को इससे अत्यधिक लाभ हो रहा था। 1757 ई० में चीन में केवल एक हजार पेटियाँ अफीम की जाती थीं, परन्तु 1836 ई० में चीन में भेजी जाने वाली पेटियों की संख्या 20 हजार हो गयी। पहले-पहल चीनी अफीम को एक औषधि के रूप में प्रयुक्त करते थे परन्तु धीरे-धीरे चीन के लोग अफीम खाने के आदी हो गये। फलस्वरूप चीन में यह एक सामाजिक बुराई का रूप धारण करती जा रही थी। अतः चीनी सरकार अफीम के इस व्यापार को पूर्णतः बन्द करना चाहती थी। समय-समय पर चीनी सरकार ने अध्यादेश द्वारा अफीम पीने और बेचने पर रोक लगाई। परन्तु चीन के भ्रष्ट अधिकारियों के कारण अफीम के आयात में कमी नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि 1820-35 ई० तक चीन के दक्षिणी-पूर्वी तट पर स्थित लगभग 12 बन्दरगाहों पर अफीम की तस्करी में भारी वृद्धि हुई। एक अनुमान के अनुसार 1837 ई० तक कुल चीनी आयात का लगभग 57 प्रतिशत अफीम का आयात था। इससे दोनों देशों के हितों के बीच टकराव संघर्ष के रूप में आरम्भ हुआ।

4. कमिश्नर लिन की कठोर नीति - 1830 ई० में चीन में जितना अफीम का आयात हुआ, उसका मूल्य निर्यात के सभी माल के मूल्य से काफी अधिक था। अतः चीनी सरकार ने अफीम के व्यापार को रोकने के लिए कठोर

कार्यवाही आरम्भ की। चीन के सम्राट ने **लिन** को 1839 ई० में कैन्टन का कमिश्नर नियुक्त किया। लिन एक योग्य और ईमानदार व्यक्ति था और उसने इससे पूर्व कई उच्च पदों पर कार्य किया था। लिन ने पद ग्रहण करते ही ब्रिटिश व्यापारियों को आदेश दिया कि वह अफीम के सभी भण्डार चीनी अधिकारियों के हवाले कर दें तथा भविष्य में अफीम का व्यापार न करें। इसके लिए उसने लिखित आश्वासन भी माँगा। इस आदेश का उल्लघंन करने वाले व्यापारियों को कैद कर लिया गया तथा मृत्युदण्ड दिया गया। इससे घबराकर ब्रिटिश अधिकारी इलियट ने अफीम की लगभग 20 हजार पेटियाँ चीनी अधिकारी को सौंप दीं। परन्तु उसने भविष्य में व्यापार न करने का वचन नहीं दिया। इलियट ने सभी विदेशी व्यापारियों को अफीम सम्बन्धी बांड पर हस्ताक्षर न करने के लिए कहा और उनको कैन्टन छोड़कर मकाओ जाने के लिए प्रेरित किया। साथ ही उन्होंने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार चीन से इसका बदला लेगी। इस प्रकार दोनों देश युद्ध की ओर अग्रसर हुए।

5. युद्ध का तात्कालिक कारण- अफीम के अवैध व्यापार को समाप्त करने के लिए कमिश्नर लिन की कठोर कार्यवाहियों से क्षुब्ध होकर अंग्रेज़ व्यापारी अपनी सरकार पर चीन से युद्ध के लिए दबाव डाल रहे थे। इसी समय 7 जुलाई 1839 ई० को हांगकांग के निकट एक चीनी नाविक की अंग्रेज़ नाविकों द्वारा हत्या हो गयी। ब्रिटिश अधिकारी इलियट ने इन नाविकों को अंग्रेज़ी कानून के अन्तर्गत जुर्माना सहित कैद की सजा सुना दी। परन्तु चीनी प्रशासन ने इसको स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार अंग्रेज़ अपराधियों को चीनी कानून के अनुसार सजा मिलनी चाहिए। ब्रिटिश व्यापार अधीक्षक इलियट ने अपराधियों को सौंपने से मना कर दिया। इससे दोनों पक्षों में तनाव बढ़ गया। लिन ने अंग्रेज़ व्यापारियों के खिलाफ कड़े कदम उठाये। उसने अंग्रेज व्यापारियों के मकाओ में प्रवेश पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। अंग्रेज़ व्यापारियों के लिए मकाओ में भोजन तथा तेल की सप्लाई बन्द कर दी। अंग्रेजों के व्यापारिक संस्थान पर अपना नियन्त्रण अधिक कठोर कर दिया। ऐसी परिस्थिति में आंग्ल-चीनी युद्ध अनिवार्य हो गया क्योंकि यह राष्ट्रीय हित व सम्मान का प्रश्न बन गया था।

4.2.2. प्रथम अफीम युद्ध का आरम्भ (1839-42 ई०)

1 नवम्बर 1839 ई० को ब्रिटिश व्यापारी अधीक्षक इलियट ने कैप्टन स्मिथ को कुछ जंगी जहाजों के साथ चु-ए-नुप्पी की तरफ बढ़ने का आदेश दिया। उधर चीनी एडमिरल को-ताई पी ने भी कार्यवाही प्रारम्भ की। 3 नवम्बर को प्रथम मुठभेड़ में ही तीन चीनी जंगी जहाज़ नष्ट हो गये। युद्ध की पहल अंग्रेज़ों द्वारा की गई। जनवरी 1840 ई० में चीनी सरकार ने औपचारिक रूप से युद्ध की घोषणा आरम्भ कर दी। ब्रिटिश सरकार अंग्रेजी व्यापारियों के हितों के लिए चीन से युद्ध करने के लिए तैयार थी। अतः 1840 ई० में संसद में चीन के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्ताव पास हो गया। जून 1840 ई० में जॉर्ज इलियट के अधीन 16 जंगी जहाज, 540 तोपें तथा 4 हजार सैनिक कैन्टन के समीप पर्ल के किनारे पहुँच गये।

यह युद्ध तीन वर्ष तक चला। युद्ध में प्रारम्भ से ही अंग्रेज़ों का पलड़ा भारी रहा। ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति बड़ी प्रबल थी। चीन उसकी चुनौती का सामना नहीं कर सकता था। सर्वप्रथम अंग्रेज़ों ने कैन्टन पर अधिकार कर लिया। फिर उत्तर की ओर प्रस्थान किया। अंग्रेजों ने शीघ्र ही शंघाई, चेरसन, अमाएँ, निगपो तथा हांगकांग पर अधिकार कर लिया। ब्रिटिश सेनाएँ यांग्त्सी नदी में नानकिंग तक बढ़ गयी थीं, इससे चीन के उत्तरी भाग का यातायात सम्पर्क दक्षिणी भाग से टूट गया। चीनी सम्राट ने विवश होकर समझौते के प्रयास आरम्भकिये। **29 अगस्त 1842 ई०** को **नानकिंग** में एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। दूसरी एक पूरक सन्धि **8 अक्तूबर 1843 ई०** को **बोग** नामक स्थान पर

हुई। चीन के लिए यह सैनिक पराजयों की प्रतिष्ठा का युग था। **नानकिंग की सन्धि** के साथ प्रथम अफीम युद्ध का अन्त हुआ।

4.2.3. नानकिंग की सन्धि

प्रथम अफीम युद्ध का औपचारिक निबटारा दो सन्धियों के अन्तर्गत हुआ। पहली **29 अगस्त 1842 ई०** को नानकिंग की सन्धि, दूसरी 8 अक्तूबर 1843 ई० को बोग की सन्धि। नानकिंग की सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं-

1. चीन की सरकार ने ब्रिटेन को हांगकांग का द्वीप हमेशा के लिए दे दिया।

2. चीन ने अंग्रेजों को युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में तथा अफीम की क्षतिपूर्ति के रूप में 21 मिलियन डॉलर देना स्वीकार किया।

3. चीनी सरकार ने ब्रिटिश लोगों के लिए कैन्टन, अमोय, फूचो, निगपो तथा शंघाई के पाँच बन्दरगाह निवास तथा व्यापार के लिए खोल दिये। इन पाँच नगरों में अंग्रेज़ अपने परिवारों सहित रह सकते थे तथा अपने कारखाने स्थापित कर सकते थे।

4. चीनी व्यापार संघ'को-होंग' को भंग कर दिया गया। अब ब्रिटिश व्यापारी किसी भी चीनी व्यापारी के साथ स्वतन्त्र रूप से व्यापार कर सकते थे।

5. चीन की सरकार ने विदेशी व्यापारियों के साथ समानता का व्यवहार करना स्वीकार कर लिया।

6. पाँच बन्दरगाहों में अंग्रेज़ों को अपने व्यापारिक दूत रखने का भी अधिकार दिया गया।

7. आयात-निर्यात पर समान और उदार शुल्क पद्धति लागू करने का निर्णय लिया गया। 5 प्रतिशत तटकर निश्चित् किया गया। शुल्क दर में वृद्धि भी आपसी सहमति के आधार पर ही लागू करने का फैसला किया गया।

8. यह भी व्यवस्था की गई कि दोनों देशों के अधिकारियों के बीच समानता के आधार पर पत्र-व्यवहार होगा तथा अंग्रेज़ पदाधिकारी के पत्र को 'प्रार्थना' न कहकर 'सन्देश-पत्र' कहा जायेगा।

4.2.4. बोग की सन्धि (Treaty of Bogue)

नानकिंग सन्धि के पश्चात् चीन तथा अंग्रेजों के बीच **8 अक्तूबर 1843 ई० को बोग की सन्धि** हुई। इससे ब्रिटेन की स्थिति चीन में अधिक सुदृढ़ हो गई। इस सन्धि के द्वारा यह निश्चित् हुआ कि चीन में रह रहे अंग्रेज़ों के मुकद्दमें अंग्रेज़ी अदालतों में ही चलाये जायेंगे और अंग्रेज़ी कानून के अन्तर्गत ही उनको सजा दी जायेगी। चीन की सरकार ने यह भी वचन दिया कि 'किसी भी राष्ट्र को चीन द्वारा दी जाने वाली किसी भी प्रकार की सुविधाएँ अंग्रेज़ो को भी दी जायेंगी।"

अन्य पश्चिमी देशों के साथ सन्धियाँ- प्रथम अफीम युद्ध में चीन की दुर्बलता का पर्दाफाश हुआ। इंग्लैंड की इस सफलता को देखकर यूरोप के अन्य देशों ने भी चीन से इसी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास किया। 24 फरवरी 1844 ई० को अमेरिकी प्रतिनिधि मकाओ में पहुँचा और चीन के अधिकारियों से बातचीत के फलस्वरूप वह सन्धि करने में सफल हुआ। **3 जुलाई 1844** ई० में दोनों देशों के बीच हुई **'वानगिया सन्धि'**के अनुसार चीन

से अमेरिका को भी इंग्लैंड के समान सुविधाएँ प्राप्त हुईं। इसके पश्चात् **24 अक्तूबर 1844 ई० को फ्रांस** के साथ, तथा **20 मार्च 1847 ई०** को **नार्वे** और **स्वीडन** के साथ पृथक् पृथक् सन्धियाँ हुई।

4.2.5. युद्ध के प्रभाव

प्रथम अफीम युद्ध का चीन के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस युद्ध में चीन को पराजित कर इंग्लैंड ने अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण दे दिया तथा उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप की सुदूर पूर्व सम्बन्धी पश्चिमी नीति की नींव रखी। इस युद्ध के निम्नलिखित अनेक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़े-

1. चीन की शक्ति तथा सम्मान को आघात - इस युद्ध से पूर्व चीनी लोग अपने को विश्व में सर्वश्रेष्ठ समझते थे। विदेशी व्यापारियों के साथ असमानता का व्यवहार करते थे तथा उनके साथ मेलजोल रखना पसन्द नहीं करते थे। इस युद्ध ने चीनियों के अभिमान को चूर-चूर कर दिया और चीन को पराजय का मुंह देखना पड़ा। अपनी दुर्बलता से विवश होकर चीनियों ने अंग्रेजों तथा पश्चिमी देशों से सन्धियाँ कीं तथा उनको अनेक व्यापारिक तथा राजनीतिक सुविधाएँ प्रदान कीं। ये सन्धियाँ चीन के लिए अपमानजनक तथा उसकी सार्वभौम सत्ता पर आघात थीं। वास्तव में ये सन्धियाँ असमान थीं तथा यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा चीन पर एक तरह से थोप दी गयी थीं। इन्होंने चीन की शक्ति का पर्दाफाश कर दिया। विदेशियों की नजर में चीन का सम्मान काफी कम हो गया।

2. चीन का विदेशियों के लिए खुलना- इस युद्ध से पहले चीन ने 'बन्द द्वार की नीति' को अपना रखा था। चीन एक आत्मनिर्भर देश था। चीन ने पश्चिमी देशों के व्यापारियों को कैन्टन तथा मकाओ तक ही सीमित रखा था। इस युद्ध की पराजय के पश्चात् चीन ने इंग्लैंड को हांगकांग सौंप दिया तथा अन्य पाँच बन्दरगाह अंग्रेज़ों के लिए खोल दिए। चीन ने बाद में यह सुविधाएँ अमेरिका, फ्रांस, स्वीडन, बेल्जियम, नार्वे आदि देशों को भी दीं। अब पश्चिमी लोग चीन के इन नगरों में आराम से घूम सकते थे, ईसाई धर्म का प्रचार कर सकते थे और अपने कारखाने स्थापित कर सकते थे। इन नगरों में विदेशी लोगों पर चीनी कानून लागू नहीं होते थे। चीन से आयात-निर्यात, कर विभाग तथा विदेशियों का न्याय छीन लिया गया। चीन की राजसत्ता पंगु बना दी गयी और चीन को 'खुले दरवाजे की नीति' (Open Door Policy) का पालन करने के लिए बाध्य किया गया। इस नीति के फलस्वरूप पश्चिमी देशों का चीन में हस्तक्षेप बढ़ने लगा जिससे चीनी लोगों का शोषण बढ़ा तथा अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव हुआ।

3. यूरोपीय साम्राज्यवाद का प्रारम्भ -नानकिंग की सन्धि ने चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यूरोपीय राष्ट्र केवल बन्दरगाहों पर व्यापार करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए अपितु वे चीन से अधिकाधिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने चीन में अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया। इनके प्रभावों को रोकने के लिए चीन अपनी दुर्बलता के कारण सक्षम न था। अतः उन्होंने चीन के तटवर्ती नगरों में अपने कारखाने स्थापित कर लिए और सेनाएँ रखना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे चीन में यूरोपीय शक्तियों का प्रभाव बढ़ने लगा तथा चीनी प्रभुसत्ता का अतिक्रमण होने लगा।

4. ताइपिंग विद्रोह- नानकिंग सन्धि ने चीन की दुर्बलता को प्रकट कर दिया। इस सन्धि के फलस्वरूप चीन का द्वार विदेशी व्यापार के लिए खुल गया। अफीम के व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हुई। यूरोपीय शक्तियों का हस्तक्षेप बढ़ने के कारण चीनी लोगों का शोषण अधिक होने लगा। चीन की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। चीनी लोग इसके लिए मंचू वंश के शासकों को उत्तरादायी ठहराने लगे। इस बढ़ते हुए असन्तोष के कारण चीन में जगह-जगह

विद्रोह हो गये। इन विद्रोहों में **1853-54 ई० में ताइपिंग विद्रोह** हुआ जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। इसका उद्देश्य **मंचू वंश** को समाप्त करके **मिंग वंश** को बहाल करना था। विद्रोहियों ने जगह-जगह पर अधिकार कर लिया। यद्यपि इस विद्रोह को दबा दिया गया परन्तु मंचू वंश के लिए यह विद्रोह चुनौती बन गया।

इस प्रकार से प्रथम अफीम युद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशों द्वारा चीन के साथ की गई सन्धियों से उनकी कुत्सित मनोवृत्ति उजागर हो जाती है। वे केवल व्यापारिक सुविधाएँ ही नहीं, वरन् इससे कुछ और भी ज्यादा सुविधा प्राप्त करना चाहते थे। भारत तथा अनेक अन्य एशिया और अफ्रीका के देशों में यूरोपीय देशों की नीति पूर्णतः स्पष्ट हो चुकी थी। वे चीन का भी आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण करना चाहते थे। वे अपनी इच्छा को थोपना, अपने व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना, धार्मिक एवं राजनीतिक प्रधानता स्थापित करना चाहते थे।

4.3 द्वितीय अफीम युद्ध (1856-1860)

नानकिंग की सन्धि ने यूरोपीय देशों के लिए चीन का बन्द दरवाजा खोल दिया था। यूरोपीय व्यापारियों को अनेक सुविधाएँ दी गई थीं। किन्तु इन सुविधाओं को प्राप्त करने के पश्चात् वे और अधिक सुविधाएँ चाहते थे, ताकि अधिक-से-अधिक व्यापारिक लाभ हो सके। यूरोपीय देश चीन की दुर्बलता का लाभ उठाकर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सन्धियों में संशोधन की माँग आरम्भ कर दी। यूरोपीय व्यापारियों को और अधिक सुविधाएँ या रियायतें देने का अर्थ था चीन में यूरोपीय देशों का प्रभाव बढ़ना तथा चीनी लोगों के शोषण में वृद्धि होना। इसलिए चीन तथा यूरोपीय राष्ट्रों के हितों के बीच टकराव था। अतः उनके बीच संघर्ष का होना अनिवार्य हो गया था। फलस्वरूप 1856 ई० में ब्रिटेन तथा चीन के बीच द्वितीय अफीम युद्ध हुआ।

4.3.1द्वितीय अफ़ीम युद्ध के कारण

1. अफीम के व्यापार में वृद्धि-प्रथम अफीम युद्ध के उपरान्त हुई सन्धियों में अफीम के व्यापार के लिए कोई निश्चित् निर्णय नहीं लिया गया था। अंग्रेज़ तथा पश्चिमी देशों के व्यापारी अफीम का आयात दिन-प्रतिदिन बढ़ा ही रहे थे क्योंकि इससे उनको अत्यधिक लाभ हो रहा था। इसलिए वे चीनी सरकार द्वारा बनाये गये कानूनों का उल्लंघन करते थे। परिणामस्वरूप चीन में अफीम का आयात बढ़ता ही जा रहा था। जहाँ 1842 ई० में चीन में पहुँचने वाली अफीम की पेटियों की संख्या 38 हजार थी वहीं 1850 ई० में यह संख्या बढ़ कर 52 हजार हो गई थी। चीन की दुर्बल मंचू सरकार बढ़ते हुए इस अवैध अफीम व्यापार को रोकने का प्रयत्न कर रही थी। यूरोपीय व्यापारी चीनी सरकार की दुर्बलता से भली-भाँति परिचित थे और यह दूसरे अफीम युद्ध का कारण बना।

2. कैन्टन के व्यापार में कठिनाईयाँ- कैन्टन चीन का प्रसिद्ध नगर और व्यापारिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था। नानकिंग की सन्धि के द्वारा विदेशी व्यापारियों को जो व्यापारिक तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की गईं थीं, उन सुविधाओं का वे दुरुपयोग करने लगे थे। चीन की सरकार इसका विरोध करती थी। कैन्टन के लोग इन विदेशी व्यापारियों से घृणा करते थे और उनके अनुसार सन्धि की शर्तों में कैन्टन में प्रवेश की धारा अस्पष्ट थी। 1847 ई० में अंग्रेज़ों ने कैन्टन पर आक्रमण कर दिया और दो वर्ष पश्चात् 1849 ई० में विदेशी व्यापारियों को कैन्टन में प्रवेश की अनुमति दे दी। चीनी सरकार ने कैन्टन बन्दरगाह के गवर्नर के पद पर **येह-मिन्ग-चेन** को नियुक्त किया। वह चीन में विदेशी व्यापारियों के हस्तक्षेप को खत्म करना चाहता था। वह समझता था कि कैन्टन के नागरिकों के

सहयोग से ही वह विदेशियों को चीन में घुसने से रोक सकता है। उसके द्वारा उठाये गये कठोर कदमों से चीनी और अंग्रेज़ों के सम्बन्ध और बिगड़ गए।

3. नई चुंगी व्यवस्था - प्रथम अफीम युद्ध के उपरान्त हुई सन्धियों के कारण चुंगी विभाग पर विदेशियों का प्रभाव स्थापित हो गया था। वे अपनी इच्छा से चुंगी की वसूली किया करते थे। इसके परिणामस्वरूप एक तरफ तो चीन के लोग विदेशियों के शोषण का शिकार हुए तथा दूसरी ओर चीनी सरकार को चुंगी के लिए विदेशियों पर निर्भर रहना पड़ता था। विदेशियों ने अपना एक अलग चुंगी विभाग **'इंस्पेक्टोरेट ऑफ कस्टम्स'**स्थापित कर रखा था। इस कारण चीनी तथा विदेशी अधिकारियों के बीच मतभेद होने लगा।

4. पुरानी सन्धियों में संशोधन की माँग- प्रथम अफीम युद्ध के पश्चात् चीन ने यूरोपीय राष्ट्रों के साथ भी व्यापारिक सन्धियाँ की थीं। अमेरिका तथा फ्रांस के साथ की गयी सन्धियों में इस बात की भी व्यवस्था की गई थी कि दस वर्ष पश्चात् इन सन्धियों को पुनः दोहराया जायेगा। यद्यपि इंग्लैंड के साथ हुई नानकिंग तथा बोग की सन्धियों में संशोधन की कोई धारा नहीं थी फिर भी इंग्लैंड ने चीन का परम मित्र होने का हवाला दिया तथा 1854 ई० में नानकिंग की सन्धि में संशोधन करने की माँग शुरू कर दी, जिससे व्यापार में और भी अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। यूरोपीय व्यापारी अधिकाधिक लाभप्राप्ति के लिए सन्धियों में संशोधन चाहते थे। अंग्रेज़ व्यापारी अफीम के व्यापार को नियमित करना, पाँच बन्दरगाहों के अतिरिक्त उत्तरी चीन में भी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करना, पीकिंग से भी सीधे राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करना तथा व्यापार पर लगे सभी आन्तरिक कर समाप्त करना चाहते थे। किन्तु चीनी सरकार अपने राष्ट्रीय हितों के लिए उन्हें और किसी तरह की सुविधा नहीं देना चाहती थी। यूरोपीय यह अनुभव कर रहे थे कि चीन पर दबाव डालकर ही सन्धियों में संशोधन के लिए विवश किया जा सकता है। अतः दोनों के बीच हितों के टकराव के कारण संघर्ष अनिवार्य हो गया।

5. फ्रांसीसी प्रचारक की हत्या - इंग्लैंड की तरह फ्रांस भी चीन से सन्धि की शर्तों में संशोधन चाहता था। किन्तु व्यापारिक हितों के साथ-साथ फ्रांस की विशेष रूचि रोमन कैथोलिक पादरियों व गिरजाघरों की रक्षा करने में थी। फरवरी 1856 ई० में फ्रांस के कैथोलिक पादरी आगस्टे चैपडीलेन की हत्या ने फ्रांसीसियों को चीन के विरुद्ध भड़का दिया। वह ईसाई धर्म का प्रचार करता हुआ चीन के आन्तरिक भाग में दूर तक चला गया था तथा चीन के ईसाईयों को चीन के विरुद्ध भड़काने लगा था। क्वांग्सी के स्थानीय अधिकारी ने उसके ऊपर सन्धि का उल्लंघन करके चीन सरकार के विरुद्ध विरोधी भावनाएँ फैलाने का दोषारोपण किया। क्वांग्सी की स्थानीय अदालत ने कैथोलिक पादरी आगस्टे को मृत्युदण्ड दे दिया। इस समय नेपोलियन तृतीय फ्रांस का सम्राट् था। वह फ्रांसीसियों को विदेशी प्रदेश विजित करके खुश करना चाहता था। फ्रांसीसी सरकार ने पादरी की हत्या के मुआवजे की माँग की। चीन के द्वारा उसकी माँग अस्वीकार करने पर फ्रांस भी कैन्टन पर गोलाबारी करने में अंग्रेज़ों के साथ शामिल हो गया।

6. युद्ध का तात्कालिक कारण- चीन तथा अंग्रेज़ व्यापारियों के हितों के बीच टकराव था। अंग्रेज़ व्यापारी अधिकाधिक व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करना चाहते थे ताकि अधिक-से-अधिक व्यापार में लाभ हो सके, किन्तु अधिक सुविधाएँ देना चीन के राष्ट्रीय हितों के विपरीत था। अतः दोनों के बीच संघर्ष अनिवार्य था। **'लोर्चा एरो'**घटना से अंग्रेजों को युद्ध का बहाना मिल गया। **3 अक्तूबर 1856 ई० को ' लोर्चा एरो'**नामक जहाज को चीनी अधिकारियों ने अफीम की तस्करी करते हुए पकड़ लिया और इसके 12 नाविकों को बन्दी बना लिया। इस

जहाज पर ब्रिटिश झंडा लगा हुआ था, परन्तु इसका मालिक एक चीनी था और यह जहाज हांगकांग में रजिस्टर्ड था। अंग्रेज अधिकारी ने कैन्टन के चीनी गवर्नर **'ये-मिन्ह-चेन'**से अंग्रेज़ नाविकों को लौटाने, क्षमा माँगने तथा क्षतिपूर्ति की माँग की। चीनी गवर्नर ने इन माँगों को मानने से इन्कार कर दिया। अंग्रेज़ अधिकारियों ने चीन को 12 घन्टे के अन्दर माँगों को मानने के लिए कहा। चीनी गवर्नर ने नाविकों को तो छोड़ दिया परन्तु दूसरी माँगों को मानने से इन्कार कर दिया। अंग्रेज़ों ने अब चीन के साथ युद्ध करने का निश्चय किंया।

4.3.2 युद्ध की घटनाएँ

इंग्लैंड और फ्रांस अपने साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के लिए किसी भी कीमत पर चीन से युद्ध करना चाहते थे। **लोर्चा ऐरो घटना** तथा **फ्रांसीसी पादरी** की हत्या ने युद्ध को आरम्भ किया। 23 अक्तूबर 1856 ई० को अंग्रेज सैनिक टुकड़ी ने **वहम्पोआ के दुर्ग** पर अधिकार कर लिया। 27 अक्तूबर 1856 ई० को कैम्टन पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। किन्तु 1857 ई० में भारत में सैनिक विद्रोह के कारण बहुत सारी अंग्रेज़ी सेना भारत भेज दी गई। कैन्टन से ब्रिटिश सेना को वापिस बुला लिया गया। नवम्बर 1857 ई० में इंग्लैंड तथा फ्रांसीसी सयुंक्त सेनाओं ने कैन्टन की घेराबन्दी शुरू कर दी। दिसम्बर में अंग्रेज़ और फ्रांसीसी सेनाओं ने कैन्टन पर अधिकार करके कैन्टन के गवर्नर **ये-मिन्ह-चेन** को बन्दी बना लिया। संयुक्त सेनाओं ने फरवरी 1858 ई० में उत्तर की तरफ बढ़ना शुरू कर दिया। मई 1858 ई० में ताकू के शक्तिशाली दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया और संयुक्त सेनाएँ टींटसिन में प्रवेश कर गईं। अन्ततः अंग्रेज तथा चीनियों के बीच टींटसिन की सन्धि हुई।

4.3.3 टींटसिन की सन्धि (Treaty of Tientsin) -26 जून 1858 ई०

इंग्लैंड तथा चीन के बीच **26 जून 1858 ई०** को यह सन्धि हुई। इस सन्धि की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं-

1. चीन ने इंग्लैंड के साथ समानता का व्यवहार करना तथा पीकिंग में एक अंग्रेज राजदूत रखना स्वीकार किया।

2. चीन ने 4 मिलियन डॉलर युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में देना स्वीकार किया।

3. चीन ने अंग्रेज़ों के लिए 11 बन्दरगाह खोल दिए। अब कुल बन्दरगाहों की संख्या 16 हो गई।

4. अंग्रेज़ अब चीन के आन्तरिक भागों में स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकते थे और धर्म का प्रचार कर सकते थे।

इस सन्धि के उपरान्त चीन ने फ्रांस, अमेरिका, रूस, इटली, स्पेन, पुर्तगाल आदि से भी अलग-अलग सन्धियों से उनको वही व्यापारिक सुविधाएँ दे दीं जो इंग्लैंड को दी थीं।

4.3.4 युद्ध का दूसरा चरण

पीकिंग की सरकार ने टींटसिन की सन्धि की सभी शर्तों को मान लिया परन्तु पीकिंग में राजदूत रखने के लिए मना कर दिया और सभी अंग्रेज़ अधिकारियों को पीकिंग से बाहर जाने का आदेश दिया। इससे ब्रिटेन और फ्रांस ने एक बार पुनः चीन के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया। दोनों देशों की सेनाओं ने संयुक्त रूप से पीकिंग पर आक्रमण कर दिया। चीनी सेनाएँ दोनों देशों की संयुक्त सेनाओं का मुकाबला करने में असफल रहीं। अतः पीकिंग पर ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा अधिकार कर लिया गया। मंचू सम्राट पीकिंग छोड़कर जेहोल में शरण लेने के लिए बाध्य हुआ। मंचू

शासक के शानदार महल को दोनों देशों की संयुक्त सेनाओं ने नष्ट कर दिया। अन्त में दोनों देशों के बीच **पीकिंग में समझौता** हुआ जिसकी शर्ते निम्नलिखित थीं –

1. चीन ने 11 अन्य बन्दरगाह यूरोपीय देशों के व्यापार व निवास के लिए खोल दिए। इनमें मुख्य बन्दरगाह थे- चेफू, चिकियांग, हैकाऊ, कुइकियांग, कियुंगचाऊ, न्यु युआंग, स्वाताओ, वेन्चाओ और नानकिंग। इस प्रकार अब स्वतन्त्र बन्दरगाहों की संख्या 16 हो गयी थी।

2. कोलून (Kowloon) का प्रायद्वीप इंग्लैंड को दे दिया गया।

3. चीन ने पीकिंग में अंग्रेजी राजदूत रखना स्वीकार कर लिया।

4. चीन ने इंग्लैंड तथा फ्रांस को 8 मिलियन डॉलर युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में देना स्वीकार किया।

5. चीन की सरकार ने अफीम के व्यापार को कानूनी घोषित कर दिया।

6. विदेशी नागरिकों को चीन के आन्तरिक भाग में कहीं भी आने-जाने की अनुमति दे दी गई।

7. फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरियों को चीन के किसी भी भाग में भूमि खरीदने, गिराजाघर बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया।

8. ईसाई धर्म प्रचारकों की सुरक्षा का चीन ने आश्वासन दिया।

9. पश्चिमी देशों के जहाजों को यांग्त्सी नदी में आने-जाने की अनुमति दी गयी।

अन्य देशों के साथ सन्धियाँ

द्वितीय अफीम युद्ध के तुरन्त बाद तो इंग्लैंड, फ्रांस, अमेरिका, रूस, नार्वे और स्वीडन आदि देशों ने सन्धियाँ की थीं, किन्तु कुछ वर्षों बाद डेनमार्क, नीदरलैंड, स्पेन, बेल्जियम, इटली, आस्ट्रिया, हंगरी, पुर्तगाल, पेरू, ब्राजील, जापान, आदि देशों ने भी चीन के साथ सन्धियाँ कीं। इन सभी देशों ने भी चीन के साथ व्यापार करने की सुविधाएँ प्राप्त कीं। इस प्रकार चीन में साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रभाव में अत्याधिक वृद्धि हुई। यूरोपीय देशों का आर्थिक विस्तार और राजनीतिक लूट का कुछ दशकों तक समानान्तर विकास होता रहा। इन सन्धियों के पश्चात् मान-मर्यादा का ह्रास होने पर भी चीन की सरकार का विदेशियों के प्रति दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। चीनी लोग विदेशियों द्वारा अपमान और लूट को न तो भूले और न ही क्षमा कर सके। चीन ने ऊपर से थोपी हुई व्यवस्था को कभी स्वीकार नहीं किया।

4.3.5 युद्ध का महत्त्व तथा प्रभाव

द्वितीय अफीम युद्ध के पश्चात् चीन का दरवाजा यूरोप के व्यापारियों के लिए खुल गया तथा चीन की पृथक्तावादी नीति का अन्त हो गया। चीन की सैनिक दुर्बलता का पर्दाफाश हो गया। आर्थिक रूप से चीन पश्चिमी देशों पर निर्भर होता गया जिसका उन्होंने अत्यधिक शोषण अपने साम्राज्य प्रसार के लिए किया। इस युद्ध से चीनी समाजके प्रायः सभी क्षेत्रों पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़े, जिनका वर्णन इस प्रकार से है -

1. बीस वर्षों से कम अवधि (1842-60 ई०) में ही दो अफीम युद्धों के फलस्वरूप चीन का राजनीतिक खोखलापन तथा शक्तिहीनता प्रकट हो गयी। चीन की महानता तथा उसकी गुप्त शक्ति की पौराणिकता की दीवार टूटकर चकनाचूर हो गयी। द्वितीय अफीम युद्ध से चीन के सम्मान तथा अहंकार को गहरा धक्का लगा।

2. चीन को लगभग चार वर्षों तक 1856-60 ई० तक इंग्लैंड तथा फ्रांस से युद्ध लड़ना पड़ा। इससे चीन को अत्यधिक धन खर्च करना पड़ा। इस युद्ध से पीकिंग के शाही महल तथा अन्य नगरों के भवनों को भारी क्षति पहुंची। इसके अतिरिक्त चीन को युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में 8 करोड़ डॉलर इंग्लैंड तथा फ्रांस को देने पड़े।

3. द्वितीय अफीम युद्ध में पराजय के फलस्वरूप चीन का पश्चिमी देशों के साथ जिस ढंग का सम्बन्ध स्थापित हुआ और जो सन्धियाँ हुईं उनके फलस्वरूप चीन की सम्प्रभुत्ता और स्वतन्त्र सत्ता को भारी आघात पहुँचा। इन संधियों के द्वारा विदेशी नागरिकों को 16 बन्दरगाहों में निवास करने, भूमि खरीदने, कारखाने लगाने, भवन बनाने तथा ईसाई मिशनरियों को धर्म प्रचार करने का अधिकार दे दिया गया। इससे विदेशी इन अधिकारों का दुरुपयोग करने लगे। वे अपराध करने से संकोच नहीं करते थे क्योंकि अपराध करने के बाद भी उन पर चीनी कानून लागू नहीं होता था। चीन की चुंगी व्यवस्था पर विदेशी नियन्त्रण स्थापित हो गया। चीन के 'अंग-छेदन' का कार्य आरम्भ हो गया। हांगकांग तथा कौलून का प्रायद्वीप इंग्लैंड को दे दिया गया। युद्ध के बाद रूस को पूर्व में आमूर तथा उसूरी के क्षेत्र मिल गये। इस प्रकार चीन की सम्प्रभुता तथा आत्मसम्मान को और भी ठेस पहुँची।

4. द्वितीय अफीम युद्ध के बाद की गई सन्धियों के अनुसार चीन को पश्चिमी देशों के लिए 16 बन्दरगाह खोलनेपड़े । विदेशी व्यापारियों ने इन बन्दरगाहों में अपने कारखाने स्थापित कर लिए तथा इनमें बनी वस्तुओं को चीन की मण्डियों में बेचने लगे। चीनी उद्योग इनका मुकाबला करने में असफल रहा क्योंकि नई-नई मशीनों के द्वारा कारखानों में माल अधिक मात्रा में तथा सस्ती दर से तैयार हो जाता था। अतः चीनी लघु उद्योगों को भारी धक्का लगा तथा बहुत से चीनी कारीगर बेकार हो गये।

5. द्वितीय अफीम युद्ध के पश्चात् चीन ने ब्रिटेन, फ्रांस, रूस तथा अमेरिका आदि के साथ सन्धियाँ करके उन्हें अनेक व्यापारिक, राजनीतिक, प्रशासनिक तथा न्यायिक सुविधाएँ प्रदान कीं। इसके उपरान्त जापान तथा अन्य यूरोपीय देशों को भी यह सुविधाएँ दी गईं। चीन ने डेनमार्क के साथ 1861 ई०, नीदरलैण्ड के साथ 1863, स्पेन के साथ 1864, बेल्जियम के साथ 1865, इटली के साथ 1866, आस्ट्रिया-हंगरी के साथ 1869, पुर्तगाल के साथ 1869, पेरू तथा ब्राजील के साथ 1881, तथा जापान के साथ 1872 ई० में सन्धि की। इन सन्धियों द्वारा इन देशों को समान रूप से व्यापारिक सुविधाएँ दी गई। इसके फलस्वरूप चीन में विदेशी राष्ट्रों का व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित हो गया। चीन का अपनी आर्थिक नीति पर से नियन्त्रण समाप्त हो गया और उसके आयात-निर्यात पर विदेशियों का नियन्त्रण स्थापित हो गया।

6. युद्ध से पूर्व फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरी आगस्टे चौपडीलेन को मृत्युदण्ड दे दिया गया था। इस घटना से उत्तेजित होकर फ्रांस ने इंग्लैंड का इस युद्ध में साथ दिया तथा चीन पराजित हो गया। युद्ध के पश्चात् पीकिंग सन्धि के अनुसार ईसाई धर्म-प्रचारकों को अनेक सुविधाएँ जैसे चीन में विदेशी धर्म-प्रचारकों की यथासम्भव रक्षा करना, बन्दरगाहों के अतिरिक्त चीन के किसी भी भाग में जमीन खरीदने,गिरजाघर बनाने तथा प्रचार करने की खुली छूट दे दी गई। इससे चीन के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। चीनी लोग विदेशी व्यापारियों तथा

धर्म-प्रचारकों से घृणा करते थे जिसके कारण समाज में असन्तोष को बढ़ावा मिला और चीन में बक्सर जैसे अनेक विद्रोह हुए।

4.4 अमेरिकी सिविल वार

अमेरिकी सिविल वार, जिसे अमेरिकी गृहयुद्ध भी कहा जाता है, संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास की सबसे निर्णायक और परिवर्तनकारी घटनाओं में से एक था। यह युद्ध उत्तर (Union) और दक्षिण (Confederacy) के बीच गहरे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक मतभेदों का परिणाम था। इसकी पृष्ठभूमि 18वीं सदी के अंत से ही तैयार हो रही थी, जब अमेरिका ने स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में अपनी पहचान गढ़ने का प्रयास शुरू किया। किन्तु, स्वतंत्रता की घोषणा के बावजूद अमेरिकी समाज में स्वतंत्रताऔरसमानताकीअवधारणाअधूरीथी—विशेषकरदासप्रथाकेप्रश्नपर।

4.4.1 अमेरिकी सिविल वार के कारण

अगर अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम ने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक राष्ट्र का रूप दिया तो अमेरिकी गृह युद्ध ने उसे आधुनिक बनाया। अमेरिकी गृह युद्ध को अंतिम पूंजीवादी आंदोलन भी माना है। अमेरिकी गृह युद्ध के बहुत सारे कारण निर्धारित किए गए हैं। कुछ विद्वान इसका कारण दास व्यवस्था से संबंधित विवाद को मानते हैं तो कुछ अन्य अमेरिकी संघ की एकता और अमेरिकी संघवाद की सुरक्षा को महत्वपूर्ण कारण मानते हैं। वस्तुतः अमेरिकी गृह युद्ध में बहुत सारे सिद्धांत और प्रश्न निहित थे।

अगर एक दृष्टि से देखा जाय तो अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम में ही गृह युद्ध के बीज निहित थे। अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम में मानवाधिकारों की घोषणा की गयी। परन्तु यह घोषणा दासों पर लागू नहीं होती। अमेरिकी स्वतंत्रता के समय पेन्सिलवेनिया और मेसाच्युसेट्स को छोड़कर सभी राज्यों में दास व्यवस्था प्रचलित थी। फिर भी दास व्यवस्था कमजोर पड़ती चली गई। उत्तरी राज्यों में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हो रहा था। अब दासों की जरूरत नहीं रह गई थी। इसलिए 1787 ई. में मैक्सन डिक्सन लाइनसे उत्तर दास व्यवस्था का अंत कर दिया गया।

दास व्यवस्था के साथ आर्थिक मुद्दे भी जुड़े हुए थे। उत्तरी अमेरिका में उद्योगों पर आधारित आधुनिक अर्थव्यवस्था स्थापित हो गई थी। उद्योगों में दासों की तुलना में वैतनिक मजदूरों को प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि वैतनिक मजदूर अधिक दक्ष होते हैं, दक्षिण अमेरिका की स्थिति दूसरी थी। दक्षिण अमेरिका में अभी भी बागवानी कृषि लोकप्रिय थी और बागवानी कृषि में दासों की जरूरत थी। इसलिए दक्षिणी भाग के लिए दास व्यवस्था कीआर्थिक उपयोगिता विद्यमान थी। अतः यहाँ के धनी कृषक दास व्यवस्था के अंत के प्रबल विरोधी थे।

दास व्यवस्था के साथ न केवल आर्थिक प्रश्न निहित थे वरन् कुछ मूलभूत संवैधानिक प्रश्न भी निहित थे। अमेरिका का पश्चिम में विस्तार हो रहा था और नए-नए क्षेत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में शामिल हो रहे थे। इन क्षेत्रों के शामिल होने के साथ एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इन नए क्षेत्रों को किस रूप में शामिल किया जाए, दास राज्य के रूप में या स्वतंत्र राज्य के रूप में।

यह प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण था क्योंकि संघीय व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व के लिए दासों की भी गणना होती थी और दासों की जनसंख्या को 3/5 भाग के औसत में प्रतिनिधित्व दिया जाता था। अतः दास राज्यों की संख्या में वृद्धि से एक और समस्या उपस्थित हो रही थी और वह यह कि व्यवस्थापिका सभा में दास राज्यों का वर्चस्व स्थापित हो जाने का खतरा था। इसलिए जब भी कोई नया राज्य अमेरिकी संघ में शामिल होता था तो उत्तरी अमेरिका उसे स्वतंत्र राज्य के रूप में शामिल करना चाहता था जबकि दक्षिण अमेरिका उसे दास राज्य के रूप में शामिल करने के पक्ष में था। यह तनाव का एक महत्वपूर्ण कारण बन गया। इसके साथ एक और आर्थिक प्रश्न निहित हो गया। उत्तरी अमेरिका के नवोदित उद्योगपति विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से अमेरिकी उद्योगों का संरक्षण चाहते थे। और उनके हितों को ध्यान में रखकर अमेरिकी संघ के द्वारा अमेरिकी उद्योगों को संरक्षण दिया गया। दक्षिण राज्यों को इस बात पर आपत्ति थी क्योंकि संरक्षण की नीति के कारण उन्हें महँगे मूल्य पर विनिर्मित वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। अतः उनके मन में यह बात घर कर गयी कि संघ का उपयोग उत्तरी अमेरिका के लाभ के लिए किया जा रहा था। इसलिएयह भी एक विवाद का कारण बन गया।

अमेरिका का पश्चिम में विस्तार के साथ दास राज्य एवं स्वतंत्र राज्य का मुद्दा बहुत उलझ गया। उत्तर एवं दक्षिण में विवाद का अंत करने के लिए **हेनरी क्ले** नामक व्यक्ति **1820 ई. में मिसौरी समझौता** लाया। इस समझौते के अनुसार मिसौरी को दास राज्य के रूप में शामिल कर लिया गया। किंतु यह भी बात मान ली गई की आगे से मिसौरी से पश्चिम 36 डिग्री 30 मिनट उत्तरी अक्षांश से उत्तर के क्षेत्र स्वतंत्र राज्य के रूप में शामिल होंगे।

किंतु फिर टेक्सास और कैलिफोर्निया के विलय के समय विवाद उठ खड़ा हुआ। टेक्सास दास राज्य के रूप में शामिल किया गया। इस बात पर उत्तरी राज्यों ने प्रतिक्रिया जतायी। फिर कैलिफोर्निया की बारी आई। कैलिफोर्निया एक सोना उत्पादक क्षेत्र था। अतः इस क्षेत्र में उत्तर के साहसी व्यापारी पहले से ही जम चुके थे। कैलिफोर्निया को भी दास राज्य के रूप में शामिल कर दिया गया। स्वाभाविक था कि कैलिफोर्निया स्थित उत्तरी क्षेत्र के व्यापारी इस बात को सहन नहीं करते।

अतः 1850 ई. में एक संविधान लाकर उन्होंने कैलिफोर्निया से दास व्यवस्था का अंत कर दिया। इस बात पर दक्षिण के राज्यों ने उग्र असंतोष व्यक्त किया। अब स्थिति की विकटता को देखते हुए हेनरी क्ले ने एक बार फिर समझौता सूत्र रखा। हेनरी क्ले दक्षिण के राज्यों को संतुष्ट करने के लिए भगोड़ा दास कानून (Fugitive slave Act) लाया। इस कानून से विवाद और भी गहरा गया क्योंकि इस कानून के अनुसार भगोड़े दास को पुनः पकड़ा जा सकता था और अधिकाश भगोड़े दासों को उत्तरी राज्यों के द्वारा शरण दी जाती थी, इसलिए यह एक विवादास्पद मुद्दा बन गया |

अब तक उत्तरी अमेरिकी राज्य सैद्धांतिक रूप में दास व्यवस्था का विरोध करते थे। किंतु अब उत्तर में दास व्यवस्था के उन्मूलन के लिए सक्रिय आंदोलन प्रारंभ हो गया। **श्रीमती स्टोवे** ने **'टॉम काका की कुटियाँ'**नामक पुस्तक लिखकर दास व्यवस्था का उपहास उड़ाया। इससे दक्षिण के राज्यों में और भी अधिक शंका व्याप्त हो गयी, दक्षिण के राज्य इससे उत्तर का षड़यंत्र मानने लगे।

यह विवाद अपनी पराकाष्ठा पर तब पहुँच गया जब कन्सास और नेब्रास्का का प्रश्न उपस्थित हो गया। ये दोनों राज्य मिसौरी के पश्चिम में और निर्धारित अक्षांश के उत्तर में थे। मिसौरी समझौते के अनुसार इन राज्यों को स्वतंत्र राज्यों के रूप में शामिल किया जाना चाहिए था। किन्तु **किंग स्टीफन डगलस** नामक एक राजनीतिक नेता ने दक्षिण के

राज्यों के वोट पाने के उद्देश्य से इन दोनों राज्यों को दास राज्य के रूप में शामिल करवा लिया। स्वाभाविक रूप से उत्तरी राज्यों में आक्रोश उत्पन्न हुआ। फिर दास विरोधी आंदोलन को सबसे गहरा धक्का तब लगा जब 1857 ई. में अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने एक फैसले में यहनिर्धारित किया कि -'दास अधिकार विहीन हैं और दास और दास व्यवस्था अमेरिकी संविधान में स्वीकृत है।'

उत्तरी राज्य में इस फैसले ने उग्र विरोध का रूप ले लिया। **जॉन ब्राउन** नामक एक व्यक्ति ने सरकारी शस्त्रागार पर कब्जा करने की कोशिश की। उसका उद्देश्य था दासों को आधुनिक शस्त्रों से लैस कर उन्हें विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित करना। हालाँकि जान ब्राउन गिरफ्तार हो गया और उसे फाँसी हो गई, किंतु दक्षिण के राज्यों में यह आशंका व्याप्त हो गई कि उत्तरी राज्य दासों को विद्रोह करने केलिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। इस तरह तनाव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

4.4.2 युद्ध का घटनाक्रम

उसी समय रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार लिंकन का पदार्पण हुआ। इब्राहम लिंकन के स्पष्टतः दो उद्देश्य थे:

1. दास व्यवस्था का अंत।

2. उत्तरी राज्यों के उद्योगों को संरक्षण।

डेमोक्रेटिक पार्टी में आपसी फूट के कारण रिपब्लिकन पार्टी की जीत हो गई। लिंकन राष्ट्रपति बने । स्वाभाविक रूप से दक्षिण के राज्यों में यह आशंका व्याप्त हो गई कि लिंकन उत्तरी राज्य के पक्ष में निर्णय लेगा। अतः 20 दिसम्बर 1860 को दक्षिण कैरोलीना संघ से अलग हो गया। फरवरी 1861 तक मिसीसिपी, फ्लोरिडा, अलबामा, जॉर्जिया, लुईसियाना और टेक्सास ने भी एक-एक कर संघ से संबंध विच्छेद कर लिया। फिर 4 फरवरी 1861 को इन राज्यों के प्रतिनिधियों ने अल्बामा के मांटगोमरी नगर में अपना सम्मेलन बुलाया तथा राज्यमंडल की स्थापना की तथा उसकी सरकार भी बना ली। जेफरसन डेविस राष्ट्रपति बना। आगे इसमें बर्जिनिया, अरकांसस, टेनिसी और उत्तरी कैरोलिना जैसे कुछ अन्य राज्य भी शामिल हो गए। दक्षिणी राज्यों के नेता राज्य की संप्रभुता के सिद्धांत में विश्वास करते थे। उनके विचार में संप्रभुता राज्यों में निहित है न कि संघ में। अतः राज्यों को संघ से संबंध विच्छेदित करने का वैध अधिकार है।

इसी के साथ अमेरिकी गृहयुद्ध की शुरूआत हुई जो 1861-65 की अवधि तक चला। अब दास व्यवस्था का प्रश्न दब गया और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ, वह था-अमेरिकी संविधान का प्रश्न। संवैधानिक मुद्दा यह था कि क्या दक्षिणी राज्यों को संघ से बाहर होने का अधिकार है और यह भी कि क्या दक्षिणी राज्यों का यह कदम संविधान सम्मत है?

लिंकन ने इसी मुद्दे पर युद्ध किया एवं उसने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि - **"अगर हम सभी दासों को मुक्त कर संघ को बचा सकें तो हम ऐसा करेंगे अगर हम दासों को मुक्त किए बिना संघ को बचा सकें तो हम ऐसा करेंगे और अगर हम कुछ दासों को मुक्त करके और कुछ अन्य को मुक्त नहीं करके संघ को बचा सकें तो हम वह भी करेंगे।"**

हालाँकि लिंकन व्यक्तिगत रूप से दास व्यवस्था से घृणा करता था किंतु उसने दास व्यवस्था का उन्मूलन दूसरे प्रकार के उद्देश्य से प्रेरित होकर किया। 1865 ई. में लिंकन ने दास व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया किंतु उसका उद्देश्य था दक्षिणी राज्यों की शक्ति को कमजोर करना। उसका मानना था कि उन्मूलन की घोषणा से दक्षिण के राज्यों में दासों का विद्रोह हो जाएगा। अतः युद्ध प्रयास में दक्षिण के राज्यों को दासों की सहायता नहीं मिल पाएगी। अतः ऐसा माना जाता है कि लिंकन ने उन क्षेत्रों में दास व्यवस्था का अंत किया जो स्वयं उसके नियंत्रण में नहीं था। अमेरिकी गृहयुद्ध में पहले दक्षिणी राज्यों का पलड़ा भाड़ी रहा किंतु फिर अंत में उत्तरी राज्यों की स्थिति मजबूत हो गई। 1865 में उत्तरी राज्यों की जीत हुई और इसी के साथ गृह युद्ध का अंत हो गया। युद्ध के बाद के पुनर्निर्माण कार्य को पूरा करने के लिए अब्राहम लिंकन जीवित नहीं रहा क्योंकि 1865 में उसकी हत्या हो गई।

4.4.3युद्ध का अंत और परिणाम

अमेरिकी गृहयुद्ध प्रथम आधुनिक युद्ध माना जाता है जिसमें रेलवे और टेलीग्राफ का उपयोग हुआ समाचार पत्र ने भी जनमत को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जल और थल सेना दोनों ने महत्वपूर्ण कार्य किए। इन्हीं के सहयोग से गृहयुद्ध जीता जा सका। इस युद्ध में धन और जन की अपार क्षति हुई।

1877 में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकी राज्यों के बीच समझौता हो गया। फिर संविधान में 13 वाँ संशोधन लाकर दास व्यवस्था का अंत कर दिया गया। संविधान में 14 वें और 15 वें संविधानसंशोधन के द्वारा दासों को राजनीतिक एवं नागरिक अधिकार दिए गए।

कुछ आलोचकों का मानना है कि अमेरिकी गृहयुद्ध एक प्रकार की शल्य चिकित्सा थी जो पूंजीवादी परिवर्तन के लिए आवश्यक थी। अमेरिकी गृहयुद्ध ने पुराने अमेरिका को नए अमेरिकी से जोड़ दिया। इसके पश्चात् उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिकी के बीच सांस्कृतिक एवं आर्थिक एकीकरण संभव हुआ। दक्षिणी अमेरिका में बागवानी और कृषि का महत्व घटता गया और वहाँ भी औद्योगीकरण का प्रसार हो गया। इस तरह यह एक पूंजीवादी आंदोलन था।

4.5 सारांश

प्रथम एवं द्वितीय अफीम युद्धों का घटनाक्रम एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद की निर्णायक विजय और चीन की पारंपरिक साम्राज्यवादी संरचना की कमजोरी को रेखांकित करता है। आधुनिक युद्ध तकनीक, नौसैनिक प्रभुत्व और कूटनीतिक दबाव ने चीन को अपमानजनक संधि स्वीकार करने पर मजबूर किया। यह युद्ध न केवल चीन के इतिहास में, बल्कि एशिया के औपनिवेशिक इतिहास में एक निर्णायक मोड़सिद्ध हुआ।प्रथम एवं द्वितीय अफ़ीम युद्ध के परिणाम चीन के लिए अत्यंत दूरगामी और नकारात्मक सिद्ध हुए। यह युद्ध न केवल चीन के बंदरगाहों को विदेशी व्यापार के लिए खोलने का कारण बना, बल्कि उसकी राजनीतिक और आर्थिक नींव को भी कमजोर कर गया। इसके साथ ही पश्चिमी शक्तियों को एशिया में साम्राज्यवादी विस्तार का एक नया मार्ग मिला। इन युद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया कि औद्योगिक सैन्य शक्ति के सामने परंपरागत साम्राज्यवादी व्यवस्थाएँ टिक नहीं सकतीं। साथ ही इन युद्धों ने चीन को न केवल सैन्य रूप से कमजोर किया बल्कि उसे आर्थिक रूप से विदेशी शक्तियों पर निर्भर, राजनीतिक रूप से असुरक्षित और सांस्कृतिक रूप से अपमानित बना दिया। इसी दौर से चीन में

पश्चिम-विरोधी भावनाएँ गहरी हुईं और चीन का **'अपमान का शताब्दी काल'** आरंभ हुआ, जिसने चीन के आधुनिक राजनीतिक इतिहास की दिशा को पूरी तरह बदल दिया।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि एक ओर अफीम युद्धों ने एशिया, विशेषकर चीन, को राजनीतिक और आर्थिक रूप से कमजोर किया और साम्राज्यवाद के विस्तार में ब्रिटेन की शक्ति में वृद्धि की । इसके विपरीत, अमेरिकी सिविल वार ने दुनिया में दास-प्रथा को चुनौती दी और लोकतांत्रिक मूल्यों को मजबूत किया। यह सभी घटनाएँ उन्नीसवीं सदी के विश्व इतिहास के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं, जिन्होंने आधुनिक विश्व-व्यवस्था को आकार दिया।

4.6 बहुविकल्पीय प्रश्न

1.नानकिंग की संधि (1842) के अनुसार ब्रिटेन को कौन-सा क्षेत्र सौंपा गया?

(A) मकाओ

(B) हांगकांग

(C) कौलून

(D) शंघाई

2. बोग की संधि (1843) का प्रमुख प्रावधान क्या था?

(A) अफीम व्यापार वैध घोषित किया गया

(B) चीन ने 11 बंदरगाह खोले

(C) अंग्रेजों के मुकदमे अंग्रेजी कानून से चलेंगे

(D) फ्रांस को व्यापारिक अधिकार मिले

3. फ्रांसीसी हस्तक्षेप का प्रमुख कारण कौन-सी घटना थी?

(A) लोर्चा एरो घटना

(B) पादरी आगस्टे चैपडीलेन की हत्या

(C) कैन्टन पर आक्रमण

(D) पीकिंग में राजदूत नियुक्ति

4. टींटसिन की संधि (1858) के अंतर्गत चीन ने क्या स्वीकार किया?

(A) अंग्रेजी राजदूत को पीकिंग में स्थान देना

(B) अफीम का वैधीकरण

(C) हांगकांग का हस्तांतरण

(D) को-होंग प्रणाली लागू करना

4.7 बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

उत्तर: 1. (B), 2. (C), 3. (B), 4. (A)

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वर्मा, दीनानाथ., एवं सिंह, शिव कुमार., विश्व इतिहास का सर्वेक्षण., भर्ती भवन पब्लिशर्स नई दिल्ली, 1991.

2. महाजन, विद्याधर., यूरोप का इतिहास, राजेंद्र रविन्द्र प्रिंटर्स, नई दिल्ली, 1982.

3. खुराना, के.एल., विश्व का इतिहास, नई दिल्ली.

4. Rana Mitter: Modern China: A Very Short Introduction.

5.Immanuel C. Y. Hsu: The Rise of Modern China.

6. Jean Chesneaux, (et al): China from the Opium Wars to the 1911 Revolution.

7.Hu Sheng: Imperialism and Chinese Politics.

8. Jack Gray: Rebellions and Revolutions; China from the 1800s to the 1980s.

4.9निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रथम अफीम युद्ध के कारणों और परिणामों का विश्लेषण कीजिए।

2. द्वितीय अफीम युद्ध ने चीन के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचे को किस प्रकार प्रभावित किया?

3. अमेरिकी सिविल वार (1861–1865) के प्रमुख कारणों और घटनाक्रम की व्याख्या कीजिए।

इकाई पाँच

प्रथम विश्वयुद्ध एवं रूसी क्रांति

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रथम विश्वयुद्ध: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

5.3 प्रथम विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण

5.4 युद्ध की प्रमुख घटनाएँ एवं चरण

5.5 प्रथम विश्वयुद्ध के युद्ध के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभाव

5.6 युद्ध में भारत एवं अन्य उपनिवेशों की भूमिका

5.7 युद्ध का समापन एवं वर्साय की संधि

5.8 रूसी क्रांति: पृष्ठभूमि

5.9 1905 की क्रांति

5.10 1917 की रूसी क्रांति: फरवरी एवं अक्टूबर चरण

5.11 लेनिन, बोल्शेविक और सोवियत सत्ता की स्थापना

5.12 रूसी क्रांति का विश्व इतिहास पर प्रभाव

5.13 सारांश

5.14 मुख्य शब्द

5.15 संदर्भ-ग्रंथ सूची

5.16 प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1918) आधुनिक विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसने न केवल यूरोप, बल्कि एशिया, अफ्रीका और अमेरिका सहित विश्व के सभी भागों को प्रभावित किया। यह युद्ध केवल शस्त्रों की टकराहट नहीं था, बल्कि साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद, सैन्यवाद और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्विता के जटिल संबंधों का परिणाम था। इस युद्ध ने राजनीतिक मानचित्र को पुनर्गठित किया तथा लाखों लोगों के जीवन, अर्थव्यवस्था और समाज पर गहरा प्रभाव डाला। युद्ध ने यूरोप के राजतंत्रों को हिला दिया और पुराने शासन-तंत्रों के अंत का मार्ग प्रशस्त किया। इसी व्यापक उथल-पुथल के बीच रूस में हुई क्रांति ने इतिहास की दिशा को एक नए मोड़ पर पहुँचा दिया।

रूसी क्रांति 20वीं शताब्दी की सर्वाधिक प्रभावशाली घटनाओं में से एक थी जिसने न केवल रूस के राजनीतिक ढांचे को परिवर्तनशील बनाया, बल्कि विश्वभर में समाजवादी विचारधारा को भी प्रेरित किया। फरवरी और अक्टूबर 1917 की क्रांतियों ने ज़ारवादी शासन का अंत किया और बोल्शेविकों को सत्ता में लाया। लेनिन के नेतृत्व में समाजवादी शासन का उदय विश्व-राजनीति में नए युग का आगाज था।

इस अध्याय में प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि, कारण, घटनाएँ, प्रभाव और युद्ध के समापन के साथ-साथ रूसी क्रांति के क्रमिक विकास को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। युद्ध और क्रांति दोनों घटनाएँ एक-दूसरे से गहराई से जुड़ी हुई थीं, क्योंकि युद्ध की स्थितियों ने रूस में असंतोष को चरम पर पहुँचाया था।

यह इकाई न केवल ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करती है, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, आर्थिक परिवर्तनों और वैचारिक संघर्षों की भी व्याख्या करती है। इसके अंतर्गत भारत और अन्य उपनिवेशों की भूमिका पर भी विचार किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह युद्ध वास्तव में एक "विश्व-व्यापी" संघर्ष था। इस अध्याय का उद्देश्य विद्यार्थियों को इन दोनों ऐतिहासिक घटनाओं का समग्र और विश्लेषणात्मक ज्ञान प्रदान करना है, जिससे वे 20वीं सदी के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढांचे में आए परिवर्तनों को समझ सकें।

5.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन पश्चात शिक्षार्थी निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेंगे—

- प्रथम विश्वयुद्ध के दीर्घकालिक एवं अल्पकालिक कारणों की पहचान कर सकेंगे।
- युद्ध की प्रमुख घटनाओं, चरणों एवं परिणामों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- युद्ध में भारत और अन्य उपनिवेशों की भूमिका को समझ सकेंगे।
- रूसी क्रांति की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और उसके विभिन्न चरणों का अध्ययन कर सकेंगे।
- लेनिन और बोल्शेविक आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका को समझ पाएँगे।
- विश्व राजनीति एवं समाज पर रूसी क्रांति के प्रभावों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

5.2 प्रथम विश्वयुद्ध: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रथम विश्वयुद्ध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही आकार लेनी शुरू हो चुकी थी। औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोपीय महाशक्तियाँ न केवल आर्थिक प्रतिस्पर्धा में उलझीं, बल्कि वे नए बाज़ारों, उपनिवेशों और प्राकृतिक संसाधनों के लिए भी संघर्ष करने लगीं। ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के बीच औद्योगिक व आर्थिक श्रेष्ठता के लिए तेज़ प्रतिस्पर्धा चल रही थी। विशेष रूप से जर्मनी का तीव्र औद्योगिकीकरण और उसकी बढ़ती सैन्य शक्ति यूरोप के पारंपरिक साम्राज्यों के लिए चुनौती बन गई। इस प्रतिस्पर्धा ने महाशक्तियों के बीच अविश्वास बढ़ाया और महाद्वीप को वैचारिक, सैन्य और कूटनीतिक संघर्ष की ओर धकेल दिया।

19वीं सदी के अंत में यूरोप दो बड़े प्रतिद्वंद्वी सैन्य गुटों में बँट चुका था- ट्रिपल एलायंस (जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी और इटली) तथा ट्रिपल एंटेंट (ब्रिटेन, फ्रांस और रूस)। इन गठबंधनों ने यूरोप को स्थिरता देने के बजाय स्थिति को और अधिक तनावपूर्ण बना दिया। किसी भी दो देशों के बीच उत्पन्न विवाद अब पूरे महाद्वीप का संकट बन सकता

था। यह गठबंधन-प्रणाली युद्ध की ओर बढ़ने का प्रमुख संरचनात्मक कारण बनी, क्योंकि इससे एक छोटे से क्षेत्रीय संघर्ष के विश्वव्यापी युद्ध में बदलने की संभावनाएँ बढ़ गईं।

यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय भी युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने वाला एक प्रमुख कारक था। इटली और जर्मनी के एकीकरण के बाद राष्ट्रवाद की भावना अत्यधिक प्रबल हो चुकी थी। बाल्कन क्षेत्र में स्लाव राष्ट्रवाद, सर्बिया का विस्तारवादी राष्ट्रवाद और ऑस्ट्रिया-हंगरी की बहु-राष्ट्रीय साम्राज्यवादी संरचना के बीच गंभीर टकराव उत्पन्न हो गए थे। बाल्कन क्षेत्र "यूरोप का बारूदखाना" कहा जाने लगा, जहाँ एक छोटी-सी घटना संपूर्ण यूरोप को युद्ध में धकेल सकती थी।

इसके अतिरिक्त यूरोपीय शक्तियों के बीच हथियारों की दौड़ भी तेज़ हो चुकी थी। ब्रिटेन और जर्मनी के बीच नौसैनिक शक्ति प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा अभूतपूर्व स्तर पर पहुँच गई थी। आधुनिक बंदूकों, मशीनगनों, तोपों और युद्धपोतों के निर्माण ने सैन्य शक्ति को बढ़ाया, पर साथ ही युद्ध की संभावना को भी बढ़ा दिया। महाशक्तियाँ लगातार अपनी सैन्य क्षमता का प्रदर्शन कर रही थीं, जिससे तनाव का वातावरण और अधिक गहरा होता गया।

यूरोप का कूटनीतिक वातावरण भी 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक अत्यंत जटिल बन चुका था। विभिन्न संधियाँ, गुप्त समझौते और उपनिवेशों को लेकर विवाद महाशक्तियों के बीच अविश्वास को बढ़ाते रहे। मोरक्को संकट (1905 और 1911), बोस्निया संकट (1908), बाल्कन युद्ध (1912–13) जैसी घटनाओं ने यूरोप की स्थिरता को पूरी तरह डगमगा दिया। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में तनाव, सैन्यवाद और राष्ट्रवादी महत्वाकांक्षाओं के सम्मिलित प्रभाव ने अंततः प्रथम विश्वयुद्ध की नींव रख दी।

5.3 प्रथम विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण अनेक स्तरों पर फैले हुए थे- राजनीतिक, आर्थिक, सैन्य, कूटनीतिक और वैचारिक। यह युद्ध अचानक शुरू नहीं हुआ, बल्कि दशकों से चल रहे अंतरराष्ट्रीय तनाव का परिणाम था। यूरोप के प्रमुख राष्ट्र अपने आर्थिक एवं सामरिक हितों की रक्षा के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा में उलझे हुए थे। उपनिवेशों को लेकर संघर्ष, बाजारों पर कब्ज़े की होड़ और सैन्य शक्ति के प्रदर्शन ने यूरोपीय देशों के बीच अविश्वास की खाई को और गहरा कर दिया। औद्योगिक क्रांति के बाद पैदा हुई संसाधनों और बाजारों की भूख ने युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने में केंद्रीय भूमिका निभाई।

साम्राज्यवाद प्रथम विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण था। 19वीं सदी के अंत में यूरोपीय शक्तियाँ एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद के माध्यम से अपना विस्तार कर रही थीं। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस पहले से विशाल साम्राज्यों के स्वामी थे, जबकि जर्मनी और इटली जैसे नए राष्ट्र-राज्य भी उपनिवेश प्राप्त करने के लिए उतने ही उत्सुक थे। इस साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा ने महाशक्तियों के बीच तनाव पैदा किया, विशेषकर जर्मनी और ब्रिटेन के बीच। अफ्रीका और मध्य पूर्व को लेकर हुए विवादों ने कूटनीतिक वातावरण को अस्थिर किया। मोरक्को संकट (1905 तथा 1911) ने स्पष्ट कर दिया कि यूरोप की शक्तियाँ अब किसी भी प्रकार के समझौते के स्थान पर संघर्ष के लिए अधिक तत्पर थीं।

राष्ट्रवाद भी युद्ध के प्रमुख वैचारिक कारणों में से एक था। जर्मनी और इटली के एकीकरण ने पूरे यूरोप में राष्ट्रवादी भावना को प्रबल किया था। बाल्कन क्षेत्र में स्लाव राष्ट्रवाद, सर्बिया की विस्तारवादी नीतियाँ और ऑस्ट्रिया-हंगरी की बहुराष्ट्रीय संरचना के भीतर बढ़ती असंतुष्टि ने युद्ध की संभावना को और बढ़ाया। सर्ब राष्ट्रवादियों द्वारा ऑस्ट्रिया-हंगरी के उत्तराधिकारी आर्कड्यूक फ्रांज फर्डिनेंड की हत्या इसी राष्ट्रवादी संघर्ष का प्रत्यक्ष

परिणाम थी। यह घटना युद्ध का तात्कालिक कारण बनी, लेकिन इसके पीछे दशकों पुराना राष्ट्रवादी उन्माद ही जिम्मेदार था।

यूरोप में हथियारों की दौड़ युद्ध की तैयारी और मानसिकता दोनों को बढ़ावा दे रही थी। ब्रिटेन और जर्मनी के बीच नौसैनिक शक्ति की प्रतिस्पर्धा ने वातावरण को और अधिक अस्थिर बनाया। जर्मनी द्वारा शक्तिशाली 'ड्रेडनॉट' युद्धपोतों का निर्माण ब्रिटेन के लिए सीधी चुनौती माना गया। दूसरी ओर, थलसेना में फ्रांस और जर्मनी दोनों लगातार सैनिकों की संख्या बढ़ा रहे थे। यह सैन्यवाद केवल सैन्य शक्ति का संग्रह नहीं था, बल्कि युद्ध को एक अनिवार्य और सम्मानजनक विकल्प के रूप में देखने वाली मानसिकता का विकास भी था। इससे यूरोप के देशों में शांति की संभावनाएँ लगातार कम होती गईं।

अंततः, यूरोप की गठबंधन-प्रणाली ने स्थानीय घटनाओं को वैश्विक संघर्ष में बदलने का काम किया। ट्रिपल एलायंस (जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी, इटली) और ट्रिपल एंटेंट (ब्रिटेन, फ्रांस, रूस) ने महाद्वीप को दो शक्तिशाली समूहों में बाँट दिया था। किसी भी दो देशों के बीच उत्पन्न विवाद अब पूरे गुट के लिए चुनौती बन जाता था। आर्कड्यूक फर्डिनेंड की हत्या के बाद ऑस्ट्रिया-हंगरी–सर्बिया विवाद ने कुछ ही सप्ताह में दोनों सैन्य गठबंधनों को युद्ध में धकेल दिया। इस प्रकार, प्रथम विश्वयुद्ध केवल एक घटना का परिणाम नहीं था, बल्कि राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, सैन्यवाद और गठबंधन-राजनीति के संयुक्त प्रभावों का चरम रूप था।

5.4 युद्ध की प्रमुख घटनाएँ एवं चरण

प्रथम विश्वयुद्ध की घटनाओं को समझने के लिए इसे हम सामान्यतः तीन मुख्य चरणों में विभाजित कर सकते हैं:-

(1) प्रारंभिक चरण (1914–1915)

(2) गतिरोध एवं trench warfare का चरण (1915–1916)

(3) निर्णायक चरण (1917–1918)

युद्ध की शुरुआत 28 जून 1914 को बोस्निया के सारजेवो में ऑस्ट्रिया-हंगरी के सिंहासन के उत्तराधिकारी आर्कड्यूक फ्रांज फर्डिनेंड की गोली मारकर हत्या कर देने से हुई। इस हत्या को अंजाम एक सर्बियाई व्यक्ति द्वारा इस सोच के चलते दिया गया कि ऑस्ट्रिया के बजाय सर्बिया को बोस्निया पर नियंत्रण करना चाहिये था। इससे सारा यूरोप सकते में आ गया। इस घटना ने यूरोप में पहले से मौजूद तनाव को विस्फोटक रूप दे दिया। ऑस्ट्रिया ने इस घटना के लिये सीधा सर्बिया को उत्तरदायी माना। और सर्बिया को यह चेतावनी दी गई कि वह 48 घंटे के अंदर इस घटना से सम्बंधित दोषियों पर कार्यवाही करे। हालाँकि सर्बिया द्वारा ऑस्ट्रिया की इस मांग को नकार दिया गया। परिणामस्वरूप 28 जुलाई, 1914 को ऑस्ट्रिया ने सर्बिया के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। देखते-ही-देखते विश्व के अन्य राष्ट्र भी अपने-अपने गुटों के समर्थन में उतर आए और युद्ध विकराल होता चला गया। परिणामस्वरूप रूस ने सर्बिया के समर्थन में सेना भेजी क्योंकि उसने सर्बिया के साथ संधि की हुई थी, जर्मनी ने रूस के साथ युद्ध की घोषणा कर दी क्योंकि उसके और ऑस्ट्रिया-हंगरी के मध्य संधि हुई थी। और अंततः ब्रिटेन भी इस संघर्ष में शामिल हो गया क्योंकि जर्मनी ने तटस्थ बेल्जियम पर आक्रमण कर दिया और इसकी रक्षा के लिए इन दोनों देशों के मध्य समझौता हुआ था। इस प्रकार, एक स्थानीय घटना ने विश्वव्यापी युद्ध का रूप ले लिया।

युद्ध के प्रारंभिक चरण में जर्मनी ने शीघ्र विजय प्राप्त करने हेतु ‘शलिफेन योजना’ (Schlieffen Plan) लागू की, जिसके तहत फ्रांस को तेजी से पराजित करके फिर रूस की ओर बढ़ना था। जर्मन सेना बेल्जियम के रास्ते फ्रांस में

प्रवेश कर गई, जिससे ब्रिटेन भी युद्ध में कूद पड़ा। हालांकि जर्मन सेना पेरिस के निकट तक पहुँच गई थी, लेकिन सितंबर 1914 में 'मार्ने का प्रथम युद्ध' ने जर्मन आक्रमण को रोक दिया। इसके बाद दोनों पक्ष ट्रेन्चेस में जम गए और युद्ध एक गतिरोध की स्थिति में पहुँच गया। इसी दौरान पूर्वी मोर्चे पर जर्मनी ने रूस के विरुद्ध 'टेननबर्ग' और 'मासूरियन झीलों' में महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की।

1915–1916 के दौरान trench warfare युद्ध का प्रमुख स्वरूप बन गया। पश्चिमी मोर्चे पर दोनों पक्षों ने हजारों किलोमीटर लंबी खाइयाँ बना लीं। युद्ध मशीन, भारी तोपखाने, जहरीली गैस, मशीनगन और बारूदी सुरंगों ने मोर्चों को अत्यंत घातक बना दिया। वर्दुन (1916) और सोम (1916) के युद्ध इस चरण के प्रतीक थे, जहाँ लाखों सैनिक मारे गए लेकिन कोई भी पक्ष निर्णायक विजय नहीं पा सका। पूर्वी मोर्चे पर रूस को भारी सैन्य दबाव झेलना पड़ा, जिससे आंतरिक असंतोष बढ़ा और आगे चलकर 1917 की रूसी क्रांति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

1917 युद्ध का निर्णायक मोड़ था। इसी वर्ष अमेरिका मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल हुआ, जिसने न केवल सैन्य संतुलन बदला बल्कि आर्थिक संसाधनों की कमी से जूझ रहे मित्र राष्ट्रों को विशाल सहायता प्रदान की। दूसरी ओर रूस में फरवरी और अक्टूबर क्रांतियों के कारण वह युद्ध से बाहर हो गया और जर्मनी के साथ 'ब्रेस्ट-लिटोव्स्क संधि' पर हस्ताक्षर किए। जर्मनी ने पश्चिमी मोर्चे पर एक बड़े आक्रमण ('स्प्रिंग ऑफेंसिव') का प्रयास किया, लेकिन मित्र राष्ट्रों की संयुक्त प्रतिक्रिया के सामने वह सफल नहीं हो सका।

1918 में युद्ध का अंतिम चरण प्रारंभ हुआ। अमेरिकी सैनिकों की निरंतर आमद, जर्मनी के भीतर उत्पन्न राजनीतिक अशांति और आर्थिक थकान ने युद्ध के परिणाम को स्पष्ट कर दिया। मित्र राष्ट्रों ने संयुक्त आक्रमण कर जर्मन मोर्चों को तोड़ना शुरू कर दिया। बुल्गारिया, ऑस्ट्रिया-हंगरी और ओटोमन साम्राज्य एक-एक कर युद्ध से बाहर हो गए। अंततः 11 नवंबर 1918 को जर्मनी ने युद्धविराम पर हस्ताक्षर कर दिए। इस प्रकार, चार वर्षों तक चले भीषण संघर्ष का अंत हुआ, जिसने विश्व-राजनीति का स्वरूप बदल दिया और 20वीं सदी के इतिहास को नई दिशा प्रदान की।

5.5 प्रथम विश्वयुद्ध के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभाव

प्रथम विश्वयुद्ध ने समाज के ढांचे को मूल रूप से परिवर्तित कर दिया। युद्ध में करोड़ों सैनिकों की भागीदारी और लाखों की मृत्यु ने यूरोपीय समाज के जनसांख्यिकीय संतुलन को गहराई से प्रभावित किया। अनेक परिवारों ने अपने युवा पुरुष खो दिए, जिसके परिणामस्वरूप परिवार-प्रणाली, श्रम-संबंध और सामाजिक भूमिकाओं में परिवर्तन आया। महिलाओं ने बड़े पैमाने पर कार्यबल में प्रवेश किया और उद्योगों से लेकर परिवहन तक अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इससे लैंगिक भूमिकाओं में परिवर्तन आया और आगे चलकर महिला मताधिकार आंदोलनों को मजबूती मिली। युद्ध से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक आघात, जैसे 'शेल शॉक'; ने मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में नए अनुसंधान और नीतियों की आवश्यकता को भी उजागर किया।

आर्थिक दृष्टि से भी प्रथम विश्व युद्ध अत्यंत विनाशकारी सिद्ध हुआ। चार वर्ष के लंबे संघर्ष ने यूरोप के अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्था को पूरी तरह से कमजोर कर दिया। उद्योग, कृषि और व्यापार लगभग सभी क्षेत्रों में उत्पादन क्षमता या तो कम हो गई या फिर सीमित हो गई। जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन और रूस पर भारी युद्ध-ऋण का बोझ आ पड़ा। मुद्रास्फीति तेजी से बढ़ी और गरीब वर्ग की आर्थिक स्थिति बदतर होती गई। कई देशों ने युद्ध-कालीन उत्पादन को बनाए रखने के लिए उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण बढ़ाया, जिससे आगे चलकर राज्य-नियंत्रित

अर्थव्यवस्था और समाजवादी नीतियों को वैचारिक समर्थन मिला। युद्ध के बाद अमेरिका एक प्रमुख आर्थिक शक्ति के रूप में उभरा, जबकि यूरोप का आर्थिक प्रभाव सापेक्षिक रूप से घटता गया।

राजनीतिक दृष्टि से भी प्रथम विश्वयुद्ध ने विश्व के मानचित्र को पुनर्गठित कर दिया। जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी, रूस और ओटोमन साम्राज्य जैसे पुराने साम्राज्य टूट गए और उनकी जगह नए राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ। लोकतांत्रिक विचारधाराएँ कई देशों में मजबूत हुईं, जबकि कुछ स्थानों पर राजनीतिक अस्थिरता ने तानाशाही शासन और फासीवादी आंदोलनों को जन्म दिया। रूस में युद्ध की कठिनाइयों ने ज़ारवादी शासन के पतन को तेज किया और अंततः बोल्शेविक क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया। युद्ध के बाद स्थापित 'राष्ट्र संघ' (League of Nations) ने अंतरराष्ट्रीय शांति की ओर एक नया प्रयास किया, यद्यपि उसकी प्रभावशीलता सीमित रही।

सामाजिक और राजनीतिक असंतोष के साथ-साथ युद्ध ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों और व्यवहार में भी परिवर्तन किया। कूटनीति अब गुप्त संधियों के बजाय खुले समझौतों पर आधारित होने लगी। अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के 'चौदह सूत्र' (Fourteen Points) ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आत्मनिर्णय, सामूहिक सुरक्षा और शांति-व्यवस्था की नई अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं। हालांकि इन सिद्धांतों को पूर्णतः लागू नहीं किया गया, फिर भी उन्होंने 20वीं शताब्दी की वैश्विक राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला।

युद्ध के सांस्कृतिक प्रभाव भी गहरे थे। कला, साहित्य, संगीत और दर्शन में निराशावाद, यथार्थवाद और युद्ध-विरोधी दृष्टिकोण में वृद्धि हुई। 'लॉस्ट जेनरेशन' के लेखकों ने युद्ध के आघात और जीवन के प्रति मोहभंग को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया। यूरोप की सांस्कृतिक श्रेष्ठता की अवधारणा कमजोर पड़ गई और वैश्विक स्तर पर नए सांस्कृतिक आंदोलनों का उदय हुआ। कुल मिलाकर, प्रथम विश्वयुद्ध ने समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति के सभी पहलुओं को गहराई से प्रभावित किया और आधुनिक विश्व के स्वरूप को निर्धारित करने में निर्णायक भूमिका निभाई।

5.6 युद्ध में भारत एवं अन्य उपनिवेशों की भूमिका

प्रथम विश्वयुद्ध में भारत की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही, यद्यपि भारत स्वयं उस समय ब्रिटिश उपनिवेश था और उसके पास युद्ध में शामिल होने का स्वतंत्र निर्णय नहीं था। ब्रिटिश सरकार ने भारत को 'साम्राज्य की रक्षा' के लिए व्यापक पैमाने पर संसाधन उपलब्ध कराने हेतु अनिवार्य रूप से युद्ध में झोंक दिया। भारतीय सैनिकों को यूरोप, पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और मध्य पूर्व के विभिन्न मोर्चों पर भेजा गया। अनुमानतः 13 लाख से अधिक भारतीय सैनिक और मज़दूर युद्ध में सम्मिलित किए गए, जिनमें से लाखों सैनिक फ्रांस और बेल्जियम के कठोर मोर्चों पर लड़े। भारत की ओर से इतनी बड़ी सैन्य भागीदारी ने यह सिद्ध किया कि उपनिवेश मात्र संसाधन नहीं थे, बल्कि साम्राज्यवादी युद्धों के आधार-स्तंभ बन चुके थे।

युद्ध के प्रारंभिक चरण में भारतीय सैनिकों ने ब्रिटिश सेना की कमजोरी को संभाला और फ्रांस के यप्रस, न्युव शैपेल और गैलीपोली के मोर्चों पर अपनी वीरता का प्रदर्शन किया। सिख, गोरखा, राजपूत, मराठा और पंजाब रेजिमेंटों ने असाधारण साहस के साथ युद्ध लड़ा। भारतीय सैनिकों की वीरता को ब्रिटिश अधिकारियों ने भी स्वीकार किया, लेकिन इसके बावजूद उन्हें नस्लीय भेदभाव, निम्न वेतन और कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। कई भारतीय सैनिक कठोर मौसम, अस्थाई चिकित्सा सुविधाओं की कमी और अपरिचित युद्ध तकनीकों के कारण मारे गए। इन सब के बावजूद भारत की सैन्य भूमिका ने वैश्विक स्तर पर उसकी सामरिक महत्ता को रेखांकित किया।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर युद्ध का गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध के लिए भारत से भारी मात्रा में धन, अनाज, कपास, धातु, औद्योगिक कच्चा माल और परिवहन सुविधाएँ अपने मातृदेश को आयात की। भारत में करों में वृद्धि हुई, साथ ही युद्ध-ऋण भी उठाया गया। उद्योगों, विशेषकर कपड़ा, इस्पात एवं निर्माण-क्षेत्र में उत्पादन बढ़ा, जिससे भारतीय औद्योगिक विकास को गति मिली। किन्तु साथ ही महँगाई, खाद्यान्न-संकट और बेरोजगारी में वृद्धि हुई। युद्ध-कालीन आर्थिक दबावों ने भारतीय समाज में व्यापक असंतोष उत्पन्न किया, जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन को गति प्रदान की।

अन्य उपनिवेशों की भूमिका भी युद्ध में अत्यंत महत्वपूर्ण थी। फ्रांस ने अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनीशिया और पश्चिमी अफ्रीका से लाखों सैनिक युद्ध में उतारे। ब्रिटेन ने कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और दक्षिण अफ्रीका जैसे 'डोमिनियन' देशों से भी बड़ी संख्या में सैनिकों का उपयोग किया। अफ्रीकी उपनिवेशों को न केवल सैनिकों के रूप में, बल्कि पोर्टर, मजदूर, गाइड और सहायक कर्मियों के रूप में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया गया। उपनिवेशों के लोगों ने अत्यधिक कठिन परिस्थितियों में भी युद्ध प्रयासों में योगदान दिया, जबकि उन्हें युद्ध के उद्देश्यों या परिणामों से कोई लाभ नहीं मिला।

युद्ध में उपनिवेशों की भारी भागीदारी ने विश्व राजनीति में उपनिवेशवाद के अंत की दिशा में नई चेतना उत्पन्न की। भारत, मिस्र, वियतनाम, घाना और केन्या जैसे देशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों की तीव्रता बढ़ी। उपनिवेशों के लोगों ने देखा कि वे युद्ध में साम्राज्य के लिए रक्त बहा सकते हैं, परंतु उन्हें राजनीतिक अधिकारों और स्वतंत्रता से वंचित रखा जाता है। इस बोध ने स्वतंत्रता के व्यापक संघर्षों को प्रेरणा प्रदान की। इसलिए यह भी माना जाता है कि प्रथम विश्वयुद्ध केवल यूरोपीय संघर्ष नहीं था, बल्कि एक ऐसा युद्ध था जिसने उपनिवेशों में राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया और 20वीं शताब्दी के स्वतंत्रता-आंदोलनों की नींव रखी।

5.7 युद्ध की समाप्ति और वर्साय की संधि

प्रथम विश्वयुद्ध का समापन 1918 में हुआ, परंतु इसका राजनीतिक, आर्थिक और भू-रणनीतिक प्रभाव आने वाले दशकों तक विश्व को प्रभावित करता रहा। प्रथम विश्वयुद्ध के अंत की औपचारिक रूपरेखा वर्साय की संधि (1919) के साथ हुई, जो 28 जून 1919 को हस्ताक्षरित हुई। यह संधि केवल युद्ध-विराम की घोषणा नहीं थी, बल्कि जर्मनी को कठोर दंड, यूरोपीय राजनीतिक मानचित्र का पुनर्निर्माण और राष्ट्रसंघ (League of Nations) जैसी नई अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना की दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण दस्तावेज थी।

क) जर्मनी पर कठोर शर्तें: वर्साय की संधि ने जर्मनी को युद्ध का मुख्य दोषी ठहराते हुए (War Guilt Clause - अनुच्छेद 231) अत्यंत अपमानजनक और कठोर शर्तें थोपीं।

- जर्मनी को भारी क्षतिपूर्ति (Reparations) भरने के लिए बाध्य किया गया।
- उसकी सैन्य शक्ति को सीमित करते हुए केवल 1 लाख सैनिकों वाली छोटी सेना रखने की अनुमति दी गई; नौसेना अत्यंत सीमित और वायुसेना को समाप्त कर दिया गया।

- जर्मनी के औद्योगिक क्षेत्रों, विशेषकर सार बेसिन (Saar Basin) को अंतरराष्ट्रीय नियंत्रण में और राइनलैंड (Rhineland) को असैनिकीकृत (demilitarized) किया गया।
- ये सभी प्रावधान जर्मनी में आक्रोश, असंतोष और आर्थिक विनाश का कारण बने।

ख) यूरोप का पुनः-मानचित्रण: वर्साय की संधि के साथ-साथ अन्य संधियों (St. Germain, Trianon आदि) ने मध्य और पूर्वी यूरोप का भौगोलिक स्वरूप बदल दिया।

- ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य का विघटन हुआ और ऑस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया जैसे राष्ट्र उभरे।
- पोलैंड को पुनः अस्तित्व मिला
- फ्रांस को अलसास-लॉरेन क्षेत्र लौटा दिया गया।

इन परिवर्तनों ने यूरोप को 'नए राष्ट्रवाद' और 'नए विवादों' की भूमि बना दिया, जिसका प्रभाव द्वितीय विश्वयुद्ध तक रहा।

ग) राष्ट्रसंघ की स्थापना: विश्व शांति बनाए रखने के उद्देश्य से राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना हुई। यह संस्था अंतरराष्ट्रीय विवादों को कूटनीतिक तरीके से हल करने का मंच थी, परन्तु इसकी संरचना और शक्तियों की सीमाएँ गंभीर थी, जैसे अमेरिका का सदस्य न बन पाना और सैन्य बल का अभाव।

घ) आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव: वर्साय की संधि ने जर्मनी की अर्थव्यवस्था को तोड़ दिया। मुद्रास्फीति, बेरोजगारी और आर्थिक पतन ने जर्मन जनता में असंतोष पैदा किया। यह असंतोष आगे चलकर हिटलर और नाज़ीवाद के उदय का मुख्य कारण बना।

यूरोप में भी स्थिरता के बजाय अस्थिरता बढ़ी। संधि में 'स्थायी शांति' की बजाय 'विजेताओं की राजनीति' अधिक प्रभावी रही।

ङ) संधि की आलोचना: वर्साय की संधि को इतिहासकारों ने "दंडात्मक और अपमानजनक शांति" कहा है। यह संधि जर्मनी की आर्थिक दुर्दशा, राजनीतिक अस्थिरता और राष्ट्रीय अपमान का कारण बनी। इसी असंतोष की पृष्ठभूमि में नाज़ीवाद का उदय हुआ और हिटलर ने जर्मनी को पुनर्सशस्त्र करने तथा संधि को तोड़ने का अभियान चलाया। यूरोप भी शक्ति-संतुलन (Power Balance) को बहाल करने में असफल रहा, जिससे अंतरराष्ट्रीय तनाव बढ़ता चला गया। अंततः वर्साय की संधि की विफलता ने द्वितीय विश्वयुद्ध की नींव तैयार कर दी। इस प्रकार यह संधि विश्व इतिहास की एक निर्णायक घटना साबित हुई।

5.8 रूसी क्रांति: पृष्ठभूमि

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रूस एक विशाल साम्राज्य था, परंतु राजनीतिक दृष्टि से वह अत्यंत पिछड़ा हुआ था। ज़ार निकोलस द्वितीय का शासन पूर्णत: निरंकुश था, जिसमें जनता की भागीदारी, स्वतंत्र प्रेस, नागरिक अधिकार और लोकतांत्रिक संस्थाएँ न के बराबर थीं। प्रशासनिक व्यवस्था कठोर दमन, गुप्त पुलिस और असहमति पर नियंत्रण पर आधारित थी। यह राजनीतिक दमन रूस की जनता में असंतोष को लगातार बढ़ा रहा था।

आर्थिक दृष्टि से रूस आधुनिक औद्योगीकरण की ओर बढ़ रहा था, किंतु यह प्रक्रिया अत्यंत असमान थी। सेंट पीटर्सबर्ग, मॉस्को जैसे नगरों में आधुनिक उद्योग तेजी से बढ़ रहे थे, परंतु ग्रामीण क्षेत्र अभी भी पुराने सामंती ढाँचे पर आधारित थे। किसानों पर भारी कर, भूमि की कमी और दयनीय जीवन परिस्थितियों ने ग्रामीण समाज में असंतोष की गहरी जड़ें पैदा कर दी थीं। भूमि का अधिकांश हिस्सा कुलीनों, चर्च और साम्राज्य के पास था, जिससे किसान भूमि-सुधार की माँग करने लगे।

सामाजिक संरचना भी बहुत जटिल थी। कुलीन वर्ग विशेषाधिकारों का आनंद लेता था, वहीं मजदूर वर्ग लंबे अंतरालों तक काम पर जुटे रहते, मजदूरी कम पाते और सुरक्षा का अभाव झेलने को विवश थे। यह वर्ग धीरे-धीरे राजनीतिक रूप से जागरूक होने लगा और मजदूर संघों तथा हड़तालों के माध्यम से अपने अधिकारों की माँग करने लगा। इसी दौरान मार्क्सवादी विचारों का रूस में प्रवेश हुआ, जिसने सामाजिक-आर्थिक संरचना की आलोचना को वैचारिक आधार दिया।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक रूस में क्रांतिकारी संगठनों की सक्रियता बढ़ गई। 1898 में रूसी सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी (RSDLP) की स्थापना हुई, जो बाद में दो गुटों- बोल्शेविक और मेंशेविक में विभाजित हो गई। बोल्शेविकों के नेता व्लादिमीर लेनिन क्रांति के पक्षधर थे और उनका मानना था कि रूस में एक अनुशासित, पेशेवर क्रांतिकारी दल की आवश्यकता है। यह वैचारिक विभाजन आगे चलकर राजनीति को गहराई से प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त, 1905 की क्रांति के दौरान रूस ने पहली बार व्यापक राजनीतिक उथल-पुथल का अनुभव किया। यद्यपि यह क्रांति सफल नहीं हुई, परंतु इसने ज़ार की सत्ता की कमजोरियों को उजागर कर दिया और जनता में परिवर्तन की आशा पैदा की। इस प्रकार 1917 की क्रांतियों की पृष्ठभूमि में राजनीतिक दमन, आर्थिक विषमता, सामाजिक असंतोष और वैचारिक उभार का संयुक्त प्रभाव कार्यरत था।

5.9 1905 की क्रांति

1905 की क्रांति रूस के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ थी। इसका तात्कालिक कारण रूस-जापान युद्ध (1904–05) में रूस की शर्मनाक पराजय थी। इस युद्ध ने रूस के सैन्य ढाँचे और प्रशासनिक अक्षमता को उजागर कर दिया। जनता को यह महसूस हुआ कि ज़ार का शासन न सिर्फ दमनकारी है बल्कि शासन-व्यवस्था चलाने में भी अक्षम है। इससे असंतोष की आग पूरे देश में फैल गई। क्रांति का निर्णायक क्षण 22 जनवरी 1905 को आया, जिसे "रविवार का खूनी दिन" कहा जाता है। पादरी गैपोन के नेतृत्व में हजारों मजदूर शांतिपूर्वक महल की ओर मांगपत्र देने के लिए जा रहे थे, लेकिन सैनिकों ने भीड़ पर गोलियाँ चला दीं। इस झड़प के दौरान सैकड़ों लोग मारे गए और कई

मासूम नागरिक घायल हुए। इस घटना ने जनता को झकझोर दिया और ज़ार के प्रति सदियों पुराना विश्वास समाप्त हो गया। इसके बाद देशभर में बड़े पैमाने पर हड़तालें, विरोध-प्रदर्शन और विद्रोह शुरू हो गए।

इसके बाद पूरे साम्राज्य में विभिन्न समूह विद्रोह में शामिल होने लगे। मजदूरों ने कारखानों में सोवियत (श्रमिक परिषद) बनानी शुरू की, किसानों ने भूमि सुधार की मांग उठाई और स्थानीय प्रशासन के खिलाफ विद्रोह किया। यहाँ तक कि सेना और नौसेना के कुछ हिस्सों में भी विद्रोह देखने को मिला, जैसे कुख्यात पोतेंकिंन जहाज़ का विद्रोह। इस व्यापक आंदोलन ने ज़ार के शासन को गंभीर रूप से चुनौती दी।

इस दबाव के चलते ज़ार निकोलस द्वितीय को सुधारों की घोषणा करने के लिए मजबूर होना पड़ा। अक्टूबर घोषणापत्र (1905) के माध्यम से उसने नागरिक स्वतंत्रताओं, राजनीतिक दलों की मान्यता और डूमा (संसद) की स्थापना का वादा किया। इससे जन असंतोष कुछ हद तक शांत हुआ, परंतु सुधार सीमित थे और ज़ार ने वास्तविक शक्तियाँ अपने पास ही रखीं। डूमा को बार-बार भंग किया गया, और रूस में दमन की नीतियाँ फिर से बढ़ने लगीं।

यद्यपि 1905 की क्रांति तत्काल सफल नहीं हुई, लेकिन इसने रूस की राजनीतिक चेतना को जागृत किया। मजदूर सोवियतों का गठन, राजनीतिक दलों की सक्रियता और जनता की व्यापक भागीदारी ने भविष्य की क्रांतियों के लिए आधार तैयार किया। इस क्रांति ने यह स्पष्ट कर दिया कि रूस में पुरानी निरंकुश व्यवस्था अब लंबे समय तक नहीं टिक सकती।

5.10 1917 की रूसी क्रांति: फरवरी एवं अक्टूबर चरण

1917 की रूसी क्रांति विश्व इतिहास की सबसे निर्णायक और प्रभावशाली घटनाओं में से एक थी। यह क्रांति दो चरणों; फरवरी क्रांति और अक्टूबर क्रांति के रूप में संपन्न हुई, जिनमें पहली क्रांति ने निरंकुश ज़ार शासन को समाप्त किया और दूसरी ने रूस में समाजवादी सरकार की नींव रखी। क्रांति की पृष्ठभूमि में लंबे समय से चल रही राजनीतिक दमन, आर्थिक असमानता, निरंकुश शासन और प्रथम विश्वयुद्ध के दुष्परिणामों से उत्पन्न असंतोष प्रमुख थे। इन स्थितियों ने रूस को क्रांति की ओर धकेलने में निर्णायक भूमिका निभाई।

फरवरी क्रांति : ज़ार शासन का अंत

फरवरी क्रांति का तात्कालिक कारण प्रथम विश्वयुद्ध था, जिसने रूस की अर्थव्यवस्था और समाज को पूरी तरह चरमरा दिया था। इस युद्ध के दौरान लाखों सैनिक मारे गए, शहरों में खाद्यान्न की भारी कमी हो गई, महंगाई आसमान छूने लगी और जनता के लिए जीवन दुर्निवार होता चला गया। पेट्रोग्राड (अब सेंट पीटर्सबर्ग) में लगातार बढ़ रहे असंतोष ने मार्च 1917 (रूसी कैलेंडर अनुसार फरवरी) में बड़े प्रदर्शन का रूप ले लिया। अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस पर शुरू हुआ यह विरोध-प्रदर्शन मजदूर हड़तालों में बदल गया, और शीघ्र ही पूरे शहर में एक विशाल आंदोलन खड़ा हो गया।

इस आंदोलन का निर्णायक क्षण तब आया जब सेना के अनेक रेजिमेंटों ने सरकार के आदेश को मानने से इनकार कर दिया और प्रदर्शनकारियों के पक्ष में आ गए। यह ज़ार शासन के लिए अंतिम आघात था। सदियों पुराने

रोमानोव वंश का पतन तब हुआ जब ज़ार निकोलस द्वितीय ने सिंहासन त्याग दिया। यह रूसी इतिहास का अभूतपूर्व परिवर्तन था जिसने निरंकुश शासन का अंत कर दिया और एक नई राजनीतिक व्यवस्था की शुरुआत की।

अस्थायी सरकार का गठन और उसकी सीमाएँ: ज़ार के त्यागपत्र के बाद रूस में अस्थायी सरकार (Provisional Government) की स्थापना की गई। इसका नेतृत्व उदारवादी और मध्यमार्गी नेताओं ने किया, जिनमें प्रमुख एलेक्ज़ेंडर केरेंस्की थे। इस सरकार ने लोकतांत्रिक सुधारों की घोषणा की- जैसे प्रेस की स्वतंत्रता, सभा की स्वतंत्रता, राजनीतिक बंदियों की रिहाई और नागरिक अधिकारों की बहाली। लेकिन जनता की मुख्य समस्याओं युद्ध समाप्ति, भूमि सुधार और भोजन की कमी को हल करने में यह सरकार विफल रही। अस्थायी सरकार की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसने रूस को प्रथम विश्वयुद्ध से बाहर निकालने से इनकार कर दिया। युद्ध के जारी रहने से सैनिकों में असंतोष बढ़ता गया और किसान भूमि सुधार की मांग करते रहे। इस दौरान सोवियत मजदूरों, सैनिकों और किसानों की परिषदों का प्रभाव तेजी से बढ़ने लगा।

दोहरी सत्ता (Dual Power) की स्थिति: फरवरी क्रांति के बाद रूस में एक अनोखी स्थिति उत्पन्न हुई जिसे "दोहरी सत्ता" कहा जाता है। एक ओर अस्थायी सरकार थी, जिसके पास औपचारिक प्रशासनिक अधिकार थे, और दूसरी ओर सोवियतें थीं, जिनके पास जनता का वास्तविक समर्थन था। सोवियतों का प्रभाव शहरों, कारखानों और सेना में लगातार बढ़ रहा था। यह स्थिति अस्थायी सरकार को कमजोर बनाती गई, क्योंकि उसके निर्णयों को जनता की स्वीकृति तभी मिलती थी जब सोवियतें भी उनका समर्थन करतीं। इस दोहरी सत्ता के बीच बोल्शेविक पार्टी ने अपने प्रभाव का विस्तार करना शुरू किया। अस्थायी सरकार की अक्षमता और युद्ध के प्रति उसकी जिद ने जनता के बीच असंतोष को बढ़ाया, जिससे बोल्शेविकों को एक सशक्त राजनीतिक अवसर मिला।

लेनिन की वापसी और अप्रैल थीसिस: अप्रैल 1917 में लेनिन निर्वासन से रूस लौटे और उन्होंने "अप्रैल थीसिस" जारी की। इस दस्तावेज़ में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि अस्थायी सरकार मजदूरों और किसानों की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती, और सत्ता का वास्तविक हस्तांतरण सोवियतों के हाथ में होना चाहिए। लेनिन का नारा "शांति, रोटी और जमीन" जनमानस में तेजी से लोकप्रिय होने लगा। बोल्शेविकों की सदस्यता बढ़ने लगी और मजदूरों व सैनिकों में उनका समर्थन मजबूत होता गया। अप्रैल थीसिस रूस की राजनीतिक दिशा बदलने वाला दस्तावेज़ सिद्ध हुआ, क्योंकि इसने बोल्शेविकों के लिए स्पष्ट लक्ष्य और रणनीति निर्धारित कर दी। इसके बाद लेनिन ने पार्टी को संगठित कर सत्ता पर कब्ज़ा करने के लिए तैयार किया। इस तैयारी में ट्रॉट्स्की जैसे नेताओं ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अक्टूबर क्रांति: बोल्शेविकों का उदय: अक्टूबर 1917 तक अस्थायी सरकार पूरी तरह से जनता का विश्वास खो चुकी थी। युद्ध जारी था, महंगाई बढ़ रही थी, सेना में विद्रोह फैले हुए थे और ग्रामीण क्षेत्रों में किसान ज़बरदस्ती जमींदारों की जमीन बाँट रहे थे। इन परिस्थितियों में बोल्शेविकों ने अवसर को भाँपकर निर्णायक कदम उठाया। 24-25

अक्टूबर 1917 को बोल्शेविकों ने पेट्रोग्राड में शांतिपूर्वक और योजनाबद्ध ढंग से प्रमुख सरकारी इमारतों, टेलीग्राफ कार्यालय, रेलवे स्टेशन, बैंक, पुलों और मंत्रालयों पर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद विंटर पैलेस पर धावा बोला गया, जहाँ अस्थायी सरकार के नेता बैठे थे। सरकार को गिरा दिया गया और बोल्शेविकों ने "पीपुल्स कमिसार्स की परिषद" के गठन की घोषणा की, जिसके अध्यक्ष लेनिन बने। अक्टूबर क्रांति लगभग बिना रक्तपात के संपन्न हुई, लेकिन इसके बाद रूस में व्यापक परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई।

क्रांति के बाद लिए गए त्वरित निर्णय: सत्ता हासिल करते ही बोल्शेविक सरकार ने कई क्रांतिकारी कदम उठाए—

- भूमि का राष्ट्रीयकरण कर किसानों के बीच भूमि का पुनर्वितरण किया
- कारखानों में मजदूर नियंत्रण
- रूस का प्रथम विश्वयुद्ध से बहार होना (ब्रेस्ट-लितोव्स्क संधि, 1918),
- नई समाजवादी नीतियों का आरंभ
- पुराने प्रशासनिक ढाँचे को समाप्त कर सोवियत शासन स्थापित करना।

ये निर्णय रूस की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचना को पूरी तरह बदलने वाले थे।

फरवरी और अक्टूबर चरणों का ऐतिहासिक महत्व:

1917 की दोनों क्रांतियाँ परस्पर संबंधित थीं। फरवरी क्रांति ने पुरानी निरंकुश व्यवस्था को समाप्त किया, लेकिन उसने स्थिर और प्रभावी शासन प्रदान नहीं किया। इसके विपरीत, अक्टूबर क्रांति ने एक वैचारिक और संरचनात्मक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया, जिसने पूरे विश्व में समाजवादी विचारधारा को एक दिशा और शक्ति प्रदान की। इन क्रांतियों ने आधुनिक विश्व इतिहास की धारा को बदल दिया और 20वीं शताब्दी की राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज तथा अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर गहरा प्रभाव छोड़ा।

5.11 लेनिन, बोल्शेविक और सोवियत सत्ता की स्थापना

लेनिन 1917 की क्रांति के सबसे प्रमुख नेता थे। उन्होंने बोल्शेविक पार्टी को एक अनुशासित और संगठित क्रांतिकारी दल के रूप में विकसित किया। लेनिन का विश्वास था कि रूस में बुर्जुआ लोकतंत्र टिकाऊ नहीं होगा और मजदूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी क्रांति ही शोषण समाप्त कर सकती है। उनकी अप्रैल थीसिस ने पार्टी का मार्गदर्शन किया और अस्थायी सरकार के खिलाफ संगठित कार्रवाई का आधार प्रदान किया। बोल्शेविकों ने मजदूरों, सैनिकों और किसानों को अपने पक्ष में मजबूत रूप से संगठित किया। सोवियतें बोल्शेविक विचारधारा का केन्द्र बनने लगीं क्योंकि वे सीधे जनता से जुड़ी थीं। लेनिन और ट्रॉट्स्की ने मिलकर क्रांति की रणनीति तैयार की और नारा दिया- "सारी सत्ता सोवियतों को"। इससे बोल्शेविकों को व्यापक जनसमर्थन मिला और पार्टी ने सत्ता परिवर्तन की दिशा में निर्णायक कदम उठाए।

अक्टूबर 1917 की सफलता के बाद बोल्शेविकों ने नई सरकार; पीपुल्स कमिसार्स की परिषद की स्थापना की। लेनिन इसके अध्यक्ष बने। इस सरकार ने त्वरित सुधारों की घोषणा की, जैसे- जमीन का राष्ट्रीयकरण, उद्योगों में मजदूर नियंत्रण, रूस का युद्ध से बाहर निकलना, और समानता आधारित समाज की दिशा में कदम। ये नीतियाँ सामंती तथा पूँजीवादी संरचनाओं को समाप्त करने की ओर अग्रसर थीं। लेकिन बोल्शेविक सत्ता को तत्काल चुनौतियों का सामना करना पड़ा। रूस में गृहयुद्ध छिड़ गया जिसमें लाल सेना (बोल्शेविक) का मुकाबला श्वेत सेना (ज़ार समर्थक, उदारवादी और विदेशी शक्तियों) से था। इस संघर्ष में बोल्शेविक विजयी हुए और सोवियत सत्ता अधिक संगठित तथा मजबूत होकर उभरी। लेनिन ने एक कठोर लेकिन केंद्रीकृत प्रशासनिक ढाँचे का निर्माण किया जिससे समाजवादी राज्य को स्थिरता मिली। सोवियत संघ की स्थापना का मार्ग यहीं से प्रशस्त हुआ। लेनिन ने एक ऐसी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जिसका आधार मजदूर वर्ग और राज्य-नियंत्रित अर्थव्यवस्था थी। बोल्शेविक शासन ने 20वीं शताब्दी की अंतरराष्ट्रीय राजनीति, समाजवादी आंदोलनों और उपनिवेश-विरोधी संघर्षों पर गहरा प्रभाव डाला।

5.12 रूसी क्रांति का विश्व इतिहास पर प्रभाव

रूसी क्रांति का प्रभाव केवल रूस तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने वैश्विक राजनीति को गहराई से प्रभावित किया। सबसे पहले, यह क्रांति विश्व का पहला सफल समाजवादी प्रयोग थी, जिसने पूँजीवादी व्यवस्था के विकल्प की संभावना प्रस्तुत की। इससे समाजवादी और साम्यवादी आंदोलनों को वैचारिक प्रेरणा मिली और विभिन्न देशों में मजदूर संगठनों ने अधिक सक्रिय भूमिका अपनाई।

दूसरे, उपनिवेशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों को भी इससे नई दिशा मिली। लेनिन ने उपनिवेशवाद की आलोचना की और राष्ट्रवादी संघर्षों का समर्थन किया। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में अनेक स्वतंत्रता आंदोलनों को रूस की क्रांति के विचारों से प्रेरणा मिली। भारत में भी समाजवादी चिंतन और मजदूर आंदोलनों के विकास पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

तीसरे, पूँजीवादी देशों में भी इस क्रांति का प्रभाव महसूस किया गया। यूरोपीय देशों ने मजदूर वर्ग को संतुष्ट करने के लिए सामाजिक सुरक्षा कानून, श्रम अधिकार और लोकतांत्रिक सुधारों को लागू करना शुरू किया ताकि क्रांतिकारी विचारों का प्रसार रोका जा सके। इस प्रकार रूसी क्रांति ने पूँजीवादी समाजों के सुधार को भी अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा दिया।

चौथे, विश्व राजनीति में दो विचारधारात्मक ध्रुवों पूँजीवाद और समाजवाद का उदय हुआ। आगे चलकर यह विभाजन शीत युद्ध (Cold War) का आधार बना, जिसने लगभग पाँच दशकों तक अंतरराष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित किया। अमेरिका और सोवियत संघ, दोनों ही वैश्विक स्तर पर अपना प्रभाव बढ़ाने की दौड़ में लग गए।

अंततः, रूसी क्रांति ने आधुनिक विश्व के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वरूप को गहराई से प्रभावित किया। इसने साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, मजदूर अधिकारों, लोकतंत्र तथा वैश्विक राजनीति से संबंधित मूलभूत बहसों को

पुनर्परिभाषित किया। नतीजतन, 20वीं शताब्दी की कई प्रमुख घटनाएँ और नीतियाँ रूसी क्रांति के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव से जुड़ी रहीं।

5.13 सारांश

प्रथम विश्वयुद्ध और रूसी क्रांति विश्व इतिहास की दो निर्णायक घटनाएँ थीं, जिन्होंने बीसवीं शताब्दी की राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज की दिशा निर्धारित की। युद्ध के कारणों में साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा, सैन्य गठबंधनों का निर्माण, राष्ट्रवाद का उदय और हथियारों की होड़ प्रमुख थे। 1914 से 1918 तक चलने वाले इस महायुद्ध में अरबों रुपये का खर्च हुआ और लाखों लोगों की मृत्यु ने विश्व को गहराई से प्रभावित किया। युद्ध का प्रभाव केवल युद्धक्षेत्र तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वैश्विक अर्थव्यवस्था, समाज, राजनीतिक संरचनाओं और उपनिवेशों में भी व्यापक परिवर्तन दिखाई पड़े।

युद्ध के बाद वर्साय की संधि ने जर्मनी पर कठोर दंड लगाए, जिससे यूरोप में अस्थिरता और बढ़ी। भारत तथा अन्य उपनिवेशों ने युद्ध में सैनिकों, संसाधनों और सहायता के माध्यम से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसने आगे चलकर स्वतंत्रता आंदोलनों को भी प्रेरणा दी। युद्ध की विभीषिका ने लोकतंत्र, राष्ट्रवाद, समाजवाद और उपनिवेश-विरोधी आंदोलनों को विश्वव्यापी स्वरूप प्रदान किया।

दूसरी ओर, रूस में 1917 की फरवरी और अक्टूबर क्रांतियों ने पुराने ज़ारवादी शासन का अंत कर दिया और सोवियत सत्ता की स्थापना हुई। लेनिन और बोल्शेविकों ने मजदूरों, किसानों और सैनिकों के समर्थन से एक नई समाजवादी व्यवस्था की नींव रखी। रूसी क्रांति ने विश्व के अन्य देशों में भी समाजवादी आंदोलनों को प्रोत्साहन दिया और पूँजीवाद तथा समाजवाद के बीच वैचारिक संघर्ष का प्रारंभ हुआ। इस प्रकार यह इकाई हमें बताती है कि प्रथम विश्वयुद्ध और रूसी क्रांति केवल घटनाएँ नहीं थीं, बल्कि वे आधुनिक विश्व-व्यवस्था की निर्माण-प्रक्रिया के प्रमुख स्तंभ थीं।

5.14 मुख्य शब्द

(1) साम्राज्यवाद (Imperialism): शक्तिशाली देशों द्वारा अपने आर्थिक, राजनीतिक तथा सामरिक हितों के लिए कमजोर देशों पर नियंत्रण स्थापित करना।

(2) सैन्य गठबंधन (Military Alliance): दो या अधिक देशों का ऐसा समझौता जिसके अनुसार वे युद्ध की स्थिति में एक-दूसरे का सहयोग करेंगे।

(3) राष्ट्रवाद (Nationalism): राष्ट्र की एकता, स्वतंत्रता और गौरव के प्रति लोगों की गहरी निष्ठा और भावनात्मक जुड़ाव।

(4) वर्साय की संधि (Treaty of Versailles): 1919 में हुई संधि जिसके तहत प्रथम विश्वयुद्ध का औपचारिक अंत हुआ और जर्मनी पर कठोर आर्थिक व क्षेत्रीय दंड लगाए गए।

(5) सोवियत (Soviet): रूस में मजदूरों, सैनिकों तथा किसानों की प्रतिनिधि परिषदें, जो क्रांति के दौरान प्रभावशाली राजनीतिक संस्थाएँ बनीं।

(6) बोल्शेविक (Bolsheviks): रूसी सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी का वह धड़ा जिसका नेतृत्व लेनिन ने किया और जिसने अक्टूबर क्रांति का नेतृत्व किया।

(7) दोहरी सत्ता (Dual Power): 1917 में अस्थायी सरकार और सोवियतों के समानांतर अस्तित्व की स्थिति, जिससे रूस में सत्ता का द्वंद्व उत्पन्न हुआ।

(8) अक्टूबर क्रांति: 1917 की वह क्रांतिकारी घटना जब बोल्शेविकों ने रूस में सत्ता प्राप्त कर समाजवादी सरकार की स्थापना की।

5.15 संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. वर्मा, दीनानाथ. विश्व इतिहास. नई दिल्ली: लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिशिंग, आगरा
2. खुराना, के. एल. विश्व का इतिहास. नई दिल्ली: लक्ष्मी नारायण प्रकाशन, 2018
3. महाजन, वी. डी. आधुनिक विश्व का इतिहास. नई दिल्ली
4. Hayden, J. World History. London: Macmillan Education.
5. Cattell & Hays. Modern World History. London: Longmans, 1970
6. IGNOU Study Material (B.A. History). यूरोपीय इतिहास एवं विश्व इतिहास की इकाइयाँ

5.16 प्रश्नावली

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. प्रथम विश्वयुद्ध के दो प्रमुख कारण लिखिए।
2. "दोहरी सत्ता" से आप क्या समझते हैं?
3. वर्साय की संधि की दो प्रमुख शर्तें लिखिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. प्रथम विश्वयुद्ध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या करते हुए उसके प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. रूस में 1917 की फरवरी और अक्टूबर क्रांतियों की तुलना करते हुए दोनों की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
3. प्रथम विश्वयुद्ध के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभावों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई-छह

यूरोप में राष्ट्रवाद: जर्मनी और इटली का एकीकरण

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 यूरोप में राष्ट्रवाद

6.3.1 राष्ट्रवाद की अवधारणा,परिचय एवं परिभाषा

6.4 जर्मनी का एकीकरण

6.4.1 जर्मनी के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

6.4.2 जर्मन एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रक्रिया एवं व्यक्ति-व्यक्तित्व का योगदान

6.5 इटली का एकीकरण

6.5.1 इटली के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

6.5.2 इटली के एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रक्रिया एवं व्यक्ति-व्यक्तित्व का योगदान

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 अभ्यास के प्रश्न

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची/उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.10 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद का उदय आधुनिक यूरोप के इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। राष्ट्रवाद को आधुनिक विश्व की एक बहुत ही शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में देखा और समझा जा सकता है। एक विषय के रूप में राष्ट्रवाद इतिहासकारों तथा अन्य समाजशास्त्रियों के बीच चर्चा और विवाद का विषय रहा है। राष्ट्रवाद के एक बड़े विचारक बेनेडिक्ट एंडर्सन के अनुसार, राष्ट्र और राष्ट्रवाद संबंधी प्रश्नों पर ‘‘तमाम विचारक एक-दूसरे की ओर पीठ करके अलग-अलग दिशाओं में अमूर्त सिद्धान्त खोजते रहते हैं, बजाय इसके कि एक-दूसरे के साथ कंधे से कंधा

मिलकर इस समस्या को समझने का प्रयास करें'' इस इकाई में राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक समझ के साथ ही जर्मनी और इटली के एकीकरण को इन्हीं संदर्भों में समझने का प्रयास किया जाएगा।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से हम निम्नलिखित बिंदुओ पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे

- राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य से हमारा क्या अभिप्राय है?
- वह क्या प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत आधुनिक विश्व में राष्ट्रवाद का उदय हुआ है?
- जर्मनी और इटली के एकीकरण प्रक्रिया संदर्भ में राष्ट्रवाद का क्या योगदान रहा?
- उपर्युक्त विवेचना से हम आधुनिक विश्व में आधुनिक राष्ट्रों के उदय की अवधारणा को समझ सकते हैं।

6.3 यूरोप में राष्ट्रवाद

6.3.1 राष्ट्रवाद की अवधारणा, परिचय एवं परिभाषा

वस्तुतः ''राष्ट्र'' शब्द का इस्तेमाल अंग्रेजी भाषा के शब्द ''नेशन'' के पर्यायवाची के रूप में किया जाता रहा है। लेकिन दोनों में एक बुनियादी फर्क है। ''राष्ट्र'' से हमारा अभिप्राय किसी विशेष भूभाग, क्षेत्र या इलाके से रहा है। लेकिन ''नेशन'' से हमारा अभिप्राय किसी भूभाग से न होकर किसी समुदाय या मानव-सामूहिकता से है। भूभाग या मानव समुदाय का फर्क राष्ट्र और राष्ट्रवाद की परिभाषा के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रवाद का उदय

यहॉ सबसे पहले प्रश्न उठता है कि विश्व इतिहास के कृषक दौर में राष्ट्रवाद या राष्ट्रवाद से मिलती-जुलती किसी भी विचारधारा का उदय क्यों नहीं हुआ? और विश्व इतिहास के आधुनिक या औद्योगिक चरण में राष्ट्रवाद अनिवार्य क्यों बन गया? मानव इतिहास तीन चरणों से होकर गुजरा है- आखेटक-संग्रहकर्ता, कृषक और औद्योगिक, राष्ट्रवाद के उदय के लिए आवश्यक एक कारक (राज्य) का जन्म कृषक दौर में हुआ।

यूरोप में राजनीतिक इकाइयों और सांस्कृतिक इकाइयों का आगमन तो विकसित कृषक दौर तक हो चुका था लेकिन इनके बीच का संबंध वह नहीं था जो राष्ट्रवादी सिद्धान्तों के अनुसार होना था। अक्सर एक राजनीतिक इकाई राज्य के अन्तर्गत कई सांस्कृतिक इकाइयाँ संभावित राष्ट्र में मौजूद रहती थीं, या फिर एक विशाल सांस्कृतिक इकाई कई राज्यों में बिखरी हुई थी। यह एक राज्य और एक राष्ट्र वाले राष्ट्रवादी सिद्धांत का स्पष्ट उल्लंघन था। इन राजनीतिक और सांस्कृतिक इकाइयों का राष्ट्रवादी सिद्धांत के अनुसार एक-दूसरे के साथ समेकित होने का कार्य मानव इतिहास के औद्योगिक दौर में हुआ।

यह भी कहा जा सकता है कि व्यापक साक्षरता के बगैर औद्योगिक अर्थव्यवस्था का चल पाना संभव नहीं। अपने संचालन के लिए औद्योगिक अर्थव्यवस्था को ऐसे बहुत सारे लोगों की जरूरत पड़ती है जो परस्पर अजनबी और दूर-दूर होते हुए भी एक-दूसरे के साथ सम्प्रेषण और संवाद जारी रख सकें। ऐसे संवाद के लिए उन्हें एक साझे भाषायी माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। परस्पर संवाद की इस आवयकता को न तो पुरानी क्लासिकी भाषाएँ लैटिन और

ग्रीक पूरा कर सकती है ओर न ही सांस्कृतिक समूहों की अपनी स्थानीय बोलियाँ। औद्योगिक अर्थव्यवस्था की इस आवश्यकता को पूरा करने क लिए कुछ ऐसी भाषाओं की जरूरत थी जो स्थानीय बोलियों के ऊपर तथा क्लासिकीय भाषाओं के नीचे पैदा हुए रिक्त स्थान को भर सकें। इस आवश्यकता को पूरा किया विभिन्न यूरोपीय समाजों में अंग्रेजी, पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, हंगेरियन इत्यादि भाषाओं ने। इन भाषाओं का विकास और मानकीकरण तो औद्योगिक क्रांति से पहले पुनर्जारण के बाद से ही शुरू हो गया था लेकिन 18वीं-19वीं शताब्दियों में इनका अधिक प्रसार हुआ और अपने समाजों में ये राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में स्थापित और प्रतिष्ठित हुई। नई राष्ट्रीय संस्कृतियाँ भी इन्हीं भाषाओं के इर्द-गिर्द विकसित हुई।

पश्चिमी यूरोप में 19वीं शताब्दी में विकसित हुई राष्ट्रीय संस्कृतियों का संबंध भाषा और राज्य ने इन संस्कृतियों को पोषित किया था। यदि इस संदर्भ में देखें तो हम राष्ट्रवादी विचारधारा का एक मुख्य दावा कि हर राष्ट्र का अपना एक प्रतिनिधि राज्य होना चाहिए, आसानी से समझ सकते हैं।

विशाल और संस्कृतिक रूप से समरूपी राष्ट्रीय इकाइयों को राष्ट्र ही सुरक्षित और संरक्षित नहीं रख सकता। महज राष्ट्र ही अपनी अस्मिता के संरक्षण के लिए काफी नहीं है। इन इकाइयों की सुरक्षा के लिए राजनीतिक छत्रछाया की जरूरत पड़ती है। राष्ट्रवादी विचारधारा यह सुनिश्चित करती है कि राज्य के नागरिक राजय के निर्देशों के अनुसार ही समाज को चलाने में राज्य की मदद करें। इस तरह से हम आधुनिक परिस्थितियों के अन्तर्गत राष्ट्रवाद को एक अपरिहार्य तत्व के रूप में पाते हैं। अपनी रक्षा के लिए यह राज्य पर निर्भर होता है; या कहें कि सुरक्षा और संरक्षा की गारंटी के लिए इसे राज्य की जरूरत पड़ती है। यही कारण है कि राष्ट्र और राज्य एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। उनकी यह परस्पर निर्भरता ही राष्ट्रवाद के उदय का मूल सार है। जर्मनी और इटली का एकीकरण इन्हीं संदर्भों की देन रहे ।

6.4 जर्मनी का एकीकरण

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' मात्र था। जर्मनी में अनेक राज्य थे जिन पर ऑस्ट्रिया का प्रभुत्व था। ये राज्य ऑस्ट्रिया के विरूद्ध नहीं जा सकते थे। फिर भी, जर्मनी के राज्य फ्रांसीसी क्रांति के राष्ट्रवादी सिद्धांत से प्रभावित थे और 1815 से 1870 ई0 तक का जर्मनी का इतिहास इसी सिद्धांत की विजय का इतिहास है।

6.4.1 जर्मनी के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

जर्मनी का अपना इतिहास, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और एक जाति थी, जिससे जर्मनी में एकता की भावना अवश्यंभावी थी। यह ठीक है कि कुछ अपरिहार्य परिस्थितियों के कारण जर्मनी से राजनीतिक एकता लुप्त हो गई थी, फिर भी राष्ट्रीय एकता के लिए जर्मनी में सहायक तत्व मौजूद थे। फ्रांस की क्रांतिकारी सेना जब जर्मनी की भूमि पर 'समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व' के नारे के साथ आई तो जर्मनवासियों ने उसका स्वागत किया। नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया के सम्राट को पराजित कर 1805 ई0 में प्रेसबर्ग की संधि करने के लिए उसे बाध्य किया, जिससे ऑस्ट्रिया का वर्चस्व जर्मनी पर से जाता रहा था। उसने प्रशासनिक सुविधा के लिए जर्मन राज्यों की संख्या घटाकर 30 कर दी और सभी राज्यों पर फ्रांसीसी कानून लागू किया। वह पहला अवसर था कि पूरे जर्मनी में एक जैसे कानून लागू हुए, जो

उदारवादी प्रकृति के थे। इस घटना से जर्मनों में एकता की भावना पनपी। इसके साथ ही बाद में फ्रांसीसी सेना के प्रतिरोध में जर्मनों ने एकजुट होकर लड़ाई की, जिससे उनमें एकता की भावना का संचार हुआ।

1815 ई0 की वियना काँग्रेस ने पुनः जर्मन राज्यों की संख्या 38 कर दी और एक ढीला-ढाला संध बनाकर उसका अध्यक्ष ऑस्ट्रिया के सम्राट को नियुक्त कर दिया। इस संघ के लिए एक संघीय परिषद का संगठन किया गया, जिसके सदस्यों को जर्मन राज्य मनोनीत करते थे। इस व्यवस्था से जर्मन राष्ट्रवादियों को घोर निराशा हुई जिसके परिणामस्वरूप उन्होनें 'बुरशेन शैफ्ट' नामक एक गुप्त संस्था की स्थापना की, जिसके संगठन का जाल पूरे जर्मनी में फैला हुआ था। इसके साथ ही, वार्टबर्ग में लिपजिंग के युद्ध की स्मृति में एक समारोह का आयोजन किया। इन कार्यों से जर्मनी मे ंराष्ट्रीयता की भावना बढ़ी और उन्हें संगठित होने का मौका मिला।

इधर प्रशा ने 1848 ई0 में अपने राज्यसे अलग हुए बारह राज्यों के साथ व्यापारिक संधि कर चुंगी संघ स्थापित कर लिया। इस संधि के अनुसार सभी राज्यों से व्यापारिक चुंगी हटा ली गई, ताकि व्यापारिक उन्नति होने लगे। जर्मनी की अन्य रियासतें भी धीरे-धीरे उक्त संघ में सम्मिलित हो गई। ऑस्ट्रिया के अतिरिक्त सभी जर्मन राज्यों ने प्रशा की अध्यक्षता में एक संघ का निर्माण कर लिया था। इस आर्थिक एकीकरण ने जर्मनों को बता दिया कि जर्मनी का राजनीतिक एकीकरण कितना लाभदायक है।

यह कहा जाता है कि 'रक्त एवं हथियार' नहीं, बल्कि 'कोयला और लोहा' ने जर्मनी की राजनीतिक एकता की भूमिका तैयार की। प्रशा के नेतृत्व में आर्थिक संघ का निर्माण हो चुका था। औद्योगीकरण एवं जनसंख्या में वृद्धि और श्रमिकों का राजनीतिक महत्व -इस परिवर्तन के कारण प्रशा केवल 'जोलवेरिन' का ही नेता नहीं रहा, बल्कि संपूर्ण जर्मनी का नेता बन गया। इसके विपरीत ऑस्ट्रिया अपनी दकियानूसी नीति के कारण पीछे पड़ता चला गया। राष्ट्रीय एकता के आंदोलन में औद्योगिक विकास प्रशा के लिए काफी सहायक हुआ।

जर्मन लोगो का विश्वास था कि शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना से देश की आर्थिक उन्नति होगी और वाणिज्य-व्यवसाय को बढ़ावा मिलेगा। औद्योगिक प्रगति से एक और लाभ हुआ। प्रशा की आर्थिक स्थिति ठोस हुई, जिसके कारण वह शक्तिशाली सेना का संगठन करने में सक्षम हो सका।

प्रशा में ही सबसे ज्यादा औद्योगिक विकास हुआ। लेकिन, इस समय तक पूरे विश्व में यूरोपीय देशों ने अपनी-अपनी कॉलोनियाँ स्थापित कर ली थीं। संयुक्त जर्मनी ही अन्य यूरोपीय देशों की भाँति अपनी कॉलोनी बसा सकता था, जहाँ से उसके उद्योगों के लिए कच्चामाल मिलता। इसलिए, जर्मनी के अन्य राज्यों के उद्योगपति भी जर्मनी की एकता के प्रबल समर्थक हो गये और इस पुनीत कार्य में उन्होनें प्रशा को सहयोग दिया। अतः, यह सच जान पड़ता है कि जर्मनी के उद्योग-धंधे जर्मनी के एकीकरण में बहुत सहायक हुए।

किसी भी देश में राजनीतिक उथल-पुथल के पहले बौद्धिक जागरण होता है और बुद्धिजीवी अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों को सही दिशा देते हैं। फ्रांस की क्रांति के बाद साहित्यकारों और लेखकों ने जर्मनी के निवासियों में राष्ट्रीय भावना को जगाया। कवियों ने राष्ट्र की महानता के गीत गाए। दार्शनिकों ने राष्ट्रीय भावना को जगाया। दार्शनिकों ने जर्मनी को महान देश बताया। इतिहासकारों ने जर्मनी के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाला। विचारकों ने वहां

के निवासियो ं में राष्ट्रीय भावना को जगाया। इस प्रकार, 'रक्त और हथियार' एवं 'कोयला और लोहा' अर्थात् उद्योग-धंधे से ही नहीं, बल्कि कागज और स्याही से भी जर्मनी के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

1830 ई0 की क्रांति से जर्मन राज्यों में भी विद्रोह हो गया। फिर 1848 ई0 की क्रांति और मटरनिख के पतन ने जर्मन राज्यों को प्रोत्साहित किया और वहां नई जागृति आई। कई जर्मन राजाओं को विवश होकर संविधान जनता को प्रदान करना पड़ा। इसी बीच सार्वभोमिक मताधिकार के आधार पर जर्मन और संयुकत जर्मन राज्यों में 568 प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आये और फ्रैंकफुर्ट में उन्होनें एक संविधान बनाया एवं संयुक्त जर्मनी का राजा प्रशा के राजा को बनाया गया।

एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ-

जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा ऑस्ट्रिया द्वारा जर्मनी के मामले में हस्तक्षेप किया जाना था। ऑस्ट्रिया प्रतिक्रियावादी विचारों का पोषक था और वह जर्मनी में उगती राष्टी"यता की भावना का प्रबल विरोधी था। उसका अपना हित जर्मनी के राष्ट्रीय एकता में नहीं, बल्कि बिखराव में था। अतः, वह जर्मनी की राजनीतिक एकता के विरूद्ध था। विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक हित विभाजित जर्मनी में थे और उनका स्वार्थसाधन संयुक्त जर्मनी में संभव नहीं था। इसीलिए यूरोपीय राज्य भी शुरू में जर्मनी के एकीकरण में रूचि नही लेते थे। बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति से जर्मनी की एकता को युद्ध का प्रश्न बना दिया और उसने इन्हीं युद्धों के माध्यम से जर्मनी का एकीकरण कर डाला।

6.4.2 जर्मन एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रक्रिया एवं व्यक्ति-व्यक्तित्व का योगदान

विलियम प्रथम और नीति-परिवर्तन

विलियम 1861 ई0 मे प्रशा का सम्राट बना। उसे सेना की शक्ति में विश्वास था और वह सांविधानिक राजतंत्र को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। जर्मनी के एकीकरण के लिए वह लालायित था जिसके लिए एक सशक्त सेना वह आवश्यक समझता था।

बिस्मार्क और जर्मनी का एकीकरण-

इधर बिस्मार्क 1862 ई0 में प्रशा का चं ासलर बना। उसे प्रशा की शक्ति और सेना में अटूट विश्वास था। वह प्रशा के नेतृत्व में ही जर्मनी के एकीकरण का स्वप्न देखता था। बिस्मार्क का विश्वास था कि जर्मनी उदारवादी आदर्शों के लिए नहीं, वरन् शक्ति के लिए प्रशा की ओर देख रहा है। वह कहा करता था कि जर्मनी की समस्या का समाधान बौद्धिक भाषणों, आदर्शवाद अथवा बहुमत के निर्णयों से नहीं, बल्कि प्रशा के नेतृत्व में 'लहू और युद्ध' अर्थात् बलिदान देकर विजय हासिल कर होगा। वास्तव में बिस्मार्क के विजय हासिल कर जर्मनी के एकीकरण की उम्मीद तत्कालिक यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में निहित थी। परन्तु, यूरोप के तत्कालीन प्रभावशाली देश-इंगलैंण्ड, रूस, फ्रांस और ऑस्ट्रिया-जर्मनी के एकीकरण के पक्ष में नहीं थे; क्योंकि एक शक्तिशाली एकीकृत जर्मनी के शक्ति-संतुलन के लिए सबसे बड़ा खतरा था। ऐसी परिस्थिति बिस्मार्क की 'लहू और युद्ध' की नीति प्रशा की सामरिक नीति से मेल खाती थी। बिस्मार्क पूरे जर्मनी को प्रशा द्वारा हराकर जर्मनी का एकीकरण करना चाहता था, अर्थात् उसके एकीकरण की योजना में जर्मनी का एकीकरण प्रशा के राज्य का विस्तार था।

कालक्रम में फ्रेंडरिक चतुर्थ, प्रशा का राजा, ने बीमार होने के कारण अपने भाई विलियम प्रथम को शासन-सूत्र दे दिया। विलियम प्रशा की महानता में विश्वास करता था, लेकिन डायट-प्रशा की संसद-में प्रगतिवादी दल का बहुमत था जो राजा की शक्ति पर अंकुश लगाना अपना कर्तव्य समझता था। उदारवादियों और प्रतिक्रियावादियों के बीच मताधिकार, सैनिक बजट आदि प्रश्नों को लेकर वाद-विवाद हो रहा था। विलियम ने उदरवादियों को संतुष्ट कर जर्मनी की एकता के लिए प्रशा की सेना को मजबूत करने के लिए धन हासिल करना चाहा, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। ऐसी विकट परिस्थिति से निपटने के लिए उसने बिस्मार्क को चांसलर बनाया।

बिस्मार्क अच्छी तरह समझता था कि जर्मनी के एकीकरण के रास्ते में सबसे बड़ा रोड़ा ऑस्ट्रिया था और उसे बिना युद्ध में पराजित किए हुए जर्मन संघ से निष्कासित नहीं किया जा सकता था। उसे यह भी भयथा कि ऑस्ट्रिया-प्रशा के युद्ध में संभव था कि फ्रांस ऑस्ट्रिया के पक्ष में युद्ध में हस्तक्षेप करें। ऐसी आपातकालीन अवस्था की संभावना को ध्यान में रखकर बिस्मार्क पहले से ही ऑस्ट्रिया को एकाकी करने की कूटनीतिक चाल चलने लगा।

बिस्मार्क जब सेंट पीट्सबर्ग में (रूस की तत्कालीन राजधानी) में प्रशा का राजदूत बनकर गया था तो उसने बड़ी कुशलता से जार से और रूसी अधिकारियों से दोस्ती कर ली थी। इस मित्रता का उसने जर्मनी के एकीकरण के समय के युद्धों में फ्रांस के विरूद्ध उपयोग किया। क्रीमिया के युद्ध में प्रशा की निरपेक्षता, सेन्ट् पीट्सबर्ग में उसका सफल दूत के रूप में कार्य तथा उसकी राजतंत्र में आस्था रूसी सम्राट को खुश करने के लिए काफी थे। 1863 ई0 में फ्रेडरिक की मृत्यु हो गई और नवम् क्रिश्चियन डेनमार्क की गद्दी पर बैठा। नवम् क्रिश्चियन ने श्लेस्विग और होलस्टीन की डचियों को भी ऑस्ट्रिया-प्रशा को दे दिया।

अब श्लेस्विग और होलस्टीन के बँटवारे का विवाद उठा। ऑस्ट्रिया ने प्रस्ताव किया कि इन दोनों डचियों को ऑगस्टनबर्ग के ड्यूक को दिया जाए। लेकिन बिस्मार्क भविष्य में इन दोनों डचियों को लेकर ऑस्ट्रिया से युद्ध करने का कारण ढूँढा जा सकता था। ए0जे0पी0 टेलर ने गैस्टाइन के समझौते को बिस्मार्क की कूटनीति का करिश्मा कहा है और इसका उद्देश्य ऑस्ट्रिया को भयभीत करना बताया है।

जर्मन एकीकरण का द्वितीय चरण तथा प्रशा और ऑस्ट्रिया का युद्ध (1866ई0)

बिस्मार्क जर्मनी के एकीकरण के द्वितीय चरण में ऑस्ट्रिया से युद्ध करना आवश्यक समझता था। दर असल उसका उद्देश्य जर्मनी से ऑस्ट्रिया का प्रभाव समाप्त कर और युद्ध के वातावरण में राष्ट्रीयता की भावना जगाकर राष्ट्रीय एकता के लिए लोगों को अपने राजाओं की इच्छा के विरूद्ध प्रशा में मिलने के लिए प्रेरित करना था।इस बीच बिस्मार्क का जर्मनीकरण हो गया; क्योंकि वह ऑस्ट्रिया से अब केवल दोनों डचियों के लिए ही युद्ध नहीं करना चाहता था, बल्कि उत्तरी जर्मनी के सभी राज्यों को प्रशा के साथ मिलाना चाहता था। इस उद्देश्य से राज्य मंडल की संसद (डायट) के अधिवेशन में बिस्मार्क ने यह घोषणा की कि भविष्य में जर्मन संसद का निर्वाचन सार्वभौम मताधिकार पर आधृत होगा और सांविधानिक सुधार पर विचार-विमर्श वही संसद करेगी। यह घोषणा आश्चर्यजनक इसलिए थी कि रूढ़िवादी बिस्मार्क उदारता का परिचय दे रहा था। वास्तम में प्रशा के जुंकर परिवार के बिस्मार्क का अब कूटनीतिज्ञीकरण हो रहा था। इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि ऑस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध में उसे

उदारवारवादियों का समर्थन भी मिल गया। उसका विचार था कि सार्वभौम मताधिकार से रूढ़िवादी प्रभाव कम होने के बदले बढ़ेगा; क्योंकि शहरों के उदारवादी मध्यमवर्ग के हितों का संतुलन राजभक्त किसानों के मतों के द्वारा हो जायेगा।

बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया को पराजित करने पर भी उसे अपमानित नहीं किया और उसे काफी सम्मान दिया। यह ठीक है कि उसने इटली को वेनेशिया दिलवाया, लेकिन प्रशा के लिए उसने एक इंच भी भूमि नहीं ली। युद्ध के हर्जानें के रूप में भी एक मामूली रकम ली गई। फ्रांस से युद्ध के लिए आवश्यक था कि ऑस्ट्रिया फ्रांस के साथ युद्ध में तटस्थ रहे। इसी उद्देश्य से उसने ऑस्ट्रिया के साथ पराजित होने पर भी नरमी बरती थी।

ऑस्ट्रिया-प्रशा के युद्ध से नेपोलियन तृतीय की साख देश में गिरी। अब फ्रांस में उसकी आलोचना होने लगी। अपनी गिरती प्रतिष्ठा को बचाने के लिए वह हाथ-पैर मारने लगा जिसके कारण वह बिस्मार्क के जाल में फँसा और 1870 ई0 का प्रशा एवं फ्रांस का युद्ध हुआ। एक बार बिस्मार्क ने कहा था कि फ्रांस के साथ प्रशा का युद्ध इतिहास की तर्कसंगत परिणति है। राष्ट्रीयता की भावना के उफान में बिस्मार्क दक्षिणी राज्यों का विलय जर्मनी में चाहता था और यह फ्रांस से युद्ध के समय ही हो सकता था। बिस्मार्क ने फ्रांस को कूटनीतिक दृष्टिकोण से एकाकी कर दिया ताकि युद्ध की स्थिति में उसे आसानी से पराजित किया जा सके। बिस्मार्क जिस देश से युद्ध करता था उसे कूटनीतिक दृष्टिकोण से एकाकी बना देता था, ताकि युद्ध के समय उसे कहीं से मदद नहीं सके। बिस्मार्क ने इटली को दिलासा दिलाया है कि जब प्रशा का युद्ध फ्रांस से शुरू होगा तो फ्रांस रोम में पोप की सुरक्षा के लिए रखी गई अपनी सेना को बुला लेगा और तब इटली रोम पर कब्जा कर ले सकता है। इटली ने खुशी-खुशी इस प्रस्ताव को मान लिया और इस तरह बिस्मार्क ने इटली को प्रशा-फ्रांस युद्ध में तटस्थ कर दिया।

बिस्मार्क ने रूस को क्रीमिया के युद्ध में फ्रांस की सक्रिय भूमिका की याद दिलाई और उसे यह भी बताया कि प्रशा ने उस युद्ध में तटस्थ रहकर रूस की मदद की थी। उसने रूस को यह भी लालच दिया कि फ्रांस और प्रशा के युद्ध के समय वह 1856 ई0 की पेरिस की संधि की अवहेलना कर काला सागर में अपनी नौसेना रख सकता था। इसके अलावा पोल विद्रोह के समय बिस्मार्क की रूस के प्रति दी गई सहायता अभी ताजी थी। इस तरह बिस्मार्क की रूस के साथ की मित्रता और उसकी कूटनीति ने फ्रांस-प्रशा युद्ध में रूस को तटस्थ कर दिया।

फ्रांस-प्रशा युद्ध का तात्कालिक कारण स्पेन की राजगद्दी पर लियोपोल्ड के दावे से संबद्ध था। वास्तव में स्पेन में 1868 ई0 में विद्रोह हुआ था जिसमें वहां की रानी आइसाबेला द्वितीय ने गद्दी छोड़ दी थी। अब यह गद्दी होहेनजालरेन वंश के लियोपोल्ड-जो प्रशा के राजा का संबंधी था-को दिये जाने का प्रस्ताव लाया गया जिसे अनिच्छा से लियोपोल्ड ने स्वीकार किया। लेकिन जैसे ही इसकी खबर नेपोलियन तृतीय को लगी तो उसने इसका कड़ा विरोध किया जिससे लियोपोल्ड ने भयभीत होकर स्पेन की गद्दी पर बैठने से इंकार कर दिया। यह नेपोलियन तृतीय की विजय थी। लेकिन वह इससे संतुष्ट नहीं था। परिणामतः उसने अपने राजदूत बेनडेटि को प्रशा के राजा से एम्स में मिलकर भविष्य में भी किसी जर्मन राजकुमार के स्पेन की गद्दी पर नहीं बैठने का आश्वासन मांगने के लिए कहा। राजा ने बेनडेटि को उचित आश्वासन दे दिया और इस बात की खबर उसने तार देकर बिस्मार्क को दी। बिस्मार्क रात्रि का भोजन अपने युद्धमंत्री रून के साथ कर रहा था। जैसे ही यह तार बिस्मार्क को मिला, वह खुशी से नाच उठा और उसने तार की बातों

को इस तरह संशोधित कर अखबारों को छपने के लिए दे दिया कि प्रशा के लोगों को लगा कि बेनडेटि ने राजा के साथ अभद्र व्यवहार किया है और फ्रांस के लोगों को लगा कि प्रशा के राजा ने उने राजदूत के साथ अभद्र व्यवहार किया है। दोनों देशों में पहले से ही तनाव था। इस मुद्दे ने आग में घी का काम किया।

नेपोलियन तृतीय इस समय युद्ध के लिए तैयार नहीं था, परंतु फ्रांस की भावना-प्रधान जनता का उफान रोकना मुश्किल था। मजबूरन नेपोलियन को स्वयं एक अनचाहा युद्ध मोल लेना पड़ा। फ्रांस मित्रविहीन था। इस माहौल में 1870 ई0 का फ्रांस-प्रशा युद्ध शुरू हुआ। फ्रांस की 1870 ई0 में सेडान के युद्ध में पराजय के बाद दोनों देशों के बीच 1871 ई0 में फ्रैंकफुर्ट की संधि हुई जिससे युद्ध का अंत हुआ। इस संधि के अनुसार फ्रांस ने प्रशा को पाँच हजार अरब फ्रैंक हर्जाना के रूप में देने के लिए वादा किया और यह भी तय किया कि जबतक हर्जाने की रकम वसूल नहीं हो जाती तब तक प्रशा की सेना फ्रांस में मौजूद रहेगी।

वास्तव में बिस्मार्क एल्सास-लोरेन फ्रांस से नहीं लेना चाहता था, क्योंकि वह जानता था कि इससे मर्माहत फ्रांस यूरोप में मित्र ढूँढकर जर्मनी से युद्ध कर उन प्रदेशों को प्राप्त करने की कोशिश करेगा। लेकिन सेनापतियों के दबाव में उसे एल्सास-लोरेन लेने पड़े और प्रशा के राजा को वर्साय के राजप्रसाद में सम्राट घोषित किया गया। युद्ध के समय दक्षिण राज्यों में राष्ट्रीयता की लहर आई जिसके परिणामस्वरूप युद्धोपरांत दक्षिणी राज्य भी जर्मन संघ में शामिल हुए और इस तरह जर्मनी का एकीकरण पूरा हुआ।

युद्ध के परिणाम-

फ्रांस-प्रशा के 1870 के युद्ध के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इस युद्ध ने जर्मनी की एकता को पूरा किया और जर्मन साम्राज्य की नींवरखी। इससे जर्मनी के महत्वाकांक्षा बढ़ गई, जिसका परिणाम एल्सास-लोरेन को फ्रांस से लेना और वर्साय के राजप्रसाद मंे प्रशा के राजा का जर्मनी के सम्राट के रूप में घोषित करना था। इससे फ्रांस के सम्मान को काफी धक्का लगा जिसका बदला चुकाने के लिए फ्रांस सतत प्रयत्नशील रहने लगा। इस युद्ध के परिणामस्वरूप फ्रांस में द्वितीय साम्राज्य का अंत हुआ और तृतीय गणतंत्र की स्थापना हुई। इसके विपरीत जर्मनी में एक संगठित जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई जो राष्ट्रवाद और सैन्यवाद का पक्का समर्थक था। बर्लिन इस साम्राज्य की राजधानी बनी।

6.5 इटली का एकीकरण

19वीं शताब्दी में इटली मात्र एक भौगोलिक अभियव्यक्ति था; क्योंकि इसमें अनेक राज्य थे, जिनके शासकों का आपसी हित एक-दूसरे के विपरीत थे। ये शासक इटली की राजनीतिक एकता के विरूद्ध थे; क्योंकि एकता की हालत में अनेक शासकों को अपनी गद्दी से हाथ धोना पड़ता। फिर भी, 19वीं सदी में ही कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनके कारण इटली में राष्ट्रवाद का उदय हुआ और बहुत सी क्रांतिकारी संस्थाओं का जन्म हुआ जिन्होनें इटली के एकीकरण में हाथ बँटाया और अंततः इटली 1870 ई0 में एक राष्ट्र के रूप में उदित हुआ।?

6.5.1 इटली के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

इटली में अनेक राज्य थे और इनके शासकों का आपसी हित एक-दूसरे से टकराता था, फिर भी इटली में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण इटली में एकीकरण की भावना मुखर होती गई। इटली में एक ही नस्ल के लोग थे और उनकी भाषा भी एक ही इतालवी थी। इसके अलावा उनका धर्म भी रोमन कैथोलिक था। उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण उनका सांस्कृतिक जीवन एक समान था। इटली के निवासी अनेक राज्यों में रहते हुए भी एकता महसूस करते थे और राष्ट्रीयता की बढ़ती लहर में राजनीतिक एकता प्राप्त कर वे एक बलशाली राष्ट्र के रूप में यूरोप में इटली को पेश करना चाहते थे।

इसके अलावा फ्रांस की सेना जब इटली में घुसी तो उसने क्रांतिकारी नारों-'समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व'-का सहारा लिया। पददलित इटलीवासी इन नारों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होनें अपनी सहानुभूति क्रांतिकारी सेना के साथ दिखाई। लेकिन, इटलीवालों का भ्रम शीघ्र ही टूट गया, जब उन पर विदेशी शासक नेपोलियन का शासन शुरू हुआ। लेकिन, नेपोलियन की इटली के एकीकरण के प्रति सबसे महत्वपूर्ण देन राष्ट्रवादी भावनाओं को उभारना था। नेपोलियन के शासन का इटली में विरोध होने लगा और इस प्रतिरोध में इटलीवासियों ने एक साथ मिलकर फ्रांसीसी सेना का सामना किया। इसके परिणामस्वरूप उनमें भावनात्मक एकता का संचार हुआ।

1815 ई0 के वियना कांग्रेस ने इटली को पुनः विभाजित कर दिया और उस पर ऑस्ट्रिया का आधिपत्य स्थापित कर दिया। फिर भी, इटली के राज्यों की संख्या उतनी नहीं थी, जितनी कि फ्रांसीसी क्रांति के पूर्व थी। इटलीवासी 1815 ई0 की वियना-व्यवस्था का विरोध करते थे। इस विरोध के फलस्वरूप कई संस्थाओं का जन्म हुआ-कार्बोनरी, युवा इटली-जिन्होनें इटली के एकीकरण के लिए प्रयास किया। इटलीवासी एकीकरण के लिए आर्थिक समृद्धि आवश्यक समझते थे। उनके विचार में राजनीतिक एकीकरण के पहले देश का आर्थिक एकीकरण आवश्यकथा। इटली के व्यवसाय, कृषि और उद्योग पिछड़े हुए थे। इनकी तरक्की के लिए कई सफल प्रयास किये गये और तदनुसार सार्डिनिया में नए कानून बनाये गये।

इटली के एकीकरण का मार्ग अनेक बाधाओं से भरा हुआ था। इटली के एकीकरण में विदेशी शक्तियाँ भी बहुत चाव नहीं ले रही थीं। आंतरिक बाधाओं में राजतंत्र का विरोध तो था ही, साथ ही उस कुलीनवर्ग का भी विरोध था जो अपने-आपको चर्च, धर्मसंघ और शक्ति का रक्षक मानता था और इन सबका संरक्षक ऑस्ट्रिया था। राजनीतिक विषमताएँ आर्थिक कारणों से और भी उग्र हो गई; क्योंकि दक्षिणी इटली अविकसित और ग्रामीण था तथा उत्तरी इटली अर्द्ध-औद्योगिक।

इटली के एकीकरण के मार्ग में सामंतवर्ग और कुलीनवर्ग भी बॉधक थे, जो सामंतवादी तथा जागीरदारी प्रथा को और मजबूत करके अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। उनकी शक्ति उनकी जागीरें तथा राजनीतिक प्रभुता थी। इटली में औद्योगिक क्रांति भी अपनेचरण नहीं रख पाई थी। ऐसी हालत में जमीन के मालिकों, अर्थात् सामंतो की समाज में पूछ थी और ये सामंत राष्ट्रीय एकता के पक्ष में नहीं थे; क्योंकि इन्हें भय था कि राष्ट्रीय एकात हासिल करने पर इटली में उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति पहलेवाली नहीं रह जायेगी।

6.5.2 इटली के एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रक्रिया एवं व्यक्ति-व्यक्तित्व का योगदान

नेपोलियन की इटली विजय और फ्रांस की क्रांतिजनित शक्तियों ने इटली के एकीकरण के मार्ग को प्रशस्त किया नेपोलियन की पराजय के पश्चात् यूरोप में प्रतिक्रिया का राज्य व्याप्त हो गया और इटली पुनः विभाजित कर दिया गया, जहाँ ऑस्ट्रिया का बोलबाला कायम हुआ। फिर भी इटली के देशभक्त राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयास करते रहे। कुछ राष्ट्रभक्तों ने 'कार्बोनरी' नामक एक गुप्त संस्था की स्थापना की, जो नेपल्स के अलावा देश के अन्य भागों में फैल गई। इस संस्था ने गुप्त रूप से कई विद्रोहों का आयोजन किया और क्रांतिकारी भावना का प्रचार आरंभ किया। 1820 ई0 के नेपल्स के विद्रोह में कार्बोनरी का हाथ था, फलतः मेटरनिख ने इसके सदस्यों को कुचलने का हर संभव प्रयास किया।

1830 ई0 की फ्रांसीसी क्रांति के परिणामस्वरूप इटली में भी क्राति हुई। पोप की रियासतों तथा पर्मा और मोडेना में भी विद्रोह हुए। विद्रोहियों को लुई फिलिप से सहायता की आशा थी, लेकिन उनकी यह आशा पूरी नहीं हुई और अंत में मेटरनिख ने एक बार फिर विद्रोहियों का दमन किया।

मेजिनी और 'युवा इटली' की स्थापना-

1815 से 1831 ई0 तक इटली के एकीकरण के लिए किए गए सारे प्रयत्न विफल हो चुके थे और घोर निराशा का वातावरण छा गया था। ऐसी ही निराशाजनक परिस्थिति में इटली में राष्ट्रीय आंदोलन के नेता मेजिनी का प्रादुर्भाव हुआ। उसके दिमाग में संयुक्त इटली का स्वरूप जितना स्पष्ट और निश्चित था। मेजिनी ने 1830 ई0 की क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी-कार्बोनरी संस्था का सदस्य होने के कारण उसे गिरफ्तार कर लिया गया था।

कारागार में मेजिनी को अनुभव हुआ कि इटली का एकीकरण कार्बोनरी की योजना के अनुसार नहीं हो सकता। 1831 ई0 में उसने 'युवा इटली' नामक संस्था की स्थापना की, जिसने नवीन इटली के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1848ई0 की क्रांति के समय मेजिनी इटली में गणतंत्र की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हुआ, लेकिन वह सफल नहीं हो सका। फिर भी उसका यह प्रयत्न बाद के समय के लिए प्रेरणा का स्त्रोत रहा। 'युवा इटली' का एकमात्र उद्देश्य इटली को ऑस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त कर उसका एकीकरण करना था। मेजिनी कट्टर गणतंत्रवादी था और चाहता था कि एकीकरण का कार्य पूरा होने पर देश में गणतंत्रीय सरकार कायम हो। इटली के लिए ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए मेजिनी राष्ट्रीय मुक्ति का प्रतीक बना।

1848 ई0 की फ्रांसीसी क्रांति का प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप पर पड़ा। इस क्रांति के परिणामस्वरूप ऑस्ट्रिया में भी क्रांति हुई और मेटरनिख को अपना देश छोड़कर भागना पड़ा। मेटरनिख के पलायन से इटलीवासी खुश हुए और इटली में ऑस्ट्रिया के विरूद्ध विद्रोह हो गया। ऑस्ट्रिया से मुकाबला करने के लिए अकेला सार्डिनिया सक्षम नहीं था, अतः यह भी महसूस किया गया विदेशी सहायता प्राप्त कर ही इटली का एकीकरण हो सकता है।

कावूर और इटली का एकीकरणः-

काउंट काबूर पीडमौंट का निवासी था और पेशे से इंजीनियर था। आरम्भ में वह सेना में भर्ती हुआ, लेकिन शीघ्र ही अपने उदार विचार के कारण उसे सेना की नौकरी छोड़नी पड़ी। वह वैध राजतंत्र में विश्वास करता था। कुछ दिनों के बाद वह पीडमौंट के प्रथम संसद के चुनाव में खड़ा हुआ और विजयी हुआ। 1850ई0 में वह मंत्रिमण्डल में

शामिल हुआ और 1852 ई0 में प्रधानमंत्री बना। प्रधानमंत्री बनते ही उसने अपने राज्य की शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया और एक महान राजनीतिज्ञ तथा अद्वितीय राजनयिक का परिचय दिया। राजा विक्टर इमैनुएल की कृपा भी उसे प्राप्त थी। अतः पीडमौंट-सार्डिनिया में कावूर ने संसदीय शासन-प्रणाली का विकास किया और स्वायत्त संस्थाओं कानिर्माण कर जनता को स्थानीय संस्था से अवगत कराया। उसने चर्च के विशेषाधिकारों को भी समाप्त किया और मठों को नष्ट कर धार्मिक भ्रष्टाचार दूर करने का प्रयास किया। शिक्षा की उन्नति के लिए उसने शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की।राज्य की आर्थिक स्थिति ठीक करने के लिए कावूर ने मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित किया। किसानों की सुख-सुविधा के लिए अनेक समितियों का गठन कर लिया गया। इस तरह पीडमौंट आधुनिक राष्ट्र की श्रेणी में आ गया।

इटली के एकीकरण का पहला चरण-

इटली के एकीकरण के संबंधमें कावूर के कुछ खास सिद्धांत थे। उसकी राय थी कि समस्त इटली में सार्डिनिया ही एक ऐसा राज्य था, जो इटली को नेतृत्व प्रदान कर सकता था। उसके विचार से इटली के एकीकरण के लिए ऑस्ट्रिया को इटली से निकालना जरूरी था और यह बाह्य सहायता से सेना द्वारा ही संपादित हो सकता था। कावूर इटली के एकीकरण के लिए अंतरराष्ट्रीय सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था, जिसके लिए आवश्यक था कि इटली के प्रश्न को अंतरराष्ट्रीय बनाया जाए।

कावूर अपनी योग्यतानुसार इटली के एकीकरण के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिए उद्यत हुआ। संयोगवश इसी समय 1854 ई0 में रूस और तुर्की के बीच क्रीमिया का युद्ध शुरू हुआ, जिसमें इंगलैंड और फ्रांस ने तुर्की की तरफ से युद्ध में भाग लिया। जब लड़ाई शुरू हुई तो कावूर ने भी सार्डिनिया की तरफ से एक सेना भेजकर इंगलैंड और फ्रांस की मदद की। लेकिन, दुर्भाग्यवश कई बार ब्रिटिश सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह इटली के एकीकरण के लिए सैनिक सहायता नहीं प्रदान करेगी।

ऐसी हालत में फ्रांस ही एकमात्र ऐसा देश था जिस पर कावूर आशा-भरी, निगाह से देख सकता था। वास्तव में नेपोलियन तृतीय इटली के कार्बोनरी संगठन का अपने प्रवास के दिनों में सदस्य रह चुका था, अतः उससे कुछ आशा करना कावूर के लिए तर्कसंगत था। 1815 ई0 की वियना की अपमानजनक स्थिति को भुलाने के लिए नीस और सेवाय लेना भी उसे फायदेमंद लगता था। अनजाने में इटली के एकीकरण की प्रक्रिया शुरूआत नेपोलियन प्रथम ने शुरू की थी, जिसको नेपोलियन तृतीय पूरा कर खुश होने का दंभ भर रहा था। नेपोलियन तृतीय ओरसिनी द्वारा अपनी (नेपोलियन की) हत्या के प्रयास से प्रभावित हुआ और इटली के एकीकरण के लिए पीडमौंट-सार्डिनिया को मदद करने के लिए तैयार हो गया।

नेपोलियन तृतीय इटली की मदद के लिए उन्मुख हुआ, लेकिन उसका ध्येय एक संगठित मजबूत इटली नहीं होकर ऑस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त इटली था। इस बात को ध्यान में रखकर उसने इटली के प्रधानमंत्री से प्लोंबियर्स नामक जगह पर 1858 ई0 में भेंट की और उसके साथ समझौता किया। समझौते के अनुसार सार्डिनिया को युद्ध का कारण ढूँढ़ना था। राजकुमारी क्लोटाइल्ड की शादी जेरोम से सितम्बर, 1858 में सम्पन्न हुई जिससे फ्रांस और पीडमौंट

का संबंध और गहरा हुआ। प्रशा ऑस्ट्रिया की पराजय की कामना करता था; क्योंकि उसकी हस्तक्षेपकारी उपस्थिति के कारण ही जर्मनी का एकीकरण संभव नहीं हो पा रहा था।

इटली के एकीकरण का प्रथम चरण-

काबूर ऑस्ट्रिया से युद्ध का बहाना ढूँढ़ रहा था। उधर ऑस्ट्रिया को भी सार्डिनिया एवं फ्रांस के समझौते का ज्ञान हो चुका था, जिसके कारण वह नाराज था। वह शुरू में ही सार्डिनिया को कुचल देना चाहता था, अतः 19 अप्रैल, 1859 को ऑस्ट्रिया ने पीडमौंट के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यूरोप की नजरों में ऑस्ट्रिया आक्रामक देश बन गया। पीडमौंट से ऑस्ट्रिया की लड़ाई शुरू होने के दस दिनों के बाद फ्रांस ने दो लाख सेना के साथ ऑस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में ऑस्ट्रिया की सेना बुरी तरह पराजित होने लगी। नेपोलियन तृतीय कभी सोच भी नहीं पाया था कि सार्डिनिया की सेना इतनी आसानी से विजय प्राप्त कर सकेगी। वह संगठित इटली को फ्रासं के लिए खतरा मानता था, फलतः कावूर के विजयोल्लास के दौरान ही उसने ऑस्ट्रिया से संधि करने की बात सोची।

उपर्युक्त परिस्थिति में नेपोलियन तृतीय विलाफ्रैंका नामक जगह पर ऑस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से भेंट की और एक के युद्ध से हट जाने के बाद सार्डिनिया सैनिक रूप में कमजोर हो गया। कावूर युद्ध बंद करने के पक्ष में नहीं था; क्योंकि ऑस्ट्रिया का अधिपत्य अब भी वेनेशिया पर था। चूँकि नेपोलियन ने अंतिम समय तक ऑस्ट्रिया को इटली से बाहर निकालने में सार्डिनिया का साथ नहीं दिया था, अतः उसे सेवाय और नीस नहीं मिले। इटली के एकीकरण का पहला चरण नेपोलियन तृतीय की मदद से सम्पन्न हुआ जिसमें उसे केवल लोम्बार्डी मिला। इस प्रयास ने यह साबित कर दिया कि इटली का एकीकरण सार्डिनिया के नेतृत्व में ही हो सकता था।

इटली के एकीकरण का द्वितीय चरण-

ज्यूरिख की संध ने पीडमौंड पर कुछ दिनों के लिए सैन्य-बल के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया था, लेकिन जन-आंदोलन पर इस संधि की शर्तें नहीं लागू हो सकीं। जिन दिनों ऑस्ट्रिया से इटली का युद्ध चल रहा था, उन्हीं दिनों मध्य इटली के परमा, मोडेना, टस्कनी और पोप के राज्यों बोलेगना और रोमेगना में जनता ने विद्रोह कर दिया जिससे वहां के शासकों को अपना राज्य छोड़कर भागना पड़ा। इन राज्यों में निरंकुश शासन के बदले सामयिक सरकारों का संगठन कर लिया गया था। समय कावूर भी पुनः मंत्रिमण्डल में शामिल हो गया। अप्रैल, 1860 में विक्टर इमैनुएल ने ट्यूरिन में एक नई संयुक्त इटली की पार्लियामेंट का उद्घाटन किया। इस उद्घाटन के साथ ही इटली के एकीकरण का द्वितीय चरण समाप्त हो हुआ।

गैरीबाल्डी एवं इटली के एकीकरण का तृतीय चरण-

इटली के एकीकरण का तृतीय चरण गैरीबाल्डी के उत्साह और त्याग एवं कावूर की नीति से संभव हो सका। गैरीबाल्डी (1807-82) एक महान देशभक्त था, और उसके साथ ही एकीकरण के कार्य को उसने एक कदम आगे बढ़ाया। इटली के एकीकरण में उसने जिस महान त्याग, निःस्वार्थ भावना तथा उत्कट देशभक्ति का परिचय दिया, वैसा उदाहरण विश्व में बहुत कम मिलता है। उसी के प्रयास के परिणामस्वरूप सिसली और नेपल्स इटली के अंग बन सके।

'युवा इटली' का सदस्य बनते ही गैरीबाल्डी ने इटली की एकता के लिए प्रयास करना प्रारंभ किया। मेजिनी के परामर्श से ही उसने पीडमौंट के नाविकों को विद्रोह के लिए उकसाया। पीडमौंट के राजा ने उसे गिरफ्तार कर लिया, लेकिन वह जेल से भागकर अमेरिका चला गया। जब फ्रांस में 1848 ई0 में क्रांति हुई और मेटरनिख का पतन हुआ, तब गैरीबाल्डी स्वदेश लौट आया। उस समय पीडमौंट का ऑस्ट्रिया से युद्ध चल रहा था। गैरीबाल्डी ने स्वयंसेवकों को संगठन किया और 3,000 स्वयंसेवकों को लेकर संग्राम में चार्ल्स एल्बर्ट की खुलकर सहायता की। लेकिन ऑस्ट्रिया और फ्रांस की संयुक्त सेना का सामना करना उसके लिए संभव नहीं था। अतः, उसे एड्रियाटिक के तट पर भागना पड़ा जहाँ उसने शत्रुओं का जमकर मुकाबला किया। लेकिन, इसी समय उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई जिससे वह टूट गया और अमेरिका चला गया।

अमेरिका की इस दूसरी यात्रा में गैरीबाल्डी को काफी धन अर्जित करने का अवसर मिला। 1854 ई0 में वह पुनः इटली लौट आया और पीडमौंट के नजदीक केप्रेरा नामक द्वीप खरीदकर खेती करने लगा। फिर भी इटली की दुर्दशा पर उसे शांति नहीं मिली और देश की स्वतंत्रता और एकता के लिए वह प्रयत्नशील रहा। 1856 ई0 में गैरीबाल्डी वैधानिक राजसत्ता में विश्वास करने लगा। गैरीबाल्डी ने कावूर से मंत्रणा कर 1860 ई0 में जिनोआसे दक्षिण सिसिली की ओर 1072 सैनिकों को लेकर प्रस्थान किया। ये स्वयंसेवक लाल कुरता पहना करते थे। उसने नेपल्स पर आक्रमण किया जहाँ का राजा भाग खड़ा हुआ और नेपल्स भी गैरीबाल्डी के कब्जे में आ गया।

अब गैरीबाल्डी रोम पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा। रोम में पोप की रक्षा के लिए फ्रांसीसी सेना मौजूद थी और फ्रांसीसी जनता भी पोप की बेइज्जती बर्दास्त नहीं कर सकती थी। इसके अलावा कावूर को गैरीबाल्डी की बढ़ती लोकप्रियता और उसके पुराने गणतंत्रवादी विचार से भी भय था कि कहीं गैरीबाल्डी अपने को उन मुक्त इलाकों का शासक न घोषित करे दे। पर ऐसा न हुआ गैरीबाल्डी ने सारे जीते हुए इलाकों को विक्टर इमैनुएल को सौंप दिया। उसने इटली के एकीकरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर दक्षिणी इटली को जीतकर इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया।

1861 ई0 तक इटली के पक्षमें विक्टर इमैनुएल द्वितीय ने कापुआ और गेटा को भी जीत लिया। रोम तथा वेनेशिया को छोड़कर सम्पूर्ण इटली के प्रदेशों पर विक्टर को अधिकार हो चुका था। गैरीबाल्डी जनता से आग्रह किया कि इटलीवासी विक्टर के प्रति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति दिखाएँ और इस तरह इटली के एकीकरण का तृतीय चरण पूरा हुआ।

कावूर के नेतृत्व में इटली ने तीन बार एकीकरण का सफल प्रयास कर अपने को संगठित करलिया। लेकिन, अब भी वेनेशिया और रोम इटली में सम्मिलित नहीं हुए थे। कावूर समय के साथ-साथ इटली में इन इलाकों को भी सम्मिलित करने की योजना बना रहा था, लेकिन संयोगवश 6 जून, 1861 ई0 को 51 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। इटली के एकीकरण में मेजिनी, गैरीबाल्डी, विक्टर इमैनुएल द्वितीय, असंख्य देशभक्तों, फ्रांसीसी मदद एवं कावूर का योगदान रहा। लेकिन, यदि कावूर नहीं होता तो बाकी सारे लोग एवं परिस्थितियाँ इटली का एकीकरण नहीं

कर पातीं। मेजिनी का आदर्शवाद और गैरीबाल्डी के युद्ध-कौशल का प्रयोग कावूर की चतुरता से ही संभव हो सका, नहीं तो ऑस्ट्रिया और फ्रांस की सेना के सामने उनकी एक भी न चलती।

इटली के एकीकरण का चतुर्थ चरण-

वेनेशिया और रोम पर अभी भी क्रमशः ऑस्ट्रिया और पोप का शासन था। विक्टर इमैनुएल इन दोनों इलाकों को इटली में मिलाने की ताक में था। जर्मनी के एकीकरण के दौरान प्रशा और ऑस्ट्रिया की लड़ाई अवश्यंभावी हो गई। युद्ध में ऑस्ट्रिया पराजित हुआ और संधि के समय बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया को बाध्य किया कि वह वेनेशिया इटली को दे दे। इस तरह 1866 ई0 में वेनेशिया इटली का अंग बन गया और इटली के एकीकरण का चतुर्थ चरण समाप्त हुआ।

इटली के एकीकरण का अंतिम चरण-

रोम अब भी संयुक्त इटली का अंग न होकर पोप के अधीन था। सम्राट नेपोलियन तृतीय और विक्टर इमैनुएल द्वितीय में एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार इटली के राजा ने पोप के राज्य पर आक्रमण नहीं करने का वचन दिया था। फ्रांस की एक सेना पोप के राज्य के रक्षार्थ रो में रहा करती थी। ऐसी स्थिति में रोम पर आक्रमण करने का अर्थ था फ्रांस स ेयुद्ध, जिसके लिए इटली तैयार नहीं था।

रोम पर इटली को अधिकार जमाने का सुअवसर 1870 ई0 में प्राप्त हुआ। प्रशा ने जर्मनी के एकीकरण के लिए अंतिम लड़ाई फ्रांस से 1870 ई0 में लड़ी। इस लड़ाई के लिए प्रशा के चांसलर, बिस्मार्क ने कूटनीतिक तैयारी करते समय विक्टर हमैनुएल द्वितीय को बताया कि युद्ध के दौरान फ्रांस अपनी सेना रोम से हटायेगा। जैसे ही फ्रांसीसी सेना हटे वैसे ही इटली को रोम पर आक्रमण कर अपने अधीन कर लेना था। रोम इटली में शामिल हो गया। 1871 ई0 में रोम संयुक्त, इटली की राजधानी बना। 2 जून, 1871 को विक्टर इमैनुएल द्वितीय अपने परिवार, राजदरबार और संसद के साथ रोम चला आया। जनता को संबोधित करते हुए उसने कहा, ''हम रोम में आ गए हैं और अब यहीं रहेगें।'' इटली के एकीकरण का पंचम और अंतिम चरण अब पूरा हुआ और इस प्रकार विश्व के मानचित्र पर संयुक्त इटली का उद्भव हुआ।

6.6 सारांश

इस इकाई में हमने राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में जर्मनी और इटली के एकीकरण से संबंधित निम्नलिखित बातों पर चर्चा की:

- राष्ट्र को एक भू-भाग के बजाय एक विशिष्ट मानव समुदाय के रूप में समझना जरूरी है।
- राष्ट्रवाद की जड़ें आधुनिक विश्व में गहरे तक समाई हुई हैं।
- राष्ट्रों के निर्माण, राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्र-राज्यों की उपस्थिति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ मानव इतिहास के औद्योगिक दौर में ही संभव हुई हैं, उससे पहले नहीं। राष्ट्रवाद का उदय विश्व इतिहास के कृषक युग से औद्योगिक युग में रूपांतरण में निहित है। दूसरे शब्दों में औद्योगिक समाज और अर्थव्यवस्था की मुख्य आवश्यकताओं ने राष्ट्रवाद के उदय की नींव डाली।
- उपर्युक्त संदर्भों में इटली और जर्मनी में भी राष्ट्रवाद का उदय हुआ दोनों की राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति समान लगती है लेकिन दोनों के एकीकरण के स्वरुप और प्रक्रिया में काफी अंतर रहा था ।

इटली के एकीकरण में जनतांत्रिक, सांविधानिक राजतंत्र के समर्थकों का मिला-जुला सहयोग था। लेकिन एकीकरण सदैव राजतंत्रवादी हावी रहे और विरोधियों को परास्त कर अंततः जर्मनी का एकीकरण हुआ।

आधुनिक राज्य को औद्योगीकरण के संचालन की भूमिका निभानी पड़ती है। लोगों को प्रशिक्षित करना तथा उन्हें औद्योगीकरण के लिए उपयुक्त बनाना तथा लोगों के सामाजिक जीवन में दखल और हस्तक्षेप आधुनिक राज्य की भूमिका के अंग है। परिणामस्वरूप मानव-जीवन और समाज की स्वयात्ता जो प्राग, आधुनिक समाजों की विशेषता है समाप्त होती है और समाज अधिक से अधिक राज्य के नियंत्रण और गिनरानी में आ जाता है। यह नियंत्रण आर्थिक, समाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन सभी पर होता है। इसी प्रक्रिया के तहत केन्द्रीकरण और हस्तक्षेप आधुनिक राज्य की भूमिकाओं में शामिल होते हैं। आधुनिक राज्य द्वारा ये भूमिकाएँ निभा सकने में राष्ट्रवाद उसकी मदद करता है। राष्ट्रवाद लोगों की राज्य की प्रत्यक्ष और सीधी सदस्याता पर आधारित है। जर्मनी और इटली के एकीकरण को इन्हीं सन्दर्भ में समझना चाहिए।

6.7 शब्दावली

राष्ट्र:	निश्चित भूभाग या क्षेत्र
राजतंत्रः	राजा या शासक के अधीन व्यवस्था
औद्योगिकः	उद्योगों के संदर्भ में
निरंकुशः	नियंत्रण मुक्त
सामंतवर्गः	मध्यकालीन भू व्यवस्था के नियंत्रणकर्ता /उच्च वर्ग

6.8 अभ्यास के प्रश्न

प्रश्न- राष्ट्रवाद के संदर्भ को समझाइए।

प्रश्न- जर्मनी के राष्ट्रवादी भावना को उसके एकीकरण संदर्भ में समझाइए।

प्रश्न- इटली के एकीकरण के प्रक्रिया को बताए।

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची/उपयोगी पाठ्य सामग्री

* Anderson, B: 1991, Imagined Communoties : Reflections on the Origion and Spead of Nationalism, London

* Hobsbawm, E.J.:1990, Nations and Nationalism Since 1780: Programme,Myth, Realty, Cabridge

* Hamerow, Theodore S. : 1972, The Social foundations of German Unification 1858-1871: Struggle and Accomplishments, New Jersey, America

* Taylor, A.J.P.: 1974, Bismark, The Man and the Statesman, London

* Eyck, E: 1958, Bismark and the German empire

Duggan, Christopher:1984, A Consine History of Itlay, Cambridge

*Cowie,Leonard W. and Wolfson,Robert: 1985, Years of Nationalism: European history,1815-1890, London

6.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न- राष्ट्रवाद के आधार तत्व क्या हैं ? 19 वीं शताब्दी में इसके यूरोपीय कारक तत्व क्या थे?

प्रश्न- जर्मनी के एकीकरण के पीछे के सामाजि-आर्थिक प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालते हुए बिस्मार्क के भूमिका को विवेचित कीजिए।

प्रश्न- इटली के राष्ट्रवाद विकास चरणों की चर्चा करते हुए एकीकरण के बाधाओं के संदर्भ के साथ महत्वपूर्ण व्यक्तियों के योगदान की चर्चा कीजिए।

इकाई सात

चीन और जापान: चीन और जापान में यूरोपीय साम्राज्यवाद,अफ्रीका का विभाजन और प्रथम विश्वयुद्ध, रूसी क्रांति

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 चीन और यूरोपीय शक्तियां

7.3.1 ब्रिटेन

7.3.2 टींटसिन की संधि

7.3.3 अमेरिका

7.3.4 फ्रांस

7.3.5 रूस

7.4 जापान और पश्चिमी शक्तियां

7.5 अफ्रीका का बंटवारा

7.5.1 बेल्जियम

7.5.2 फ्रांस

7.5.3 ब्रिटेन

7.5.4 जर्मनी

7.5.5 इटली

7.5.6 पुर्तगाल

7.5.7 स्पेन

7.6 प्रथम महायुद्ध

7.6.1 राष्ट्रीयता की भावना

7.6.2 कूटनीतिक संधियां

7.6.3 सैन्यवाद

7.6.4 साम्राज्यवाद एवं आर्थिक प्रतिद्वन्दिता

7.6.5 अराजकता में वृद्धि

7.6.6 समाचार पत्रों की भूमिका

7.6.7 अंतर्राष्ट्रीय संस्था का अभाव

7.6.8 तात्कालिक कारण

7.7 विश्वयुद्ध के प्रभाव

7.8 रूसी क्रांति

7.9 सारांश

7.10 शब्दावली

7.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

7.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची/उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.13 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में साम्राज्यवाद का रूप परिवर्तित होने लगा और अब इसका लक्ष्य अधिकाधिक संपदा एकत्रित करना हो गया एवं इसका स्वरूप राष्ट्रीय होने लगा। इस नये साम्राज्यवाद का उद्देश्य अपनी राजनीतिक शक्ति का विस्तार करना था। अब तक अफ्रीका का विभाजन हो गया था,एशिया के प्रायः एक-तिहाइ् भाग पर रूस का अधिकार था, भारत में अंग्रेजों का राज्य था और अब चीन और जापान ही इनके विस्तार के लिए बचे थे। लेकिन जापान ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और वह स्वयं साम्राज्यवाद के रास्ते पर चल पड़ा था।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई् का उद्देश्य आपको चीन और जापान में यूरोपीय साम्राज्यवाद,अफ्रीका का विभाजन और प्रथम विश्वयुद्ध तथा रूसी क्रांति से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद किस तरह स्थापित हुआ
- जापान किस तरह विकसित राष्ट्र बना
- अफ्रीका को किस तरह यूरोपीयों ने लूटा
- प्रथम विश्वयुद्ध क्यों हुआ
- रूसी क्रांति कैसे घटित हुई

7.3 चीन और यूरोपीय शक्तियां

कुछ छिटपुट अभियानों के फलस्वरूप 1557ई. तक पुर्तगालियों ने चीन के मकाओ प्रायद्वीप में अपनी बस्ती बना ली थी। पुर्तगालियों के पश्चात धीरे-धीरे अन्य यूरोपीय देशों के व्यापारी भी चीन पहुंचने लगे। 1575ई. में स्पेन, 1604 ई. में

डच,1637 ई. में अंग्रेज, 1698 ई. में फ्रांसीसी, 1731 ई. में डेनमार्क और 1732 ई. में स्वीडन के व्यापारी भी चीन में घुसने में कामयाब हो गये।

7.3.1 ब्रिटेन

1715 ई. में भारत की ईस्ट इंडिया कंपनी ने चीन के कैण्टन नामक स्थान में एक कारखाना स्थापित किया और चीन के साथ व्यापार को बढ़ाया लेकिन प्रारंभ में व्यापार एकतरफा था यानि अंग्रेज तो चीनी-मिट्टी के बर्तन, रेशम और चाय खरीदते थे पर चीनी उनसे कुछ नहीं लेते थे और अंग्रेजों को सोने-चांदी में इनका दाम चुकाना पड़ता था। लेकिन धीरे-धीरे चीनी ,विदेशी वस्तुओं की ओर आकर्षित हुए और समय के साथ चीन में अफीम की मांग बढ़ने चगी। अंग्रेज इस अफीम को भारत में उगाते थे और चीनी माल के बदले उन्हैं अफीम में भुगतान करते थे। धीरे-धीरे चीनियों में अफीम की लत पड़ने लगी और इसकी मांग तेजी से बढ़ने लगीं। चीनी सरकार ने इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न किया और 1833 ई. में चीन ने कंपनी के व्यापार के एकाधिकार को खत्म कर दिया, कंपनी ने इसका विरोध किया। यह असमंजस की स्थिति अगले पांच वर्ष तक चलती रही और 1838 ई. में चीनी सम्राट ने एक विशेष आयुक्त की नियुक्ति की और उसे नशे को रोकने और अफीम के आयात पर प्रतिबंध लगाने का कार्य सौंपा। विशेष आयुक्त लिन त्से हसू ने मार्च 1839 ई. में कड़ी कार्यवाही की जिसके परिणामस्वरूप चीन और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया । यह युद्ध प्रायः तीन वर्ष तक चला, युद्ध का आरंभ इंग्लैण्ड द्धारा कैण्टन की नाकेबंदी से हुआ और चीन की 29 नौकाओं को नष्ट कर दिया गया और जुलाई 1840 ई. को तिंगहाई पर अधिकार कर लिया गया और शीघ्र ही अमोय तथा निगंपो पर भी कब्जा जमाया गया। कैण्टन में समझौतों का प्रयास किया गया किंतु यह असफल रहा और 1841 ई. में अंग्रेजों कैण्टन पर परी तरह अधिकार कर लिया और अब उन्होंने नानकिंग पर कब्जे का प्रयास किया, जिससे डरकर चीन ने समझौते के प्रयास प्रारंभ किये और 29 अगस्त 1842 ई. में नानकिंग की संधि हुई।

नानकिंग की संधि के फलस्वरूप हाँगकाँग का द्वीप इंग्लैण्ड को दे दिया गया। अंग्रेजों को कैण्टन,अमोय,फूचों,निगंपों और शंघाई में बसने और व्यापार करने अधिकार मिला। इनके अलावा भी अनेक शर्तें चीनीयों पर लाद दी गयीं। इस संधि के पश्चात अन्य यूरोपीय देशों के साथ भी चीन की व्यापारिक संधियां हुई। ब्रिटेन यह चाहता था कि 10 वर्षों के पश्चात संधियों के पुनरीक्षण की व्यवस्था हो लेकिन चीन ने यह स्वीकार नहीं किया। अब अंग्रेज दबाव की राजनीति अपनाने लगे। शीघ्र ही ऐरो युद्धपोत की घटना ने उन्हें मौका दिया और फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरी की हत्या से फ्रांस ने भी उसका साथ दिया। 1856 ई. में कैण्टन को जीतकर ब्रिटेन ने उत्तर की ओर बढ़ना प्रारंभ किया और 1858 ई. में चीन को टींटसिन की संधि के लिए मजबूर किया।

7.3.2 टींटसिन की संधि

टींटसिन की संधि की कुछ प्रमुख धाराऐं इस प्रकार थीं-

- उत्तर में न्यूच्वांग से लेकर दक्षिण में स्वातों तक विस्तृत चीन के ग्यारह नये बंदरगाह यूरोपियों के व्यापार एवं रहने के लिए खोल दिये गये।
- पश्चिमी देशों के जहाजों को याँग्त्सी नदी में परिवहन का अधिकार दिया गया।

- पश्चिमी देशों के राजदूतों को पीकिंग में रहने की अनुमति दी गयी।
- पासपोर्टधारी विदेशियों को चीन में स्वच्छंदतापूर्वक घूमने की आजादी दी गयी।
- इंग्लैण्ड और फ्रांस को युद्ध का हर्जाना भी मिला।
- अफीम के व्यापार को वैध व नियंत्रित किया गया और उस पर आयात कर लगाया गया।
- फ्रांस के रोमन कैथेलिक पादरियों भूमि खरीदने और गिरजाघर बनाने का अधिकार दिया गया।

चीन के साथ उपरोक्त युद्ध के परिणामस्वरूप चीन का दरवाजा यूरोप के लिए पूरी तरह खुल गया और यूरोपीय राष्ट्रों को चीन की आंतरिक कमजोरी का पता चल गया। चीन की इस कमजोरी का लाभ उठाकर यूरोपीय राष्ट्रों ने चीन के बाहरी प्रदेशों में धीरे-धीरे अपना आधिपत्य जमाना प्रारंभ कर दिया।

7.3.3 अमेरिका

ब्रिटेन के बाद अमेरिका भी नानकिंग की संधि की भांति ही स्वयं के लिए सुविधा प्राप्त करने का इच्छुक था। इसके लिए अमेरिका के प्रतिनिधि के रूप में केलब कंशिग को भेजा गया। फरवरी 1844 ई. को केलब कंशिग मकाउ पहुंचा और जुलाई 1844 ई. को मकाउ में वांगहिया की संधि में हस्ताक्षर हुए। इस संधि के द्वारा केलब कंशिग अमेरिका के लिए राज्य-क्षेत्रातीत अधिकार पाने में सफल हुआ। इस अधिकार के तहत अमरीकी नागरिक के विरूद्ध चीनी नागरिक द्वारा किये गये अपराध में चीनी अधिकारी अपनी कानून प्रणाली द्वारा न्याय करेंगे और चीनी नागरिक के विरूद्ध अमेरिकी नागरिक द्वारा किये गये अपराध में अमेरिकी अधिकारी अपनी कानून प्रणाली द्वारा न्याय करेंगे। यह वस्तुतः सम्प्रभु चीनी राष्ट्र और उसकी राष्ट्रीयता पर आघात था। इस व्यवस्था से चीन में यूरोपीय प्रभुत्व का आरंभ हुआ और धीरे-धीरे अन्य देशों ने भी चीन में राज्य क्षेत्रातीत अधिकार प्राप्त करने प्रारंभ कर दिये।

7.3.4 फ्रांस

अमेरिका के बाद अक्टूबर 1844 ई. में फ्रांस ने भी चीन के साथ संधि की। इस संधि के द्वारा फ्रांस को ब्रिटेन और अमेरिका की भांति ही सुविधायें प्राप्त हुईं साथ ही फ्रांस ने चीनी सम्राट को रोमन कैथोलिक प्रचारकों के लिए बंदरगाहों में गिरजाघर बनाने और उनके प्रति सहिष्णुता की नीति लागू करने की प्रार्थना की जिसे चीनी सम्राट द्वारा स्वीकार कर लिया गया। 1861 ई. में जब ब्रिटेन और चीन का युद्ध हुआ तो फ्रांस ने ब्रिटेन का साथ दिया और टींटसिन की संधि के फलस्वरूप् फ्रांस को अनेक सुविधाओं के साथ ही भारी धनराशि भी मिली। किंतु फ्रांस चीन के दक्षिण-पश्चिमी प्रांतों में व्यापार बढ़ाने के लिए किसी स्थान पर अधिकार जमाना चाहता था। अतः 1884 ई. में टांकिन और अनाम पर अधिकार कर लिया गया और कोचीन-चायना एवं अनाम को मिलाकर इण्डोचायना नाम से एक नये राज्य का निर्माण किया गया।

7.3.5 रूस

सन् 1828 ई. में रूस के जार ने चीन की आमूर घाटी में सर्वेक्षण प्रारंभ कराया और 1850 ई. में आमूर नदी के मुहाने पर निकोलाइवेस्क नामक शहर बसाया। 1853 ई. में चीन के सखालीन द्वीपों पर अधिकार जमाया गया और 1860 ई. में चीन के साथ ऐगून की सन्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप् रूस को चीन में आमूर नदी तक का सारा प्रदेश प्राप्त हो गया, यहीं पर ब्लाडीवोस्टक नामक बंदरगाह बनाया गया। सन् 1894-95 में हुए चीन-जापान युद्ध की क्षतिपूर्ति देने के लिए चीन ने रूस से काफी धन उधार लिया था, इसका लाभ उठाकर रूस ने अपने ब्लाडीवोस्टक बंदरगाह तक रेलवे लाइन बिछाने के लिए मंचूरिया से होकर गुजरने की अनुमति चीन से मांगी, जिसे चीन ने स्वीकार कर लिया इससे रूस को अब मंचूरिया में अपना प्रभुत्व जमाने का अवसर मिल गया। 1996 ई. में रूस ने चीन के साथ एक गुप्त संधि भी की जिसके तहत जापानी आक्रमण के समय चीन की मदद करना शामिल था। 1897 ई. में रूस ने चीन के पोर्ट आर्थर तथा तैलीवां पर अधिकार कर लिया और इनको चीन से पट्टे पर प्राप्त कर लिया।

7.4 जापान और पश्चिमी शक्तियां

यदि जापान के प्रारंभिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट पता चलता है कि जापान का प्रारंभिक इतिहास चीन के समान ही था, जापान ने भी चीन की भांति स्वंय को बाकी विश्व से अलग-थलग रक्खा था, लेकिन आगे चलकर यह अलग-थलग नहीं रह सका और पचिमी शक्तियों की लोलुप निगाहे। उस पर भी पड़ी। यद्यपि 1543 को ही प्रथम बार पुर्तगाल ने जापान में प्रवेश कर लिया था और फिर डच और स्पेन के लोग भी वहां पहुंचे लेकिन आगे चलकर इनके क्रियाकलापों के कारण 1614 ई. से जापान में इसाइयों तथा अन्य धर्मप्रचारकों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया और 1637 में दो आज्ञायें जारी कर जापान का दरवाजा विदेशियों के लिए पूर्णतः बंद कर दिया गया।

यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल पायी,19वीं सदी के प्रारंभ से ही अमेरिका अपने पश्चिमी तट के व्यापार के संवर्द्धन में जुट गया था और उसकी रूचि जापान में गयी,क्योंकि केलिफोर्निया के प्रशांत तट पर सोने के भंडार मिले थे और यह प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया था। इस स्थान तक पहुंचने के लिए समुद्र में अमेरिका को जापान होकर गुजरना सरल मार्ग था। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अमेरिकी सरकार ने कोमोडोर पैरी को लगातार 1853 और 1854 ई. में जापान भेजा।

1854 ई. में कोमोडोर पैरी जापान के साथ कनागावा की संधि करने में सफल हुआ। इस संधि के तहत अमेरिकी जहाजों को येडो के पास शिमोदा तथा उत्तरी द्वीप पर विद्यमान हाकोदाते बंदरगाह पर रसद और जहाजों की मरम्मत हेतु ठहरने की सुविधा मिली साथ ही शिमोदा में एक वाणिज्य दूतावास खोलने की अनुमति भी मिली। अब अमेरिका की देखादेखी अंग्रेज, रूसी तथा डच लोगों ने भी जापान के साथ संधियां की। अब इन चारों राज्यों को जापान में जो अधिकार मिले उनमें शिमोदा और हाकोदाते में वाणिज्य दूतावासों की स्थापना एवं दूतों की नियुक्ति, शिमोदा,हाकोदाते तथा नागासाकी में जहाजों के लिए रसद प्राप्त करने की सुविधा, नागासाकी में पुरूषों के रहने की सुविधा, इन बंदरगाहों में जापानी अधिकारियों के नियंत्रण में नियमानुसार व्यापार करना, और कुछ सीमित क्षेत्रातीत अधिकार भी मिले।

कोमोडोर पैरी से एक कदम आगे चलकर 1858 ई. में अमेंरिका के महावाणिज्य दूत टाउनसैण्ड हैरिस ने जापान तथा अमेरिका के मध्य एक नयी संधि को लागू करवाया, इस संधि के तहत अमेरिका के लिए चार नये बंदरगाह खुल गये और इस प्रकार अब अमेरिका के पास व्यापार करने के लिए सात बंदरगाह हो गये।संधि के तहत यह भी निर्धारित हुआ कि जापान अमेरिका से आयात और निर्यात के लिए केवल पांच प्रतिशत कर लेगा और विदेशी मुद्रा भी विनिमय के लिए उपयोग की जा सकेगी। शीघ्र ही ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस ने भी जापान के साथ इस प्रकार की संधियां की।

चूंकि पश्चिमी शक्तियों ने ये संधियां वहां के शोगुन के साथ की थी अतः जापान में इन संधियों के कारण शोगुन का विरोध होना प्रारंभ हो गया और इसे शोगुन द्वारा अपने अधिकारों का दुरूपयोग बतलाया गया और कहा गया कि शोगुन द्वारा की गयी संधियों की पुष्टि जापानी सम्राट से होनी चाहिए।

इसके बाद का इतिहास शोगुन सम्प्रदाय और सम्राट के संघर्ष और शोगुन सम्प्रदाय की समाप्ति और जापान द्वारा अपनी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर तेजी से विकास का है। मेइजी काल में जापान का तेजी से विकास हुआ और वह यूरोपीय देशों की भांति ही एक विकसित राज्य बन गया।

7.5 अफ्रीका का बंटवारा

यूरोपीय देशों की लोलुप निगाहों से अफ्रीका भी नहीं बच पाया और यूरोपीय देशों ने अफ्रीका में अपने साम्राज्यीय विस्तार को फेलाना आरंभ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों ने अफ्रीका के अलग-अलग भाग में अधिकार कर लिया,इतिहास में इसे अफ्रीका का बंटवारा की संज्ञा दी गयी है।

1876 ई. में सबसे पहले बेल्जियम के शासक लियोपोल्ड द्वितीय ने अफ्रीका में अपनी रूचि दिखाई और शीघ्र ही कांगो के एक विशाल क्षेत्र में अधिकार जमाकर वहां अपना राज्य स्थापित कर लिया। यहीं से अफ्रीका का बंटवारा प्रारंभ हुआ और फ्रांस,पुर्तगाल,इटली,ब्रिटेन और जर्मनी भी इस काम में लग गये। यह ध्यान देने योग्य है कि पूरे अफ्रीका को यूरोपीय देशों ने बड़ी शीघ्रता से मात्र पच्चीस-तीस वर्षों में बिना किसी युद्ध किये ही आपस में बांट लिया था हांलाकि थोड़े-बहुत तनाव हुए लेकिन आपसी समझ से उन्हैं सुलझा लिया गया।यह भी महत्वपूर्ण है कि स्थानीय शासकों या सरदारों ने इसका कोई विरोध नहीं किया। अफ्रीका की इस लूट में किस यूरोपीय ने क्या प्राप्त किया अब जरा इसे समझते हैं।

7.5.1 बेल्जियम

जैसा कि बताया गया कि बेल्जियम इस लूट में सबसे पहले कूदा था अतः अन्य राष्ट्र भी कांगो के अलग-अलग भागों में अपने अधिकार की मांग करने लगे।इस समस्या को 1884 ई. में बर्लिन समझौते से सुलझाने का प्रयास किया गया लेकिन 1885 में बेल्जियम ने बर्लिन एक्ट का उल्लंघन करते हुए कांगो में अपना अधिकार स्थापित कर लिया।यह कांगो फ्री स्टेट राज्य बेल्जियम के आकार से दस गुना बड़ा था और अपने रबर के लिए प्रसिद्ध था।अब यह बेल्जियम का एक उपनिवेश बना दिया गया।

7.5.2 फ्रांस

सर्वप्रथम फ्रांस ने 1847 ई. को अल्जीरिया में अपना अधिकार स्थापित किया। अल्जीरिया के बगल में स्थित ट्यूनिस पर फ्रांस ने बिस्मार्क के सहयोग से 1881 ई. में अधिकार जमा लिया और फिर गायना,आइवरी कोस्ट, फ्रेंच कांगो तथा सहारा के रेगिस्तान में भी अधिकार स्थापित किया गया। 1904 ई. में मिस्र तथा मोरक्को के संबंध में ब्रिटेन से एक समझौता कर उनको अधिगृहित किया गया।

7.5.3 ब्रिटेन

अफ्रीका की लूट में सबसे अधिक फायदा इंग्लैण्ड को हुआ था। अफ्रीका में उसके पास काहिरा से लेकर उत्तमाशा अंतरीप तक के भू-भाग शामिल थे। इनमें मिस्र,सूडान,दक्षिण अफ्रीका,रोडेशिया,केन्या,युगाण्डा,नाइजीरिया,गोल्ड कोस्ट,नेटाल,ट्रांसवाल तथा उत्तमाशा अंतरीप सम्मिलित थे।

7.5.4 जर्मनी

जर्मनी अपनी भैगोलिक परिस्थिति के कारण पहले उपनिवेश स्थापित करने में रूचि नहीं लेता था परंतु जर्मनी के पूंजीपतियों और मध्यम वर्ग के दबाव में जर्मनी भी उवनिवेश स्थापना की दौड़ में कूद गया। व्यक्तिगत प्रयत्नों के बल पर अफ्रीका के एंग्रा पेक्वेना ,केमरून और टोगोलैण्ड पर अधिकार स्थापित किये गये। 1884 ई. में जंजीबार का अधिग्रहण किया गया और सोमालीलैण्ड में कब्जा जमाया गया।

7.5.5 इटली

अफ्रीका की लूट में इटली देर से पहुंचा फलतः उसे अधिक स्थान नहीं मिल सका। उसने इरीट्रिया के क्षेत्र में अधिकार जमाया और आगे चलकर ट्रिपोली तथा साइरीनिका(लीबिया)पर भी अधिकार स्थापित किया।

7.5.6 पुर्तगाल

पुर्तगाल को भी अफ्रीका की लूट में हिस्सा मिला। उसने पश्चिमी तट पर अंगोला का उपनिवेश स्थापित किया और पूर्वी तट पर मोजाम्बिक का उपनिवेश बसाया।

7.5.7 स्पेन

स्पेन ने भी अफ्रीका के बंटवारे में उत्तर-पश्चिम तट के कुछ प्रदेशों में अपना अधिकार स्थापित किया।

7.6 प्रथम महायुद्ध

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में यूरोपीय देशों ने अपनी उपनिवेशवादी नीति के चलते पूरे विश्व में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था किंतु यह विजय स्थायी नहीं थी और जर्मनी जैसे राष्ट्र जो इस दौड़ में बाद में शामिल हुए ,अब विश्व का पुनः बंटवारा चाहते थे। बीसवीं सदी के प्रारंभ में विश्व की स्थिति अत्यंत तनावपूर्ण थी। सभी देश अधिकाधिक शक्तिशाली बनने की होड़ में शस्त्र इकठ्ठे कर रहे थे।गुप्त समझौतों के कारण विश्व दो गुटों में बंट चुका था।कुछ ऐसी घटनाऐं हुईं थीं जिनसे राष्ट्रों के बीच दूरियां बढ़ गयीं। इन धटनाओं में फ्रांस-प्रशा युद्ध,बल्गेरिया का प्रश्न,रूस-जर्मनी विवाद,पूर्व की समस्या,मोरक्को संकट,बोस्निया संकट,सेराजिवो का हत्याकाण्ड प्रमुख हैं।आइये अब इस महायुद्ध के कारणों को जानने का प्रयास करें।

7.6.1 राष्ट्रीयता की भावना

इस काल में राष्ट्रीयता की भावना अपने चरम में थी। उग्र राष्ट्रवाद के कारण तेजी से मतभेद उत्पन्न होने लगे थे। 1871 ई. के बाद फ्रांस में यह मांग तेजी से बढ़ी की अल्सास व लारेन के प्रदेशों को फ्रांस में शामिल किया जाना चाहिए। इसी प्रकार इटली में इरैडेन्टिस्ट नामक आंदोलन ट्रेन्टिनो तथा ट्रीस्ट के प्रदेशों को इटली में शामिल करने के लिए चलाया गया हांलाकि उसके इस कृत्य से आस्ट्रिया के साथ उसके संबंध तनावपूर्ण हो गये।सर्बिया के लोग वृहत्तर बाल्कन राष्ट्र बनाने के लिए प्रतिबद्ध हो रहे थे।रूस इस समय स्लाववाद को लेकर राजनीति कर रहा था इसके विरूद्ध जर्मनी, अखिल जर्मनवाद को बढ़ावा दे रहा था। 'एक राष्ट्रीयता एक राज्य' का विचार तेजी से चल निकला था और यह मांग बलवती हो रही थी कि यूरोप के मानचित्र का पुनः निर्धारण हो। वस्तुतः उग्र राष्ट्रीयता की इस भावना ने इस महायुद्ध के एक प्रमुख कारक की भूमिका निभाई थी।

7.6.2 कूटनीतिक संधियां

बिस्मार्क ने फ्रांस को हराने के बाद जर्मनी की सुरक्षा के लिए आस्ट्रिया तथा इटली से गुप्त संधियां की और एक त्रिगुट का निर्माण किया, इसके विरूद्ध फ्रांस ने भी अपनी सुरक्षा के लिए इंग्लैण्ड तथा रूस के साथ संधियां कर ट्रिपल एतान्त नामक गुट का गठन किया। इन गुटों के बनने से अजीब सी स्थिति हो गयी। अब एक राज्य को अपने मित्र के सहयोग के लिए ऐसी कार्रवाही करनी पड़ रही थी जिसमें उसका कोई लेना-देना नहीं था। अतः इन संधियों ने यूरोप को दो गुटों में विभाजित कर दिया और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी की यदि कोई भी युद्ध होता तो समस्त यूरोप उसमें शामिल हो जाता और यही हुआ भी।

7.6.3 सैन्यवाद

उन्नीसवीं सदी के दूसरे भाग में यूरोप में सैन्यवाद तेजी से बढ़ा था और अस्त्र-शस्त्रों की होड़ प्रारंभ हो गयी थी। नवोदित जर्मनी ने इस काल में तेजी से अपनी नौ-सैनिक शक्ति बढ़ायी तो इंग्लैण्ड ने इसे अपने लिए चुनौती समझा और फलस्वरूप सैन्य प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी। शीघ्र ही अन्य देश भी इस दौड़ में कूद गये।1914 ई. तक जर्मनी के पास आठ लाख पचास हजार सैनिक थे जबकि लगभग पचास लाग लोग सेना का प्रशिक्षण प्राप्त थे। फ्रांस, रूस, इंग्लैण्ड सभी ने अपने-अपने सैनिकों में वृद्धि करनी शुरू कर दी थी। सैन्यवाद और शस्त्रीकरण के कारण यूरोप के बड़े-बड़े गुट परस्पर विरोधी और शक्तिशाली युद्ध शिविरों में बंट गये थे।

7.6.4 साम्राज्यवाद एवं आर्थिक प्रतिद्वन्दिता

उन्नीसवीं सदी के अंत तक अफ्रीका का बंटवारा हो गया था जिसमें सबसे अधिक भाग इंग्लैण्ड तथा फ्रांस को मिला था। चूंकि जर्मनी औपनिवेशिक दौड़ में बहुत बाद में शामिल हुआ अतः उसे बहुत कम क्षेत्र मिला ,जिसके कारण वह असंतुष्ट था।बीसवीं सदी के प्रारंभ में जर्मनी तथा इंग्लैण्ड की व्यापारिक प्रतिद्वंदिता इतनी बढ़ गयी कि दोनों देशों के राजनीतिज्ञ और उद्योगपति एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करने लगे। बाल्कन में रूस तथा आस्ट्रिया के आर्थिक हित टकरा रहे थे जिससे उनके बीच तनाव बढ़ गया। सुदूर पूर्व और चीन में आर्थिक और राजनीतिक लाभ

के लिए आपस में किये गये कृत्यों के कारण एक-दूसरे के प्रति घृणा और अविश्वास का माहौल बना जिसने भविष्य के संघर्ष के लिए आधार प्रदान किया।

7.6.5 अराजकता में वृद्धि

बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही ऐसी घटनाऐं होने लगीं थीं जिनके कारण अंतर्राष्ट्रीय माहौल बिगड़ने लगा। 1904-05 ई. में हुए रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय और उसकी कमजोरी का फायदा उठाते हुए जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस को चुनौती दी, इससे अंतर्राष्ट्रीय तनाव में बढ़ोत्तरी हुई।इसी प्रकार 1911 ई. में फेज के विद्रोह को दबाने के लिए जब फ्रांस ने अपनी सेना भेजी तो जर्मनी ने इसका विरोध किया और अपना युद्धपोत भेज दिया हांलाकि इंग्लैण्ड के दबाव में जर्मनी को हटना पड़ा। इस तनाव के कारण इंग्लैण्ड और जर्मनी के संबंधों में कड़वाहट और बढ़ गयी।1908-09 ई. में बोस्निया-हर्जीगोविना को ऑस्ट्रिया द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिया गया इससे रूस और इटली के संबंध ऑस्ट्रिया से बिगड़ गये।1912-13 ई. में हुए बाल्कन युद्धों के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय माहौल अत्यधिक बिगड़ गया।इन युद्धों के कारण सैन्यवाद और शस्त्रीकरण की दौड़ तेजी से बढ़ने लगी।

7.6.6 समाचार पत्रों की भूमिका

इस काल के समाचार पत्रों को यदि देखा जाय तो स्पष्ट है कि उन्होंने उग्र राष्ट्रीयता की भावना के चलते घ्टनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जिससे जनसाधारण की उत्तेजना बढ़ती गयी और समझौते करने कठिन हो गये। विशेषकर जर्मनी और इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों में एक-दूसरे के प्रति कड़े आरोप-प्रत्यारोप और कड़वाहट देखने को मिलती है।

7.6.7 अंतर्राष्ट्रीय संस्था का अभाव

इस समय विश्व में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जिसके माध्यम से विभिन्न देश आपस में बातचीत कर अपने मसले सुलझा लेते। अंतर्राष्ट्रीय कानून और सदाचार की संहिता थी लेकिन प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुविधा के अनुसार इसका अनुसरण करते थे क्योंकि इसके कानूनों को लागू करने वाली कोई शक्ति नहीं थी।अतः किसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था के अभाव में किसी देश में कोई अंकुश नहीं था और सभी देश स्वेच्छाचारिता से व्यवहार कर रहे थे।

7.6.8 तात्कालिक कारण

1914 ई. तक ऑस्ट्रिया और सर्बिया के संबंध तनाव की चरम सीमा तक पहुंच गये थे। 28 जून 1914 ई. में जब ऑस्ट्रिया का युवराज आर्क ड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेण्ड बोस्निया के सेराजिवो नामक नगर में सेना के वार्षिक निरीक्षण में आया तो उसकी और उसकी पत्नी की हत्या कर दी गयी। इस घटना ने यूरोप में महायुद्ध का बिगुल बजा दिया।

7.7 विश्वयुद्ध के प्रभाव

प्रथम विश्वयुद्ध चार वर्ष तीन माह ग्यारह दिन तक चला, इस युद्ध में तीस देशों के लगभग साढ़े छह करोड़ सैनिकों ने भाग लिया और लगभग अस्सी लाख सैनिक मारे गये और लगभग दो करोड़ सैनिक घायल हुए। इस युद्ध में दस खरब रूपया प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुआ और विभिन्न देशों को कुल मिलाकर लगभग चालीस हजार मिलियन पौण्ड का

आर्थिक भार उठाना पड़ा। व्यापार को भारी मात्रा में हानि पहुंची थी और तेजी से मुद्रा प्रसार हुआ था। 18 जनवरी 1919ई. को पेरिस का शान्ति सम्मेलन हुआ और वार्साई की संधि की गयी। वार्साई की संधि कठोर, अपमानजनक संधि थी,जिसे जर्मनी ने मजबूर होकर स्वीकार किया और आगे चलकर इस संधि की सभी धाराओं का एक-एक कर परित्याग कर दिया। इसके बावजूद भी इस संधि द्वारा राष्ट्रसंघ जैसी संस्था की स्थापना हुई थी।

7.8 रूसी क्रांति

यदि तत्कालीन रूस को देखें तो स्पष्ट है कि रूस संसार का सबसे बड़ा राज्य था,पूरे विश्व का छठा भाग रूस के अंतर्गत आता था। समाज तीन वर्ग में विभाजित था-कुलीन वर्ग,मध्यम वर्गऔर किसान-मजदूर वर्ग। उसकी जनसंख्या लगभग 18 करोड़ थी,जन सामान्य अशिक्षित था और तुलनात्मक रूप से पिछड़ा हुआ था। चर्च का प्रभाव जनता पर अत्यधिक था।

रूस के शासक को जार कहा जाता था, वे सभी बड़े निरंकुश थे। 19वीं सदी तक जबकि सारे यूरोप में उत्तरदायित्वपूण शासन की स्थापना हो चुकी थी रूस के जार अभी भी निरंकुश थे,यद्यपि जनता लगातार ड्यूमा का चुनाव और सुधारों की मांग कर रही थी और उसका विरोध बढ़ता जा रहा था लेकिन जार निरंतर ड्यूमा के प्रभाव को कुचलने का प्रयास कर रहे थे।

रूस उस समय एक कृषि प्रधान देश था लेकिन किसानों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। 1905 ई. में यूक्रेन के दक्षिण-पश्चिमी भाग,काकेशस,पोलैण्ड तथा वोल्गा नदी के क्षेत्रों में किसानों के विद्रोह हुए और इसी वर्ष उन्होंने मास्को में कृषक संघ का भी निर्माण किया। रूस में मजदूरों में भी पर्याप्त असंतोष था। यद्यपि 1885 ई. में कुछ श्रमिक कानून बने थे लेकिन उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और मजदूरों की दशा दिन पर दिन बदतर हो रही थी।अपनी स्थिति सुधारने के लिए ये मजदूर पूंजीवादी व्यवस्था एवं जारशाही को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग का शासन स्थापित करना चाहते थे। समाज भी इस समय तक दो वर्गों में बंट चुका था। एक वर्ग बहुत धनी था और उसके पास सब कुछ था जबकि दूसरा निर्धन और दाने-दाने के लिए मोहताज था। इन्हीं सब कारणों से रूस में असंतोष बढ़ता जा रहा था।

इन परिस्थितियों में देश की दशा सुधारने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति सरकार द्वारा बनायी गयी लेकिन यह अपने कार्य में असफल रही और 7 मार्च 1917 ई. को स्थिति हाथ से निकल गयी जब ठण्ड और भूख से बेहाल मजदूरों ने पेट्रोगाड में दूकानों को लूटना आरंभ कर दिया,जब सिपाइयों को इन्हें रोकने का आदेश दिया गया तो उन्होंने गोली चलाने से मना कर दिया,यह क्रांति का आरंभ था। अगले दिन पेट्रोगाड की महिला मजदूरों ने हड़ताल कर दी और 9 मार्च को पुरूष मजदूर भी उनके साथ आ गये, उन्होंने एक जलूस निकाला जिसमें 'रोटी दो' और 'अत्याचारी शासन का नाश हो' के नारे लगाये गये। 10 मार्च 1917 को पेट्रोगाड के सभी कारखनों में हड़ताल की गयी। जार ने प्रदर्शनकारियों को दण्डिज करने के लिए सेना भेजी पर सैनिकों ने प्रदर्शनकारियों का साथ दिया। अब स्थिति भयावह हो गयी थी, 11 मार्च को जार ने ड्यूमा को भंग कर दिया,12 मार्च को सैनिक टुकड़ियां अपने अधिकारियों के आदेश का उल्लंघन कर विद्रोहियों से मिल गयीं। विद्रोहियों और सैनिकों ने मिलकर एक क्रांतिकारी परिषद बनाई और 14

मार्च को क्रांतिकारी पषिद और ड्यूमा के सदस्यों की समिति ने अस्थायी सरकार की स्थापना की ,15 मार्च 1917 को जार निकोलस द्वितीय ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। इस प्रकार राज्य क्रांति सफल हुई।

यद्यपि राज्य क्रांति सफल हो गयी थी और जारशाही का अंत हो गया था किंतु जो नई अस्थायी सरकार बनी थी उसमें नेतृत्व कुलीन और मध्यम वर्ग के हाथ में चला गया था और किसानों तथा मजदूर जिन्होंने क्रान्ति को क्रियान्वित किया था उनका सरकार में कोई प्रभाव नहीं था। अस्थायी सरकार ऐसी व्यवस्था चाहती थी जो उदार हो और जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ ही व्यक्तिगत संपत्ति की गारंटी भी हो लेकिन सर्वहारा वर्ग का मानना था कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाये,बड़ी भू-संपत्तियों का अधिग्रहण कर उसे किसानों में बांट दिया जाये और विदेशों में चल रहे युद्धों को समाप्त कर दिया जाये।

इन्हीं परिस्थितियों में जून में पेट्रोगाड सोवियत ने अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस का अधिवेशन आयोजित किया जिसमें बोल्शेविक,मेन्सेविक और क्रांतिकारी समाजवादी दलों के लोगों ने प्रतिभाग किया। इस अधिवेशन में तीन सौ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति बनाई गयी पर वास्तविक शक्ति बीस सदस्यों के प्रेसीडियम को दे दी गयी,जिसमें मेन्सेविक और क्रांतिकारी समाजवादी दल के लोगों का प्रतिनिधित्व था, इसका बोल्शेविकों ने विरोध किया।

देश में व्याप्त अराजकता और देश के बाहर लगातार पराजय के कारण रूस में अस्थायी सरकार के प्रति विश्वास खत्म हो रहा था।इन परिस्थितियों में किसान बोल्शेविकों के पक्ष में चले गये जिन्होंने उन्हें भूमि के मालिकाना हक दिलाने का वादा किया था। बोल्शेविक रूस में सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा सत्ता प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने पोलिट ब्यूरो का गठन किया और बोल्शेविक नेता ट्राटस्की ने पेट्रोग्राड सोवियत की एक सैनिक क्रान्तिकारी समिति बनायी और क्रांति की तैयारियां करने लगे और 7 नवबंर 1917 ई. को क्रांति का दिन निश्चित किया गया। 5 नवंबर 1917 ई. को अस्थायी सरकार के प्रमुख करेन्स्की ने बोल्शेविक नेताओं को कैद करने की आज्ञा जारी की ,लेकिन बोल्शेविकों की क्रांति की तैयारी पूरी थी अतः 6-7 तारीख की रात को उन्होंने रेलवे स्टेशन, बैंक, पोस्ट ऑफिस, टेलीफोन एक्सचेंज आदि पर अधिकार कर लिया और 7 नवंबर की प्रातः मजदूरों, सैनिकों और नौ-सैनिकों को लेकर पेट्रोग्राड के जार के महल पर अधिकार कर अस्थयी सरकार के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया हांलाकि केरेन्स्की भागने में सफल रहा। क्रांति सफल हुई थी और रूस को 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र घोषित कर दिया गया।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्नलिखित में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. 29 अगस्त ..... ई. में नानकिंग की संधि हुई।
2. 1858 ई. में चीन को .....की संधि के लिए मजबूर किया।
3. रूस के जार ने 1850 ई. में आमूर नदी के मुहाने पर .....नामक शहर बसाया।
4. 1854 ई. में कोमोडोर पैरी जापान के साथ .....की संधि करने में सफल हुआ।
5. 1885 में कांगो फ्री स्टेट .....का एक उपनिवेश बना।
6. 1904-05 ई. में हुए रूस-जापान युद्ध में .....की पराजय हुई।

7. इरैडेन्टिस्ट नामक आंदोलन .....के प्रदेशों को इटली में शामिल करने के लिए चलाया गया।

8. 28 जून 1914 ई. को ऑस्ट्रिया के युवराज .....की बोस्निया के सेराजिवो नामक नगर में हत्या कर दी गयी।

9. 1908-09 ई. में .....को ऑस्ट्रिया द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिया गया था।

10. 15 मार्च 1917 को जार .....ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया।

4.9 सारांश

1557 ई. तक पुर्तगालियों ने चीन के मकाओ प्रायद्वीप में अपनी बस्ती बना ली थी। पुर्तगालियों के पश्चात धीरे-धीरे अन्य यूरोपीय देशों के व्यापारी भी चीन पहुंचने लगे। 1575ई. में स्पेन, 1604 ई. में डच,1637 ई. में अंग्रेज, 1698 ई. में फ्रांसीसी, 1731 ई. में डेनमार्क और 1732 ई. में स्वीडन के व्यापारी भी चीन में घुसने में कामयाब हो गये।यूरोपीय राष्ट्रों को चीन की आंतरिक कमजोरी का पता चल गया। चीन की इस कमजोरी का लाभ उठाकर यूरोपीय राष्ट्रों ने चीन के बाहरी प्रदेशों में अपना आधिपत्य जमा दिया।

1854 ई. में कोमोडोर पैरी जापान के साथ कनागावा की संधि करने में सफल हुआ। इस संधि के तहत अमेरिकी जहाजों को येडो के पास शिमोदा तथा उत्तरी द्वीप पर विद्यमान हाकोदाते बंदरगाह पर रसद और जहाजों की मरम्मत हेतु ठहरने की सुविधा मिली साथ ही शिमोदा में एक वाणिज्य दूतावास खोलने की अनुमति भी मिली। अब अमेरिका की देखादेखी अंग्रेज, रूसी तथा डच लोगों ने भी जापान के साथ संधियां की।इसके बाद का इतिहास शोगुन सम्प्रदाय और सम्राट के संघर्ष और शोगुन सम्प्रदाय की समाप्ति और जापान द्वारा अपनी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर तेजी से विकास का है। मेइजी काल में जापान का तेजी से विकास हुआ और वह यूरोपीय देशों की भांति ही एक विकसित राज्य बन गया।

यूरोपीय देशों की लोलुप निगाहों से अफ्रीका भी नहीं बच पाया और यूरोपीय देशों ने अफ्रीका में अपने साम्राज्यीय विस्तार को फेलाना आरंभ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों ने अफ्रीका के अलग-अलग भाग में अधिकार कर लिया,इतिहास में इसे अफ्रीका का बंटवारा की संज्ञा दी गयी है।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में विश्व की स्थिति अत्यंत तनावपूर्ण थी। सभी देश अधिकाधिक शक्तिशाली बनने की होड़ में शस्त्र इकठ्ठे कर रहे थे।गुप्त समझौतों के कारण विश्व दो गुटों में बंट चुका था।कुछ ऐसी घटनाऐं हुईं थीं जिनसे राष्ट्रों के बीच दूरियां बढ़ गयीं और अंततः सेराजिवो के हत्याकाण्ड की चिंगारी ने विश्वयुद्ध प्रारंभ कर दिया।प्रथम विश्वयुद्ध चार वर्ष तीन माह ग्यारह दिन तक चला, इस युद्ध में तीस देशों के लगभग साढ़े छह करोड़ सैनिकों ने भाग लिया और लगभग अस्सी लाख सैनिक मारे गये और लगभग दो करोड़ सैनिक घायल हुए। इस युद्ध में दस खरब रूपया प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुआ और विभिन्न देशों को कुल मिलाकर लगभग चालीस हजार मिलियन पौण्ड का आर्थिक भार उठाना पड़ा।

रूस उस समय एक कृषि प्रधान देश था लेकिन किसानों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। में यूक्रेन के दक्षिण-पश्चिमी भाग,काकेशस,पोलैण्ड तथा वोल्गा नदी के क्षेत्रों में किसानों के विद्रोह हुए और उन्होंने मास्को में कृषक संघ का भी

निर्माण किया। रूस में मजदूरों में भी पर्याप्त असंतोष था। यद्यपि 1885 ई. में कुछ श्रमिक कानून बने थे लेकिन उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और मजदूरों की दशा दिन पर दिन बदतर हो रही थी।अपनी स्थिति सुधारने के लिए ये मजदूर पूंजीवादी व्यवस्था एवं जारशाही को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग का शासन स्थापित करना चाहते थे। समाज भी इस समय तक दो वर्गों में बंट चुका था। एक वर्ग बहुत धनी था और उसके पास सब कुछ था जबकि दूसरा निर्धन और दाने-दाने के लिए मोहताज था। इन्हीं सब कारणों से रूस में असंतोष बढ़ता जा रहा था।7 नवंबर 1917 ई. की प्रातः मजदूरों, सैनिकों और नौ-सैनिकों को लेकर पेट्रोग्राड के जार के महल पर अधिकार कर अस्थयी सरकार के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया हांलाकि केरेन्स्की भागने में सफल रहा। क्रांति सफल हुई थी और रूस को 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र घोषित कर दिया गया।

7.10 शब्दावली

अफीम: एक नशीला पदार्थ

पट्टा: निश्चित अवधि के लिए किराये पर लेना।

ट्रिपल एतान्त: प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान यह फ्रांस,इंग्लैण्ड और रूस का गुट था।

ड्यूमा: रूसी संसद

7.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. 1842
2. टींटसिन
3. निकोलाइवेस्क
4. कनागावा
5. बेल्जियम
6. रूस
7. ट्रेन्टिनो तथा ट्रीस्ट
8. आर्क ड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेण्ड
9. बोस्निया-हर्जीगोविना
10. निकोलस द्वितीय

7.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. विश्व का इतिहास 1500-1950: जैन एवं माथुर, जैन पुस्तक मंदिर, चौड़ा रास्ता, जयपुर।
2. आधुनिक पश्चिम का उदय - पार्थसारथि गुप्ता
3. ए हिस्ट्री आफ वर्ल्ड सिविलाइजेशन - जे0ई0 स्वेन
4. द आउट लाइन आफ हिस्ट्री - एस0जी0 वेल्स
5. हेज, सी.जे.एच.-ए पोलिटिकल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ मार्डन यूरोप, भाग 1एवं 2

7.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. यूरोपीय साम्राज्यवाद पर एक निबंध लिखिए।
2. यूरोपाय देशों ने अफ्रीका का बंटवारा कैसे किया। इस बंटवारे में सबसे अधिक लाभ किसे हुआ?
3. प्रथम विश्व युद्ध के क्या कारण थे?

इकाई आठ

चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद, जापान: आधुनिक राज्य से साम्राज्यवादी शक्ति की ओर

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 चीन में और दक्षिण-पूर्व एशिया उपनिवेशवाद

8.3.1 पृष्ठभूमि चीन का पश्चिमी देशों से संपर्क

8.3.1.1 केंटन व्यवस्था

8.3.2 अफ़ीम युद्ध

8.3.3 साम्राज्यवादी नीतियाँ और चीन की लूट

8.3.3.1 मोस्ट फेवर्ड नेशन क्लॉज़

8.3.3.2 खुले द्वार की नीति

8.3.4 कोरिया में उपनिवेशवाद

8.3.5 इंडोनेशिया में उपनिवेशवाद

8.3.6 इंडो-चाइना में औपनिवेशीकरण

8.4 जापान आधुनिक राज्य से साम्राज्यवादी शक्ति की ओर

8.4.1 पश्चिम से संपर्क

8.4.2 मिजी सुधार (1868ई.-1912ई.) (फुकोकु-क्योहेई) समृद्ध देश-मजबूत सेना

8.4.3 साम्राज्यवादी जापान

8.4.4 जापानी साम्राज्यवाद का पतन

8.5 सारांश

8.6 शब्दावली

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.8 अध्ययन सामग्री

8.9 संदर्भ ग्रंथावली

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

8.1.1 प्रस्तावना

इससे पहले की हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद की बात करें हमारे लिए यह जरुरी है की हम जाने की आधुनिक युग में पश्चिमी देश उपनिवेशीकरण और साम्राज्यवाद के लिए क्यों लालायित थे। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में यह साफ़ दिखता है कि पश्चिमी देशों का उपनिवेशीकरण तीव्र गति से विश्व के कोने-कोने में फैला, इसके मूल में पश्चिमी देशों में बीती हुई सदियों में हुए कृषि विकास, सामाजिक सुधार, वैज्ञानिक क्रांति, और औद्योगीकरण था, जिसके चलते यूरोपीय देशों का तीव्र विकास हुआ।

मार्क्सवादी सिद्दांतों को जीवंत रूप देने वाले व्लादिमीर लेनिन ने अपनी कृति'इम्पेरीअलिज्म दी हाइयेस्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज़म' में यह कहा है कि पूंजीवाद में निहित अवसरवादी प्रवति का विस्तार ही साम्राज्यवाद था। यूरोप के बाज़ार मुनाफे के लिए अन्धाधुन्ध उत्पादन से भर गए थे, लेकिन मांग न होने से उत्पादित वस्तुओं से लाभ होने की सम्भावनायें नहीं थी। इसलिए पूंजी का निवेश ऐसे बाजारों में करना जरुरी हो गया था जहाँ मांग हो तथा प्रतिस्पर्धा में कोई न हो। साथ ही अधिक से अधिक मुनाफे के लिए सस्ते माल, भूमि, और श्रम चाहिए थे। साम्राज्यवादी देशों ने इसका उपाय विश्व के उपनिवेशीकरण में पाया, जहाँ वो परम्परागत उद्योगधंधों को बंद करा कर, अपने कारखाने और उससे से उत्पादित वस्तुओं को मुनाफे के लिए बेचें, उन्होंने इस तरह अपने उपनिवेशों को राजनैतिक और आर्थिक रूप से अपंग कर अपने लिए नए बाज़ार पैदा किये जिसके लिए उन्होंने पश्चिमी संस्कृति की वर्चस्वता का मानस तैयार किया। उनकी राजनीति और विचारधाराएंउनके पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का ही अमल/कार्यान्वयन थी। अपनी नस्ल और राष्ट्र की श्रेष्ठता के मनोभाव से भी ग्रसित होने के कारण नए और ज्यादा से ज्यादा उपनिवेश कब्जे में करना, उनके लिए शक्ति और गौरव का विषय बन गया। इसके अलावा यूरोपीय राष्ट्र 'वाइट मेन्स बर्डन' के नाम पर अपने कब्ज़े और कू-शासन को वैध मनवाना चाहते थे, इसके लिए 'सोशल डार्विनिसम' के तर्क को आधार बना कर वह विश्व की संपदा पर विश्व के सबसे सक्षम लोगों का, सही उपयोग करने की क्षमता और अधिकार की बात कर,अपने उपनिवेशीकरण को जायज़ ठहराते थे। वास्तव में पूंजीवादियों के सिंडिकेट/व्यवसायसंघ ही देश की सत्ता और राजनीति चलाने लगे थे, विकास के नाम पर युद्ध, क्षेत्र विस्तार और लोगों का दमन होने लगा था। व्यापारिक कंपनियों ने भी सबसे पहले आर्थिक हितों को धयान में रखते हुए, व्यापारिक केन्द्रों, बंदरगाहों और मार्गों को हड़पा। यह कहा जा सकता है की पूंजीवाद के चलते ही सैनिक, आर्थिक और वैचारिक तरीकों से पूंजीवादी राष्ट्रों ने विश्व का उपनिवेशीकरण किया।

प्रस्तुत इकाई के पहले खंड में हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेश एवं साम्राज्यवादी प्रक्रिया और दमन की चर्चा करेंगे, तो दूसरे खंड में जापान के आधुनिकरण और साम्राज्यवाद की चर्चा करेंगे. इनके विरोध में हुए आन्दोलनों एवं राष्ट्रवाद के उदय की चर्चा हम अगली इकाई में करेंगे।

8.2 उद्देश्य

- हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशी और साम्राज्यवादी देशों की राजनैतिक और आर्थिक नीति को समझेंगे।

- हम चीन और दक्षिण पूर्व के अन्य देशों की पारम्परिक राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं के बदलने के कारण और परिणाम की चर्चा कर सकेंगे।
- हम समाज और संस्कृति पर उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के असर को जान पाएंगे।
- हम जापान पर साम्राज्यवादी राष्ट्रों के संपर्क के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- हम जापान में मिजी सुधारों के महत्व को समझ पाएंगे।
- हम जापान की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं के बदलने के महत्व को समझ पाएंगे।
- हम जापान के आधुनिकीकरण और सैनिक शक्ति का मूल्यांकन कर पाएंगे।

8.3 चीन और दक्षिण-पूर्वएशिया में उपनिवेशवाद

8.3.1 पृष्ठभूमि: चीन का पश्चिमी देशों से संपर्क

चीन में साम्राज्यवादी शक्तियों के हस्तक्षेप का कारण उनके आर्थिक हित थे। सोलहवीं सदी में पुर्तगाल ने चीन के साथ रेशम और चाय का व्यापार शुरू करदिया था। डच और अंग्रेज़ भी पीछे-पीछे चीन में व्यापार करने पहुँच गए।मंचू वंश के अधीन चीन की अर्थव्यवस्था विश्व व्यापार का केंद्र बनी हुई थी, चीन की चाय, रेशम और प्रोसलिन की यूरोपीय बाज़ार में जबरदस्त मांग थी। ब्रिटिश यहाँ केवल आयातक की भूमिका में थे,

8.3.1.1 केंटन व्यवस्था

(1757 ई०द्1842 ई०सिंगल पोर्ट कॉमर्स सिस्टम)रूचीन में विदेशियों के साथ व्यापार को व्यवस्थित करने के लिए चीनी सत्ता ने सारे व्यापार को केंटन के दक्षिण पोत में केन्द्रित कर दिया। 1757 ई०में बाहरी शक्तियों से अपने राजनैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए, चीन के सम्राट ने यह व्यवस्था कायम की थी। यहाँ पर्ल नदी के किनारे केंटन से बाहर 13 कारखाने थे, 1760 ई० में तत्कालीन सम्राट के आदेश से यह 13 कारखाने 'कोहोंग'नाम से एकाधिकार इकाई बन गयी। उसके बाद से किसी भी चीनी व्यापारी को अगर समुंद्री व्यापार करना होता था, तो वह 'कोहोंग' के माध्यम से ही कर सकता था।विदेशी कम्पनियों को चीन से व्यापार करने के लिए कोमप्राडोर की मध्यस्ता की जरुरत होती थी, कोमप्राडोर की पोत-नगरों में प्रमुख हैसियत होती थी। वह विदेशियों के लिए रेशम, चाय, यार्न,कपास इत्यादि खरीदते और बेचते थे और वह बैंकों में भी कार्यरत होते थे। इनके बिना विदेशियों के लिए यहाँ व्यापार करना संभव न था।

यह व्यापार चीन के फायदे का था, दुनिया की चांदी चीन में आ रही थी। ऊपर से जब यह सामान यूरोप में बेचा जाता था तो इसकी कीमत और बड़ा दी जाती थी। जिसके चलते यूरोप में भी कम ही लोग इन्हें खरीद सकते थे। इसलिए ब्रिटिश व्यापारी जल्द ही इस घाटे के सौदे को फायदे में बदलने को आतुर थे। भारत से अफीम लाकर चीन में आयात की जाने लगी, जिससे चाय रेशम इत्यादि मदो के दाम चुकाए जा सके। अंग्रेजी कम्पनियां जल्द ही अफीम के जरिये घाटे के व्यापार को मुनाफे में बदलने में कामयाब हो गई, अब चीन में अफीम को पहुँचाने के कारण चीन से चांदी बाहर

जाने लगी। 1790ई॰-1830ई॰ के दौरान नशाखोरी में डूबी एक पीढ़ी और सामाजिक अस्थिरता मुश्किलें लेकर चीन के सामने आ खड़ी हुई।जिसके चलते चीन और अंग्रेजों के बीच में अफीम की समस्या को लेकर युद्ध हुऐ। अंग्रेजों को हांगकांग का क्षेत्र तथा केंटन और शंघाई में व्यापारिक अधिकार मिले। हालाकिं अंग्रेजों ने चीन में भारत जैसा सीधा राजनैतिक कब्ज़ा नहीं किया। लेकिन चीन के ऊपर बहुत से साम्राज्यवादी देशों ने शिकंजा कसा और उसका भरपूर दोहन किया।

चीन में अफ़ीम से उत्पन संकट से निपटने के दो पक्ष सामने आये, पहला यह की अफीम की तस्करी रोकना नामुकिन है,इसलिए सरकार को ही इस पर एकाधिकार कर हालात को काबू कर लेना चाहिये। दूसरा पक्ष परम्परावादियों का था जो सम्राट की शक्तियों को असीम मानते थे, उनके अनुसार सम्राट आसानी से विदेशियों को काबू कर सकता है, इसलिए बिना किसी हिचकिचाहट के उसे अफ़ीम पर पूर्ण प्रतिबंध लगा देना चाहिए। चीनी सत्ता ने पूर्ण प्रतिबंध के मार्ग को ही चुना।

8.3.2 अफ़ीम युद्ध

1836ई॰ में अफ़ीम पर जब सरकारी प्रतिबंध लगा दिया गया तो, चीनी सरकार ने केंटन में विदेशों से लायी गयी अफ़ीम को जब्त करने के लिए एक अभियान चलाया, 1839ई॰ में पहला अफ़ीम युद्ध चीन का किसी भी पश्चिमी देश से पहला बड़े पैमाने का टकराव था। 1839ई॰ में कमिश्नर लिन त्सेशु ने लाखों किलो अफीम जब्त कर जला दी।अंग्रेजी सरकार ने इसके बदले के लिए सेना भेजी और अफीम के पहले युद्ध की शुरुआत कर दी। इस युद्ध ने चीन की सैनिक शक्ति की पोल खोल कर रख दी, चीन को हांगकांग टापू से भी हाथ धोना पड़ा।इस युद्ध के बाद से ही चीन पर अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय देशों से बहुत तरह के आर्थिक दबाब पड़ने लगे। 1842 ई॰ में नानकिंग की संधिमें अंग्रेजों को व्यापार के लिए चीन में चार अतिरिक्त बंदरगाह मिले तथा चीन को युद्ध का हर्जाना भी भरना पड़ा। साम्राज्यवादी देशों को चीन की धरती में भी कानूनी प्रक्रिया में विशेष अधिकार मिले, उन पर कोई भी करवाई केवल उन्हीं के न्यायालय में और उनके देश के क़ानून के हिसाब से हो सकती थी।

दूसरे अफ़ीम युद्ध 1860ई॰ के दौरान यूरोपीय साम्राज्यवादियों के हितेशियों ने पिकिंग में पैंठ बना ली और पुराने ग्रीष्मकालीन महल को जला दिया गया।अपने से श्रेष्ट एवं शक्तिशाली सेना से हारने के कारण, चीन के ऊपर अंग्रेजों ने पहली गैर-बराबर अधिकारों भरी 'असमान संधि' की, ऐसी ही असमान संधियों के चलते विदेशियों के व्यापार हेतु अन्य नगर संधि बंदरगाहा' (जतमंजल चवतजे) भी खुल गए, शुरुआत में तटवर्ती क्षेत्रों के नगर और बाद में तमाम चीन ही विदेशी व्यापारियों के लिए खुल गया। इन क्षेत्रों में विदेशियों के लिए उनकी ही कानून व्यवस्था लागू की गयी। यहाँ तक की चुंगी कर भी विदेशी ही तय करते थे।

8.3.3 साम्राज्यवादी नीतियाँ और चीन की लूट

साम्राज्यवादी देशों ने समूचे चीन के ऊपर विशेषाधिकारों के साथ कब्ज़ा कर लिया और उनके बीच चीन में अपने हितों के अनुरूप हस्तक्षेप करने की स्पर्धा थी, जिसके चलते साम्राजवादी देशों ने चीन का बंटवारा कर दिया। जिसे अक्सर 'चीनी खरबूजे का कटना' से संबोधित किया जाता है।

8.3.3.1 मोस्ट फेवर्ड नेशन क्लॉज़

मोस्ट फेवर्ड नेशन क्लॉज़ पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों ने इसलिए लागू किया ताकि सभी साम्राज्यवादी देशों को बराबर मौके मिले और साम्राज्यवादी स्पर्धा में वो पीछे न रह जाएं, इसलिए चीन द्वारा किसी भी देश को जो अधिकार और सहुलतें दी जाएँ वह अपने आप ही अन्य सभी उपनिवेशी शक्तियों को प्राप्त हो जायें। यानि अगर कोई एक देश किसी भी प्रकार चीन से व्यापारिक और राजनैतिक लाभ पाता है तो बाकि सभी साम्राज्यवादी देशों को बिना संघर्ष के भी सबसे विशेष राष्ट्र के सिद्दांत के आधार पर वो सब अधिकार और लाभ मिलें। यह चीन के लिए बड़ी विडंबना थी, जो उसकी राजनैतिक, सैनिक और आर्थिक कमजोरी को उजागर करती है। इसके चलते चीनवासियों और उनके संसाधनों पर निरंतर बोझ बढ़ता गया और चीन में अत्याचार और अराज़कता बढ़ गयी।

8.3.3.2 खुले द्वार की नीति

यू.स.ए. के सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट जॉन हैय ने खुले द्वार की नीति को रेखांकित किया था और 1899 ई॰ में अपने जैसे व्यापार करने वाले साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों को दस्तावेज के रूप में भेजा था। इसके जरिये अमरीका विश्व व्यापार में आगे बढ़ना चाहता था और खासकर चीन में दूसरे राष्ट्रों से पिछढ़ना नहीं चाहता था। खुले द्वार की नीति से चीन को सभी राष्ट्रों के लिए सामान व्यापार के अवसरों के साथ खुला रखना था,ताकि कोई भी एक शक्ति वहां के व्यापार पर एकाधिकार न कर ले। साथ ही इसके अनुसार सभी देशों से चीन को समान रूप से चुंगीकर वसूलने देना था। चीन को भी यह निर्देश था की वह अपने देश के बंदरगाहों, रेलमार्ग इत्यादिमें अपने देशवासियों को भी किसी प्रकार की कर में छूट या फायदा न पहुंचाए।कहने के लिए यह नीति चीन की संप्रभुता और क्षेत्र की अखंडता को बनाये रखना था, लेकिन चीनी इतिहासकारों ने इस नीति को राष्ट्रीय निंदा के रूप में ही देखा।

ऐसी नीतियों के चलते चीन को साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने कब्ज़े में कर लिया था. चीनी राजवंश अपनी तुलानात्मक रूप से पुरानी सेना से उनका मुकाबला नहीं कर सकता था. पश्चिमी देशों को तमाम अधिकार मिले हुए थे, इसलिए चीन जैसे विशाल देश को पूरी तरह अपने सीधे कब्ज़े में लेने का प्रयास नहीं किया गया. रूस, इंग्लैंड, जर्मनी, सयुंक्त राज्य अमेरिका इत्यादि अन्य पश्चिमी देशों ने और बाद में जापान ने भी यहाँ के सभी प्रमुख कारखानों, उद्योगों को जैसे खनन, धातु, रेलमार्ग बैंकिंग इत्यादि में लगातार अपने मुनाफे के लिए चीन को अन्दर से खोखला कर दिया था।

8.3.4 कोरिया में उपनिवेशवाद

कोरिया भी अन्य कई दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों की तरह चीन का ही 'ट्रिब्यूटरी स्टेट'/सहायक देश था जिसको 1860ई॰ में फ्रांस ने अपने कब्ज़े में ले लिया था। जापान में प्रवेश करने के बाद पश्चिमीदेश कोरिया को भी उसी तरह अपने कब्जे में लाना चाहते थे, लेकिन कोरिया ने इसका विरोध करते हुए फ्रांस और अमेरिका से 1860ई॰ में और 1870ई॰ की शुरआत में नौ-सैनिक टकराव किया।

इस काम में जापान को सफलता मिली उसने ही कोरिया को अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए शोषित किया। 1876ई॰ जापान और इंडोनेशिया के बीच में गंघवा की संधि हुई यह संधि भी गैर-बराबरी अधिकारों से लिप्त थी,

जिसके चलते शक्तिशाली जापानियों को कोरिया में सारे लाभ, अधिकार और छूट मिली जबकि कोरियाई लोगो को जापान में इसे कोई भी अधिकार, लाभ या रियायते नहीं मिलती थी।

यू.एस.एऔर अन्य पश्चिमीदेशो ने भी इस अवसर का लाभ उठाया और जापान का अनुसरण करने लगे। 19 वीं सदी के आख़िर तक वह भी इस प्रकार की संधियाँ करने लगे। कोरिया को लेकर बढ़ती हुई शत्रुता के चलते 1894-1895ई॰ में चीन और जापान के बीच युद्ध हुआ। दस साल बाद रूस और जापान के मध्य 1904-1905ई॰ का युद्ध हुआ जिसमे जापान विजय रहा। 1910ई॰ में जापान ने यहाँ अपना विस्तार किया, साथ ही यहाँ के शाही वंश के राज का अंत हुआ।शुरू के दस सालों में जापान ने यहाँ दमनकारी सैन्य शासन किया। 1 मार्च 1919ई॰ में राष्ट्रव्यापी विरोध के कारण जापान को स्थानीय निवासियों को अभिव्यक्ति की कुछ छूट देनी ही पड़ी। जापान ने भी अन्य साम्राजवादी राष्ट्रों की तरह कोरिया में जो आधुनिकीकरण हेतु नगरीकरण, निवेश, वाणिज्यवाद का विस्तार किया और वहां जो औद्योगीकरण हुआ, उसका एक मात्र लक्ष्य जापान की शक्ति को बढ़ाना था। ताकि वो अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों से मुकाबला कर सके और साम्राज्यवाद की लड़ाई में चीन और प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में लड़ सके।

उपनिवेशी वर्षों में कोरियाई लोगों को जबरन जापानी कारखानों में काम के लिए भेजा जाता था, यहाँ तक की उन्हें सैनिक के रूप में युद्ध करने के लिए लड़ाई के मैदान में भेजा जाता था। जापानी सैनिकों के लिए कोरयाई महिलाओं को ‘Comfort Women के रूप में भेजा जाता था। यह वास्तव में जापानी सैनिकों के लिए वेश्याएं थी। कोरियाई लोगो पर इस बात का भी दबाब था की वो अपने नाम भी जापनी नामो की तरह रखे, 1939 ई॰ के नाम बदलो अधिनयम के चलते 80% कोरियाई लोगो को अपना नाम बदलना पड़ा। जापान ने कोरिया को केवल आर्थिक और राजनैतिक रूप से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी उसका उपनिवेशिकरण किया. लेकिन कभी भी उन्हें जापान के समान अधिकार और नागरिकता नहीं दी गयी

8.3.5 इंडोनेशिया में उपनिवेशवाद

सोलहवीं सदी के आरंभ में पुर्तगालियों ने इंडोनेशिया के द्वीपों में आना जाना शुरू कर दिया था। उन्होंने यहाँ अपने व्यापार के साथ साथ राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना भी की। उन्ही के साथ साथ रोमन कैथोलिक पादरियों ने भी यहाँ प्रवेश कर लिया था। सत्रहवीं शताब्दी में हालैंड देश से डच यहाँ पहुंचे। 1641ई॰ में उन्होंने मलक्का को भी पुर्तगालियों से जीत लिया। डच ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी यहाँ आकर व्यापारिक एवम् राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना की। अठारवीं-उन्नीसवीं सदी में फ्रांस और इंग्लैंड में यहाँ कब्ज़े के लिए खिंच-तान चलती रही। फ्रांस शासक नेपोलियन बोनापार्ट के अंत के बाद वियाना कांग्रेस के निर्णयानुसार यह क्षेत्र फ्रांस से आज़ाद होकर, फिर से डचों के अधीन आ गया।

इंडोनेशिया को अपना उपनिवेश बनाकर डच सरकार ने मालगुजारी के रूप में यहाँ के किसानों से चावल वसूल करने लगी, जो यहाँ की प्रमुख फसल थी। यहाँ किसानों को यूरोप में आसानी से बिकने वाली तमाम नकदी फसलों में से किसी न किसी को अपने खेतों के एक हिस्से में उगाना पड़ाता था। इसके बदले में उन्हें किसी भी प्रकार का हर्जाना नहीं मिलता था, ऊपर से जो भी खर्च आता था वह किसानों को ही उठाना पड़ता था, इसे कल्चर सिस्टम कहा जाता था।

इस कल्चर सिस्टम के चलते एक ओर तो स्थानीय लोग गरीब होते गए, और दूसरी ओर डच अमीर होते गए। यहाँ किसानों की दशा अर्ध-दास जैसी होगई थी। जब सारे विश्व में दास प्रथा के खिलाफ़ माहोल गर्म था, और होलैंड में रह रहे डच लोगों ने इस व्यवस्था की घोर निंदा की तब कहीं जाकर इंडोनेशिया में भी हालत बदले और 1870ई॰ में यह व्यवस्था ख़त्म हुई।

8.3.6 इंडो-चाइना में औपनिवेशीकरण

इंडो-चाइना तीन देशों के मिलाप से बनी राजनैतिक इकाई है, जिसके अंतर्गत वियतनाम, लाओस और कंबोडिया आते हैं। यहाँ पर भी समूचे दक्षिण एशिया की ही तरह चीनी शासन और संस्कृति का ही दबदबा था। यहाँ के शासक खुद भी चीनी दर्शन और संस्कृति को आधार बना कर शासन करते थे। समुद्री रेशम मार्ग में होने के कारण यहाँ बाहरी देशो से वस्तुओं, लोगों, और विचारो का आदान प्रदान होता रहा था।

1747-1774 ई॰ में फ्रांस ने अन्नम के साथ व्यापार के लिये राजनैतिक सम्बन्ध बनाए साथ ही वह इस जगह को मूल ठिकाने के रूप में उपयोग करके डच और अंग्रेजों के व्यापार पर हमला करना चाहता था। 1787 ई॰ में फ्रांस और अन्नम के मध्य पहली संधि हुई, फ्रांसीसियों के लिए इसका महत्व उनकी राजनैतिक शक्ति का विस्तार करना था, अपना कब्ज़ा बढ़ाना था तथा कैथोलिक धर्म का प्रचार करना था। फ्रांसीसी पादरियों का प्रभाव जब बढ़ने लगा तो अन्नम के शासक को यह रास नहीं आया। 1858 ई॰ में बहुत से पादरियों पर हमले हुए, जिसके चलते फ्रांसीसी सेना ने 1858 ई॰में यहाँ प्रवेश किया और जल्द ही कई जगहों को अपने कब्ज़े में ले लिया। 1863 ई॰ में टोंकिन में घुसकर फ्रांस ने उसके कुछ हिस्सों को अपने अधीन कर लिया, 1874 ई॰ में टोंकिन के राजा से असमान संधि कर, व्यापर के लिए विशेष अधिकार प्राप्त कर लिये तथा यह भी मनवा लिया की राजा अपनी विदेश नीति का संचालन फ्रांस के अनुरूप ही करेगा। 1883 ई॰ में अन्नम के राजा ने पूर्णतः हार मानकर फ्रांस की आधीनता स्वीकार ली। असहाय चीन अपने इस आश्रित प्रदेश को फ्रांस- चीन युद्ध के बाद भी न बचा सका और अन्नम पर फ्रांसिसी क़बज़ा हो गया। अस्सी के दशक के आसपास फ्रांस ने उत्तरी भाग में मजबूत पकड़ बना ली, और 1887 ई॰ में इंडो- चाइना का गठन किया गया।

फ्रांस ने भी अन्य औपनिवेशिक राष्ट्रों की तरह इस क्षेत्र को अपने निजी राजनैतिक और आर्थिक लाभों के लिए निचोड़ दिया, यहाँ चावल को एक नकदी फसल के रूप में बड़े पैमाने पर उगाया गया। चावल की खेती को बढ़ाने के लिए उन्होंने नहरें बनाकर सिंचाई का बंदोबस्त किया, 1930 ई॰ तक तो यहाँ से दो-तिहाई चावल विश्व के बाज़ार में जाने लगा तथा 1931 तक वियतनाम दुनिया में चावल का तीसरा सबसे बड़ा निर्यातक बन गया। लेकिन मुनाफा फ्रांसीसियों को ही हुआ जन साधारण तक इसका कोई लाभ नहीं पहुंचा। रबड़ की पैदावार दूसरी प्रमुख नकदी फसल थी, इन्ही से जुड़े कारोबार को यातायात ओर बंदरगाह की सुविधाएँ प्रदान की गयी, वहां यातायात के साधनों का विकास इसलिए भी किया गया, ताकि व्यापार ओर सैनिक सामग्री सुचारू रूप से चल सके, साथ ही साथ बड़े क्षेत्र को सीधे तौर पर जल्द नियंत्रण में किया जा सके। ऐसे आर्थिक हालातों में इंडो- चाइना में जहाँ गांवों में जमींदारी प्रथा ने पांव पसारे, वहीँ बंधवा मजदूरी बड़े पैमाने में रबड़ के उत्पादन के कारण पनपी। वियतनामी मजदूरों से बागानों में

एकतरफ़ा अनुबंध व्यवस्था के तहत काम करवाया जाता था। जहाँ मजदूरों को कोई अधिकार नहीं थे, लेकिन अगर तय की गयी शर्तों के हिसाब से कम ना हो तो मजदूरों पर मुक़दमे कर उन्हें सज़ा दिलाई जाती थी। जबकि मालिकों पर ऐसी कोई करवाई नहीं हो सकती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में भी फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों की ही तरह नीति अपनाई, जिसका लक्ष्य स्थानीय काम काज करने वाली जनता को फ़्रांस के हितो के लिए तैयार करना था, कुलीन वर्ग के लोग ही इस महंगी शिक्षा को अपना पाए, स्थानीय लोगो को ऊँचे पदों से रोकने के लिए उच्च शिक्षा में फेल कर दिया जाता था। इसके अलावा स्कूलों में पाठ्यक्रम औपनिवेशिक शासन को सही ठहराने, और वियतनामियों को पिछड़ा और शासन करने के अयोग्य दर्शाने के काम में लिया गया। बच्चों को यह बताया गया की केसे फ्रांस के शासन के कारण वियतनाम में शांति आई है। आधुनिक दिखने के लिय स्कूलों में और जनसाधारण को पश्चिमी पहनावे और रहन-सहन के लिए भी प्रेरित किया गया। 1907ई॰ में टोंकिन फ़्री स्कूलइसलिए ही खोला गया था।

फ्रांसीसियों ने जब हनोई जैसा वियतनाम में नया नगर बनाया तो अपनी बस्तियों में तो साफसफाई की व्यवस्था की, लेकिन देशी बस्तियों में कोई सफाई नहीं थी,ना गन्दगी को बाहर निकलने के लिए नालियाँ थी। जिसके चलते बरसातों में गन्दगी सड़कों में ही फेली रहती, आधुनिक सीवर चूहों की पनाहगाह साबित हुए। 1903 ई॰में वहां ब्यूबाँनिक प्लेग महामारी के रूप में फ़ैल गया। कुलमिला के यह कहा जा सकता है कि, फ्रांसीसी उपनिवेशवाद के कारण इंडो-चाइना की न सिर्फ आर्थिक लूट हुई बल्कि वहां की संस्कृति, सभ्यता और धर्म पर भी आघात हुआ। तमाम उपनिवेशी राष्ट्र अपने उपनिवेश कोहर प्रकार से लूटते थे।

8.4 जापान आधुनिक राज्य से साम्राज्यवादी शक्ति की ओर

8.4.1 पृष्ठभूमि

विश्व के मानचित्र में सुदूर पूर्व में उगते हुए सूर्य की भूमि जापान को देखने और उसकी प्राकृतिक संशाधनो की पड़ताल करने पर हम यह पाएंगे कि, जापान के पास कितनी सीमित संपदा है, ऊपर से जापान एक सक्रिय भूकम-प्रभावी क्षेत्र है। इसके अलावा जापान ने दो परमाणु हमलों को झेला, जिसके चलते वहां मानव एवं अन्य संशाधनो की गहरी क्षति हुई, लोगो में अनुवांशिक दोष भी उत्पन हुए। तमाम विपरीत परिस्थितयों के बावजूद जापान ने एक बार फिर अपने आप को विकसित देशों की सूची में ला खड़ा किया। ऐसे में जापान के विकास के रहस्य को जानने की इच्छा होती है। जिसके कुछ चिन्ह हमे इसके इतिहास में दिखते हैं।

प्राचीन काल में एक ओर तो जापान का भौगोलिक क्षेत्र हजारों कुल-जातियों में विभाजित था जिसके चलते वहां राजनैतिक एकता नहीं थी, लेकिन दूसरी तरफ पूरे जापान में चीन के दर्शनशास्त्र का गहरा प्रभाव था। केवल दार्शनिक स्तर पर ही नहीं बल्कि जापान के लेखन एवं वास्तुकला पर भी चीन का प्रभाव साफ़ तौर पर था। 11वीं -12वीं सदी से जापान में सामंतवाद शुरू हो गया था। कहने को तो राज्य के प्रशासनिक ढांचे में सबसे ऊपर सम्राट था, लेकिन वास्तविक शक्तियां भू-स्वामियों के पास ही थी। जिन्हें दैयमो (क्ंपलउव)कहा जाता था, दैयमो अपने वफादार समुराई-लड़ाकों की सैनिक साहयता से शासन चलाता था। शोगून के शक्तिशाली हो जाने से 1192 ई. से 1867 ई. तक

जापान में शोगून की सैनिक तानाशाई रही। 1560 ई. से 1600 ई. के काल में तीन शक्तिशाली शोगून ने जापान का एकीकरण किया। 1600 ई. में तोकुगावा लेयाशु ने जापान को एक कर वहां शासन की मजबूत शाखा तोकुगावा शौगनेत बनाई।

पन्द्रहवीं सदी में जापान में पश्चिम से व्यापारी और मिशनरी आने लगे थे, जापानियों को उनके साथ व्यापार अच्छा लगा, वह उनके हथियार और तकनीकी ज्ञान से प्रभावित हो गए थे। जापान में मिशनरीयों की गतिविधियों से और अन्य आंशिक लाभों के चलते बहुत से जापानियों ने धर्म परिवर्तन कर ईसाई धर्म अपना लिया , इसके प्रतिरोध में जापान में 1619 ई. में ईसाई धर्म को प्रतिबंदित किया गया, साथ ही यूरोपियन प्रभाव को रोकने के लिए यूरोपीय व्यापारियों और मिशनरीयों को जापान में आने से रोका गया। 1639 ई. में जापान ने 'क्लोज्ड कंट्री' नीति अपनाते हुए पश्चिमी देशों से सम्पर्क बंद कर दिया, केवल देशिमा बंदरगाह क्षेत्र डच और चीनी व्यापारियों के लिए खुला रहा।

8.4.2 पश्चिम से संपर्क

जापानियों ने पश्चिमी संपर्क से हुए सकारात्मक लाभों को खुले दिल से अपनाया था, उन्होंने पश्चिमी ज्ञान, विचारों को ग्रहण किया जिससे वह यूरोप की वैज्ञानिक एवं आधौगिक तकनीकों को सरलता से सीख पाए। 1774 ई. में जापानी में एनाटोमी की पुस्तक छप चुकी थी, 1787 में माइक्रोस्कोप, इलेक्ट्रीक बैटरी 1840 ई. में, स्टीम इंजन, स्टीमबोट और रेल मार्ग 1845 ई. में जापान अनुभव कर चुका था।जब प्रमुख पश्चिमी उपनिवेशवादी देश अन्य एशियाई (भारत,चीन) उपनिवेशों की समस्यों को लेकर व्यस्त थे। जापान ने बड़ी होशियारी के साथ इस समय अंतराल का अपने विकास और आधुनिकीकरण के लिए उपयोग किया। जापान को छोड़ कर 1640 ई. से 1853 ई. तक सारे एशिया का उपनिवेशीकरण हो चुका था।

1853 ई. में यू.स कमोडोर मैथयु पैरी जब टोकियो आया तो उसने जापान के साथ यू.स.ए की व्यापार करने की इक्छा को सामने रखा, जापान यू.स.ए की समुंद्री ताकत को देख घबरा गया था, 1854 ई. में जब कमोडोर पैरी वापस आया तो जापान ने यू.स.ए के साथ कांगावा की संधि की, यू.स.ए के लिए जापान के दो बंदरगाह खोले गए। जापान के इस कदम के बाद अन्य उपनिवेशी देश जैसे इंग्लैंड, फ्रांस, डच और रूस ने यू.स.ए की तर्ज़ पर जापान के साथ गैर बराबरी वाली व्यापारिक संधियाँ की और जापान में एक्स्ट्रा-टेरीटोरिऐलिटी' विशेषाधिकार के साथ रहना शुरू किया।जापान को इस बात का एहसास था की अगर वह पश्चिमी देशों के सामने कमजोर बना रहा तो उसको भी चीन की तरह बुरे दिन देखने पड़ेंगे। 1867 ई. में तोकुगावा के सामंतवादी राज का अंत हुआ। सम्राट मूतसुहितो को मिजी की उपाधि के साथ सरकार का नियंत्रण दिया गया।

8.4.3 मिजी सुधार (1888ई-1912ई) (फुकोकु-क्योहेई) समृद्ध देश-मजबूत सेना

मिजी सम्राट के अधीन जापानियों ने पश्चिमी देशों के मनमाने हस्तक्षेप और प्रभाव को रोकने के लिए खुद ही आधुनिकीकरण करने की ठान ली, उनका मानना था की शत्रु से युद्ध करने में नहीं बल्कि उसे धोखे में रखना और उसका अनुशरण करने में ही भलाई है। ऐसा करने पर वह उस मुकाम पर पहुँच जायेंगे जहाँ से वह दुबारा अपने हितो की रक्षा करते हुए पश्चमी उपनिवेशी देशों से फायदेमद व्यापारिक संधियाँ कर सके। इसके लिए उन्हें पश्चिमी तरीके से (लोकतत्र औदयोगीकरण, मजबूर्त सेना और साम्राज्यवाद) आधुनिकीकरण करना होगा। जापान की विकास गाथा

उसके सामाजिक बदलाव ने लिखनी शुरू कर दी थी, समाज के सबसे निम्न स्तर में व्यापारियों को रखा गया था और उनके काम धंधों को बुरा माना जाता था, लेकिन व्यापारियों के निरंतर आर्थिक उन्नति और शाति के लम्बे अंतराल में सामुराईयों की गिरती साख के साथ-साथ पश्चिमी व्यापार और सपर्क ने समाज को नए मोड पर ला खड़ा किया था। अब व्यापारियों के रिश्ते नातें बड़े संभ्रांत वर्ग से होने लगे थे, कई सामुराइयों ने भी व्यापार को अपना लिया, फलस्वरूप जाइबत्सू (Zaibatsu) व्यापारिक / औदयोगिक घराने (सुमितोमो, मित्सुई, मित्सुबिशी और यसुदा शरुआती चार सबसे महत्वपूर्ण जाइबत्सू) सत्ता और देश में अहम् भूमिका निभा रहे थे। मिजी सुधार के अंतर्गत भू-सुधार भी हुए थे, निजी सम्पति के रूप में भूमि दी जाने लगी थी, भूमि कर तय कर दिये गए थे, करों को केन्द्रीय व्यवस्था से एकत्रित किया जाने लगा। जापान में आर्थिक जरूरतों के लिए बैंकिंग और सहकारी संस्थानों का विस्तार किया गया।

सुधारवादी और विकास के लिए संकल्पित मिजी अधिकारी पुरजोर कोशिश करते रहे, किसी के विफल होने पर नए अधिकारी को जिम्मेदारी सौपीं जाती लेकिन, निजी लाभ और हानि के लिए किसी ने भी एक दूसरे के हाथ नहीं बांधे, वह निरंतर विकास को तत्पर थे। हालाकिं सम्राट की वास्तविक शक्ति में कोई खास बदलाव नहीं आया था, लेकिन सम्राट लोगों के विश्वास और राष्ट्रीय संवेदना को अपने पक्ष में बनाये रखने का माध्यम था ताकि तीव्र आधुनीकीकरण हो सके।जापान ने यूरोप और अमरीका में (1871 ई. से 1873 ई. 'इवाकुरा मिशन') शिष्टमंडल भेजा जिनका काम पश्चिमी आधुनिकीकरण के गुर सीखना और जापान के हित में माहोल बनाना था। जिन भी देशों के जापान के साथ संबंध थे वह जापान के बारे में क्या सोचते-समझते थे, इसका भी सही-सही अनुमान लगाना था। जापान ने जर्मनी की सरकार से प्रेरित होकर उनकी तर्ज़ पर नए संविधान और संसद का निर्माण किया। साथ ही साथ सेना को भी उन्होंने जर्मनी की तर्ज़ में संगठित किया तथा समुंद्री सेना को विश्व प्रसिद्ध ब्रिटिश नेवी की तर्ज़ पर तैयार किया। 1883 ई. में सैनिक भर्ती में यह नियम बनाया गया कि इक्कीस वर्ष की आयु होने पर, हर पुरुष को कम से कम तीन साल के लिए देश को सैनिक सेवा देनी पड़ेगी।

जापानी अधिकारियों ने औद्योगीकरण का समर्थन किया और नऐ कारखाने लगाए। ज़ाइबत्सू की भरपूर सहभागिता रही, शिक्षा के क्षेत्र में भी सुधार किये गए, प्रारम्भिक स्तर से ही पश्चमी शिक्षा मिलने लगी थी। शिक्षा को फ्रांस, जर्मनी, और अमरीका के मॉडल पर सुधारा गया। अमेरिका की तरह जापान में सार्वभौमिक जन शिक्षा की योजना लागू की गई, जिसके अंतर्गत सभी बच्चों का विद्यालय जाना अनिवार्य था। सांस्कृतिक रूप से भी पश्चमी पहनावा, तौर तरीके यहाँ तक की बालों की बनावट भी अपनाई गयी। मिजी काल में हुए सुधारों ने जापान की काया पलट कर दी, जापान एशिया में सबसे पहले और सबसे अधिक औद्योगिकऔर सैनिक शक्ति वाला देश बन गया था। निम्नांकित मिजी सुधार के चलते जापान का आधुनिकीकरण हुआ जिसके फलस्व्रूप -

1. सामंतवाद का पूर्ण अंत हुआ
2. भूमि का पुनर्वितरण हुआ
3. आधुनिक बैंक प्रणाली प्रारभं हुई
4. मानव अधिकार और धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्तल हुई

5. आधुनिक सेना का निर्माण हुआ

6. लिखित संविधान (क़ानून) निर्मित किया गया

1900 ई. तक जापान ने 7000 ई. मील लंबे रेलमार्ग का निर्माण कर लिया था। हजारों कारखाने लगा दिए गए थे तथा चाय, रेशम और जलपोत उद्योग में मुनाफा हो रहा था। जापान के पास आधुनिक थल और समुंद्री सेना थी। जापान ने आधुनिकीकरण की राह पकड़ के अपने लिए शक्ति और सम्मान अर्जित कर लिया था। साथ ही जापानी राष्ट्रवाद की आंच ने पश्चिमी देशों के विशेषाधिकार को और गैर बराबरी वाली सभी संधियों को ख़त्म कर दिया था। जापान अब खुद साम्राज्यवादी नीतियाँ अपनाने लगा था। अन्य औद्योगिक देशों की तरह जापान ने भी सस्ते श्रम, कच्चे माल और बाज़ार के लिए तथा उग्र राष्ट्रवाद से पीड़ित होकर एशिया में अपना साम्राज्यवाद फैलाना शुरू कर दिया।

8.4.4 साम्राज्यवादी जापान

1895 ई. में जब जापान ने चीन को हराया तो एशिया में उसके लिए साम्राज्यवाद के दरवाजे खुल गए, दक्षिण पूर्व एशिया में लगभग सभी देश चीन के आश्रय में रहे थे और जापान की भांति उन पर भी चीनी संस्कृति, और विचारों का प्रभाव था, वह भी सैधान्तिक रूप से ट्रिब्यूट सिस्टम के तहत चीन के भाग थे। अब पश्चिमी राष्ट्रों की तरह जापान ने भी चीन की खोखली ताकत को उजागर कर उपनिवेशीकरण शुरू कर दिया, जापान ने फरमोसा को अपने नियंत्रण में ले लिया ताकि कोरिया में उसका दबदबा बना रहे। साथ ही साथ ताइवान भी उसके प्रभाव क्षेत्र में आ गया।

1904-1905 ई. में पोर्ट आर्थर और मंचूरिया पर अधिकार को लेकर रूस और जापान में युद्ध हुआ, जिसमे जापान ने ज़ार शासित रूस को हरा दिया। जापान ने अचानक से रूसी जलपोत पर हमला किया, साथ ही उसने प्रशांत महासागर पर तैनात रुसी बेड़े को अपने कब्ज़े में ले लिया, और बाल्टिक के जहाज़ी बेड़े को नष्ट कर दिया।फलस्वरूप रूस को मंचूरिया से हटना पड़ा। इस युद्ध के परिणाम का असर सभी देशों पर पड़ा, एक ओर तो जापान का रुतबा पूरे विश्व में फैल गया, तो दूसरी ओर इस युद्ध ने औपनिवेशिक शक्तियों के भी हराने की सम्भावना को साकार कर दिया और शोषित देशों में भी राष्ट्रवाद की लहर को तेज़ किया। खुद रूस के लिए यह युद्ध सफल क्रांति की सीढ़ी बना। चीन के सुधारक और क्रन्तिकारी जापान में रहकर कारवाई करने लगे।

1905 ई. में कोरिया जापान का प्रोटेक्टोरेट (राजनीतिक संरक्षण अधीन) हो चूका था, जापानी सलाहकार कोरिया में स्थानीय सरकार को कमजोर और जापान की शक्तियां बढ़ाने की दिशा में निरंतर काम कर रहे थे। 1907 ई. में कोरिया के राजा ने हाथ खड़े कर दिए और शाही सेना को भी ख़त्म कर दिया गया, अंततः 1910 ई. में जापान ने कोरिया को अपने कब्ज़े में ले लिया। जापान ने वहां आर्थिक आधुनिकीकरण करने की प्रक्रिया को अपने हाथों में ले लिया। वास्तव में जापान ने अपने लाभ के लिए कोरिया की अर्थव्यवस्था को अपने औपनिवेशिक शक्ति के लिए इस्तेमाल किया। जापान ने वहां उद्योग तो लगाए लेकिन कोरियाई लोगों को व्यापार नहीं करने दिया, साथ ही कोरिया में जापानियों को बसाने के लिए उन्हें कोरियाई किसानों की भूमि भी दी गयी।

जापान ने कोरिया में मीडिया को नियंत्रित किया, समाचार पत्रों को बंद किया, तथा कोरियाई विद्यालयों को अपने नियंत्रण में ले लिया।कोरिया भाषा और इतिहास को पाठ्यक्रम से हटा के जापानी विषयों से बदल दिया। जापान के

शक्तिशाली होने पर एशिया की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में जापान को अब नाकारा नहीं जा सकता था। दक्षिण पूर्व एशिया में जापान स्थितियां नियंत्रित करने लगा था और उसका इरादा एशिया में अपने साम्राज्य को और आगे फैलाने का था। वह चीन और भारत को भी अपने कब्जे में लेना चाहता था।

1931 ई. जापान ने मंचूरिया पर कब्ज़ा कर वहां मंचूकाओ राज्य का निर्माण किया। 1937 ई. में जापान ने चीन पर हमला कर दिया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जापान का साम्राज्यवादी चरित्र खुलकर सामने आया, 1940 ई. में जापान ने जर्मनी और इटली जैसे फ़ासिस्ट राष्ट्रों के साथ मिलकर बर्लिन रोम टोकियो धुरी का समझौता किया। जापान ने एशिया को पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्रों से आजाद करने के नाम पर अपने लिए 'एशिया - एशियाई के लिए' का उदेश्य बनाया और एशिया पर अपना साम्राज्यवाद थोपा। जापान ने डच ईस्ट इंडीज, बर्मा, फ्रेंच इंडो-चाइना, फिलीपींस, थाईलैंड इत्यादि एशियाई देशों पर हमला किया।

जापान के ऊपर किसी प्रकार के नियंत्रण न लगने से एक ओर यह दिखता है की पचास से भी कम वर्षों में जापान एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में उभरा, तो दूसरी ओर जापानी सेना, आर्थिक दबाव और 1930 ई. की विश्वव्यापी मंदी ने जापान के लिए एक ऐसे मंच का निर्माण कर दिया था, जहाँ से जापान अपने साम्राज्यवादी मनसूबों को साकार रूप दे सकता था। जापान अपने आप को चीन की बंदरबांट में सही हिस्सेदारी न मिलने के कारण परेशान था। इसलिए उसने 1937 ई. में चीन पर हमला कर विश्वयुद्ध के अंत 1945 ई. तक चीन पर कब्ज़ा जमाये रखा।

8.4.5 जापानी साम्राज्यवाद का पतन

सात दिसम्बर 1941 ई. को जब जापान ने अमरीका के जहाज़ी बेड़े पर्ल हार्बर में हमला किया तो अमरीका भी बदले की करवाई करते हुए प्रत्यक्ष रूप से विश्वयुद्ध में शामिल हो गया। 1945 ई. में अमरीका के परमाणु विस्फोटों के बाद ही दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। यह बम छः अगस्त हिरोशिमा और नौ अगस्त नागासाकी में डाले गए। जापान ने इसके बाद मित्रराष्ट्रों के सम्मुख बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। इस तरह औपनिवेशीकरण और साम्राज्यवाद के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रों की आपसी लड़ाई में जर्मनी इटली और जापान की हार हुई। जापान जहाँ खेती के लिए भूमि ना के बराबर थी और संसाधनों की कमी थी वहां का विकास और औद्योगीकरण फिर से चरमरा गया। हालांकि जापान के इतिहास का अध्ययन हमें यह समझाता है की कैसे अतीत में भी अपनी अनूठी प्रगतिशील सोच एवं संगठित प्रयत्नों से जापान विकास कर अग्रिम श्रेणी के राष्ट्रों में आ गया था।

अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र 1. सिंगल पोर्ट कॉमर्स सिस्टम/ केंटन व्यवस्था क्यों लागू की गयी थी?

प्र 2. नाम बदलो अधिनियमकब और कहाँ लागू किया गया था?

प्र 3. 1907ई॰ में टोंकिन फ्री स्कूल क्यों खोला गया था?

प्र 4. किस तोकुगावा शासक ने जापान का एकीकरण किया ?

प्र 5 ज़ाइबत्सू क्या था ?

प्र 6 . 1904-05 में जापान का किस देश के साथ् युद्ध हुआ था

प्र 7 दिसम्बर 1941 को जापान ने किस पर हमला किया?

8.5 सारांश

इस इकाई में हमने जाना कि पूंजीवादी नीतियों के चलते पश्चिमी देशों ने और बाद में जापान ने भी इस को अपनाते हुए एशिया के विभिन्न देशों का औपनिवेशीकरण किया। इस प्रक्रिया में सबसे पहले व्यापारिक हितों को लेकर ही टकराव हुआ था, स्थानीय व्यपार और उद्योग व्यवस्था को ख़त्म कर पूंजीवादी देशों ने अपना कब्ज़ा कर लिया। हमने देखा की कैसे विशेषाधिकार, राजनैतिक एवं व्यापारिक संधियों और नीतियों को मनवाकर दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों को उपनिवेश बनाया गया। हमने यह भी देखा की केवल आर्थिक असमानता, शोषण, और पतन ही नहीं हुआ था बल्कि समाज और संस्कृति का भी यही अंजाम हुआ था। यहाँ आधुनिकीकरण के नाम पर (उद्योग, यातायात, शिक्षा इत्यादि) जो भी विकास किया गया था, वह भी केवल अपने मुनाफे और अपने शासन को सही साबित करने के लिए किया गया था.

हमने जाना कि जापान एशिया में एक मात्र देश था जिसने अपने आप को साम्राज्यवादी देशों से बचा के रखा, और साम्राज्यवादी शक्तियों की मंशा को पहचान अपने भविष्य को सुदृढ करने का सफल प्रयास किया। पश्चिमी आधुनिक विचार, विज्ञान, तकनीक, शिक्षा को सफलता से अपनाया और बाद में अपनी आर्थिक, संवैधानिक और सैनिक नीतियों एवं संस्थाओं कों पश्चिमी राष्ट्रों के अनुरूप विकसित किया। जापान की सबसे बड़ी खूबी उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति और राष्ट्रीय एकता थी। जापान की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में इसी समय बहुत से सुधार हुए थे, हालांकि पूंजीवादी मानसिकता को अपनाते हुए जापान भी साम्राज्यवाद और औपनिवेशिकरण की होड़ में लग गया तथा अपनी मजबूत सेना से जल्द ही उसने एशिया में उपनिवेश बना लिए। जापान की पूंजीवादी और फ़ासिस्ट चरित्र की सरकार ने जापानवासियों को न सिर्फ विश्वयुद्ध में घसीटा बल्कि परमाणु विस्फोटों को सहा, अंततः हम कह सकते हैं कि विश्व ने उपनिवेशिकरण और साम्राज्यवाद के चलते असमानता, गुलामी, अमानवीयता को देखा।

8.6 तकनीकी शब्दावली

कैपिटलिज्म/पूंजीवाद: पंद्रहवीं शताब्दी में सामंतवाद के बाद जो नयी व्यवस्था उभर रही थी, उसे पूंजीवाद कहा जाता है। इसके अंतर्गत उत्पादित वस्तुओं पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है और उत्पादन मुनाफ़ा कमाने के लिए होता है। इसके चलते सम्पूर्ण विश्व एक बाज़ार बन गया।

साम्राज्यवाद: एक राष्ट्र या राज्य का किसी दूसरे राष्ट्र या राज्य की भूमि, संसाधनों, अर्थव्यवस्था, भाषा या संस्कृति पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण या वर्चस्व को साम्राज्यवाद कह सकते हैं। उन्नीसवीं- बीसवीं सदी में अनेक यूरोपीय देशों ने कच्चे माल की प्राप्ति एवं निर्मित माल के बाज़ार के लिए दूसरे देशों पर अधिकार करने की साम्राज्यवादी नीति को अपनाया था।

उपनिवेशवाद: जब कोई राज्य या राष्ट्र दूसरे राज्य या राष्ट्र के किसी क्षेत्र या सम्पूर्ण हिस्से को अपने अधीन कर वहां स्थायी रूप से रहता या बस्तियां बसता है, साथ ही साथ अपने लाभ के लिए अपने उपनिवेश का दोहन करता है तो उसे उपनिवेशवाद कहते है।

वाइट मैंस बर्डन: यूरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्रों का तथाकथित नैतिक दायित्व या भार, जिसके अंतर्गत यूरोपीय श्वेत लोगों का श्रेष्ट होने के कारण, अन्य लोगो को सुधारने, संवारने और सभ्य बनाने का तथा स्वशासन के लिए उन्हें तैयार करने की जिमेदारी थी। वास्तव में अपने शासन, शोषण और नीतियों को जायज़ ठहराने के लिए यह शीगूफ़ा छोड़ा गया था।

प्रोटेक्टोरेट: जब कोई देश आंशिक रूप से किसी दुसरे देश के नियंत्रण और सुरक्षा पर आश्रित रहता है तो उसे प्रोटेक्टोरेट कहते हैं।

धुरी राष्ट्र या रोम-बर्लिन टोक्यो एक्सिस: जर्मनी वह इटली के मध्य एक दुसरे की सुरक्षा करने के ली हुई मैत्री संधि जिसमे बाद में जापान भी 1940 ई. को शामिल हो गया था।

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 बाहरी शक्तियों से अपने राजनैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए, चीन के सम्राट ने यह व्यवस्था कायम की थी।

उ.2 1939 ई॰ कोरिया में यह अधिनियम लागू किया गया था।

उ.3 आधुनिक शिक्षा के नाम पर स्थानीय लोगों का पश्चिमीकरण करके सांस्कृतिक साम्राज्वाद कायम करने के लिए यह स्कूल खोला गया।

उ.4 तोकुगावा लेयाशु ने जापान को एक कर वहां शासन की मजबूत शाखा तोकुगावा शौगनेत बनाई थी।

उ.5 यह व्यापारिक/औद्योगिक घराने थे, जैसे की सुमितोमो, मित्सुई, मित्सुबिशी और यसुदा शरुआती चार सबसे महत्वपूर्ण ज़ाइबत्सू थे, यह जापान के औद्योगीकरण, व्यापारिक एवं सैन्य विकास में अहम् भूमिका रखते थे।

उ.6 पोर्ट आर्थर और मंचूरिया पर अधिकार को लेकर रूस और जापान में युद्ध हुआ था।

उ.7 इस दिन जापान ने पर्ल हार्बरस्थित अमरीकी जहाज़ी बेड़े पर हमला किया था।

8.8 संदर्भ सामग्री

जैन, हुकुमचंद, माथुर, कृष्णचंद. आधुनिक विश्व का इतिहास, (1500-2000ई.),पन्द्रहवां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर,जयपुर, 2010., पृ. 320-323 400-424, 728-740.

दसवीं कक्षा की इतिहास की किताब,भारत और समकालीन विश्व, इंडो-चाइना में राष्ट्रवादी आंदोलन, अध्य्ााय 2, पृ.29-48.

Perkins Dorothy, Encyclopedia of China: The Essential Reference to China its History and Culture, Fitzroy Dearborn Publisher, London, 1999, pp.195-196, 332,333,366

Bianco,Lucien. *Origins Of The Chinese Revolution, 1915-1949,* Stanford: Stanford University Press, 1971, pp. 8-10, 42

Fairbank John K., *et al*., *East Asia*: *Modern Transformation,* Boston: Houghton Mifflin, 1965, pp.513-557, 648-725.

8.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

पाण्डेय धनपति, आधुनिक एशिया का इतिहास, प्रकाशक, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 2005.

Bianco Lucien, Origins of the Chinese Revolution, 1915-1949,Stanford: Stanford University Press, 1971.
Jean Chesneaux, et al, China from Opium War to 1911 Revolution,New York: Random House, 1976.
E.H. Norman, Japan's Emergence as a Modern State, New York: International Secretariat, Institute of Pacific Relations, 1940.
Michael J. Seth, A Concise history of Modern Korea, Rowman and Littlefield 2009.
Morinosuke Kajima, A Brief Diplomatic History of Modern Japan.
Ramon H. Myers and Mark R. Peattie (eds.), The Japanese Colonial Empire, 1895 – 1945

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) चीन की अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवादी शक्तियों ने किस प्रकार अपने नियंत्रण में किया?

प्र(2) जापान द्वारा कोरिया के उपनिवेशीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी करें, क्या यह पश्चिमी देशों की औपनिवेशिक नीतियों से अलग था ?

प्र(3) जापान के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए मिजी सुधारों पर टिप्पणी करें?

प्र(4) जापान एक साम्राज्यवादी शक्ति क्यों और कैसे बना?

इकाई नौ

दक्षिण अमेरिका में उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 यूरोपीय राजनीति और दक्षिण अमेरिका

9.4 स्वतंत्रता की लहर और उपनिवेश विरोधी विद्रोह

9.5 लैटिन अमेरिकी देशों की समस्याएँ

9.6 संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका

9.7 सारांश

9.8 विशेष शब्दावली

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.10 अध्ययन सामग्री

9.11 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

हम जानते हैं कि सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के मध्य के काल में यूरोपियों द्वारा भौगोलिक खोजों के बाद पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैंड, हालैंडऔर फ्रांस ने बड़े-बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किये थे।अमरीकी महाद्वीप में दक्षिणी अमेरिका के अधिकांश भाग पर मध्य अमेरिका, मैक्सिको, वेस्ट-इंडीज,तथा आज के संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ भाग पर स्पेन का कब्ज़ा था।यह कब्ज़ा सेनिक शक्ति पर आधारित था। स्थानीय निवासियों की विवशतायह थी की, वह नजराना दें या सोने-चांदी की खानों में काम करें।साम्राज्यवादी देशों की सोने चांदी की भूख ने यहाँ निर्मम हत्याओं का दौर शुरू किया।आलम यह था की यहाँ की बड़ी बड़ी सभ्यताएँ और कई मूल निवासियों की प्रजातियाँ जड़ से समाप्त हो गयी थी। यूरोपीय लोगों के साथ ऐसी बीमारियाँ भी आईं जिनके प्रति यहाँ के लोगों में प्रतिरोधक क्षमता नहीं थी, जिसके चलते भी, बड़े पैमाने पर लोगों की मृत्यु हुई।

जैसा की हम जानते हैं, दक्षिण अमेरिका को लैटिन अमेरिका भी कहा जाता है,अमेरिका के दक्षिण की ओर सारे पश्चिमी गोलार्द्ध में स्थित भू-भाग के लिए लैटिन अमेरिका शब्द का प्रयोग किया जाता है, इसके अंतर्गत मध्य, दक्षिणी

अमेरिका तथा कैरेबियन क्षेत्र के वह भाग आते हैं जिनकी संस्कृतियों की पृष्टभूमि एक है, इस क्षेत्र के लोग लैटिन भाषा परिवार की स्पेनिश और पुर्तगाली बोलते हैं। इनमें लगभग बीस गणतान्त्रिक राज्य हैं। सात मध्य अमेरिका में, तीन कैरेबियनमें, तथा दस दक्षिणी अमेरिका में हैं। अमेरिका की खोज के बाद अनेक यूरोपीय राष्ट्र लैटिन अमेरिका में अपने-अपने साम्राज्य स्थापित करने लगे। स्पेन लैटिन अमेरिका के छरू लाख वर्ग मील पर कब्जा करने में कामयाब हो गया, जिसमें मैक्सिको मुख्य था। इसके बाद पुर्तगाल ने एक लाख वर्गमील पर कब्ज़ा कर लिया जिसमें ब्राज़ील मुख्य था। डच, अँग्रेज और फ्रेंच दुनिया के दूसरे हिस्सों में अपने बहुत से उपनिवेश बना चुके थे अतः इसलिए उन्हें लैटिन अमेरिका के बहुत ही थोड़े से भाग का लाभ हुआ। यहाँ पर तांबा, टीन, सोना, चाँदी आदि धातुओं का भंडार था तथा यहाँ का कुछ हिस्सा नाइट्रेट से भरा हुआ था। दक्षिण अमेरिका के दक्षिण और मध्य भाग में बड़े विशाल पम्पस घास के मैदान हैं जो मवेशीयों के पालन के लिए बहुत ही अच्छे क्षेत्र हैं।ऐसे संसाधनों के दोहन के लिए लैटिन अमेरिका की बस्तियों पर स्पेन ने पूर्ण नियंत्रण कर रखा था।प्राकृतिक साधनों से परिपूर्ण होने के बावजूद लैटिन अमेरिका में कोयले व लोहे जैसे भरी औद्योगिक संसाधनों कि कमी थीऔर अधिकांश भूमि उपजाऊ भी नहीं थी।इन बस्तियों को केवल कच्चे माल का उत्पादक माना जाता था और इन उपनिवेशों को स्पेन की बनी वस्तुओं को खरीदने के लिए बाध्य किया जाता था। वाणिज्य पर भी स्पेनी व्यापारियों का पूर्ण नियंत्रण था।यहाँ अनियंत्रित एवं गैर-क़ानूनी व्यापार को अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा मिला।उपनिवेशी शासन के अधीन लैटिन अमेरिकी उपनिवेशों को ना तो स्वशासन प्राप्त था, और नाही उन्हें विचारोंकी स्वतंत्रता थी।उधर पुर्तगालियों ने भी ब्राज़ील को इसी तरह कब्ज़े में कर रखा था।हालांकि ब्राज़ील में परिस्थितियां भिन्न थी।वहां कि ज़मीन प्राकृतिक संपदाओं से संपन्न थी। ब्राज़ील वर्तमान संयुक्त राज्य अमेरिका से भी बड़ा देश था और देश का अधिकाँश भाग घने जंगलों का था। पुर्तगालियों ने यहाँ तट के किनारे-किनारे खेती भी शुरू कर दी थी।1600 ई. तक लैटिन अमेरिका में मैक्सिको सिटी, पनामा, लिमा, सेंटियागो, ब्यूनस आईरस, हवाना और अन्य शहरों का निर्माण हो गया था। उस समय के अन्य राष्ट्रों की भांति स्पेन वालों ने अपने तथा उपनिवेशों के बीच व्यवहार में वाणिज्यवाद का सिद्धांत लागू किया। इस प्रकार के अनेक कठोर नियंत्रणों के कारण ही ये राज्य अपनी स्वाधीनता प्राप्ति के लिएलालायित हो गए।

9.2 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन से हम दक्षिण अमेरिका के उपनिवेशीकरण को जान सकेंगे।
- हम यहाँ हुई जनक्रांतियों और आंदोलनों को समझ सकेंगे।
- दक्षिण अमेरिका की समस्याओं को जानेंगे।
- दक्षिण अमेरिका को लेकर यूरोपीय देशों एवं सयुंक्त राज्य अमेरिका की नीतियों की चर्चा कर सकेंगे।

9.3 यूरोपीय राजनीति और दक्षिण अमेरिका

इससे पहले की हम दक्षिण अमेरिका में उपनिवेश विरोधी आंदलोनो की चर्चा करें हमे यूरोपीय राजनैतिक हलचल का जायजा लेना होगा ताकि हम समझ सकें की समय-समय पर विभिन्न यूरोपीय देश कैसे और क्यों उपनिवेशों को लेकर

अलग-अलग पक्ष रख रहे थे। यूरोप में नेपोलियन कालीन युद्धों ने लैटिन नागरिकों को उस समय एक अवसर दिया था, जब सभी शक्तिशाली यूरोपीय देश नेपोलियन की शक्ति से लोहा ले रहे थे।स्पेन को नेपोलियन की सेनाओं ने रौंद डालाथा और राजा को गद्दी से हटने के लिए मजबूर होना पड़ा।नेपोलियन ने उसके बड़े भाई जोसफ को स्पेन का शासक बना दिया। जब नयी सरकार के प्रतिनिधि उपनिवेशों में पहुँचे तोबहुत से पुराने शाही अफसरों ने उनका आदेश मानने से इंकार कर दिया और पहले की ही तरह शासन करते रहे। उपनिवेशवासी भी नए राजनैतिक हालातों के चलते उन सरकारों के अभ्यस्त हो गए जो अब स्पेन से बंधी हुई नहीं थी। नेपोलियन के युद्ध की समाप्ति तक लैटिन अमेरिका में स्पेनी बस्तियां स्वशासन प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से तैयार हो गयी थीं। युद्ध के बाद राजा के फिर से सत्ता पर कब्ज़ा करने पर उपनिवेशों ने उसके खिलाफ विद्रोह कर दिया।

लैटिन अमेरिकी राज्यों में जो विद्रोह हो रहे थे, उसकी जानकारी उस समय सबसे प्रभावशाली व्यक्ति मेटर्निख को भी थी और यूरोप में सहानुभूति न रखने वाले लोग भी इस बात को जानते थे। इसी समय यूरोप की राजनीति में परिवर्तन हो रहे थे।1814 ई. नेपोलियन पराजित हुआ और अब यूरोप का पुनर्गठन किया जा रहा थातथा मित्र देशकृ इंग्लैण्ड, ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और फ्रांस पुनर्गठन में वयस्त थे।वह इस बात का प्रयास कर रहे थे, की नेपोलियन दुबारा अपनी सत्ता को प्रभावशाली न बना सके।अपनी औपनिवेशिक इच्छाओं के चलते यूरोप महाद्वीप के बड़े राष्ट्रों ने दक्षिण अमेरिकी विद्रोहोंको असंतोष की दृष्टि से देखा और स्पेन को उसके उपनिवेश वापस दिलाने के लिए हस्तक्षेप की धमकी दी। दूसरी ओर, ब्रिटेन इस बात के लिए उत्सुक था की लैटिन अमेरिकी गणतंत्र अपनी स्वतंत्रता बनाये रखे। उसने लैटिन अमेरिका में अपना बाज़ार विकसित कर लिया था और वह जनता था की अगर स्पेन को पुनः उपनिवेश और व्यापार का लाभ मिल गया तो वह स्वयं बर्बाद हो जायेगा। स्पेन और ब्रिटेन की आपसी टकराव में स्पेन की शक्ति क्षीण कर दी थी.

9.4 स्वतंत्रता की लहर और उपनिवेश विरोधी विद्रोह

लैटिन अमेरिका की आज़ादी के आंदोलनों पर अमेरिका तथा फ्रांस की क्रांतियों का प्रभाव पड़ा था। उत्तरी अमेरिका में ब्रिटिश उपनिवेशवासियों द्वारा आज़ादी प्राप्त किये जाने से उन लोगो का हौसला बढ़ा था। अनेक उपनिवेश वासियों ने अपनी संतानों को यूरोपीय विश्वविद्यालय में पढ़ने भेजा, जहाँ वे अंग्रेज़ और फ्रांसिसी दार्शनिकों की विचारधारा को अपनाने लगे। इसके साथ ही अमीर, पढ़े-लिखे लोगों के नए वर्ग ने भी इन्हें प्रभावित किया। जिसने स्पेनी संपर्कों को तो स्वीकार किया ही, लेकिन स्वतंत्रता तथा न्याय के आदर्शों को भी जरुरी माना। हालांकि 'स्पेनिश-अर्माडा' की हार (1588 ई.) के बाद स्पेन बराबर कमज़ोर होता गया और अब औपनिवेशिक सरकारों के ऊपर उसका नियंत्रण आसानी से हटाया जा सकता था। लैटिन अमेरिकी अपने हाथों में शासन की लगाम रखना चाहते थे। हालांकि दक्षिण अमेरिकी उपनिवेशों में क्रांति अमेरिका की तरह संगठित क्रांति नहीं थी। बल्कि स्पेनिश उपनिवेश स्वतंत्र रूप से आज़ादी के लिए लड़े। 1804 ई. में हैती, 1821 ई. में मैक्सिको तथा डोमिनगो औए 1825 ई. में ब्राज़ील स्वतंत्र हुए। 1830 ई. में कोलंबिया को वेनेजुएला, कोलंबिया तथा एक्वेडोर के रूप में बाँट दिया गया तथा 1840 ई. तक लैटिन अमेरिका के टुकड़ों में विभाजन से उनकी संख्या सत्रह हो गयी।

वेनेजुएला में थ्तंदबपेबव कम डपतंदकं/फ्रांसिस्को डी मिरान्डा के नेतृत्व में ही क्रांति की शुरुआत की गयी। वह सैनिक बल तैयार कर स्पेन की उपनिवेशिक सत्ता को प्रत्यक्ष टक्कर दे रहा था, अंततः उसे पकड़ कर स्पेन ले जाया गया जहाँ जेल में उसकी मृत्यु हो गयी। इस बीच छापेमारी रणनीति से संघर्ष होता रहा, उसी वर्ष जब मिरान्डा ने वेनेजुएला को स्वतंत्र करने का असफल प्रयास किया था, मैक्सिको में भी बगावत शुरू हो गयी थी। वहां हिडैल्गो नामक एक पादरी ने किसानों के एक दल को लेकर मैक्सिको में स्थित स्पेन की सेनाओं पर धावा बोल दिया। मिरान्डा की तरह यह भी पकड़ा गया और उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उसकी देशभक्ति ने मैक्सिको को प्रेरणा प्रदान की और वहां के लोगो ने कुछ ही वर्षों में गणराज्य की स्थापना की।लैटिन अमेरिका के आज़ादी के इतिहास में साइमन बोलिवरका नाम सबसे प्रमुख है। वह वेनेजुएला के एक धनी परिवार से सम्बंधित था, उसने अपनी समस्त दौलत दक्षिण अमेरिका की आज़ादी के काम में लगा दी। वेनेजुएला, कोलंबिया, इक्वीडोर, पनामा, बोलीविया, और उत्तरी पेरू बोलिवर को अपना मुक्तिदाता मानते हैं। ये सभी पहले स्पेन के उपनिवेश थे, इन्हें क्रांति के द्वारा उसने मुक्त कराया। इसी प्रकार डी सान मार्टिन के नेतृत्व में अर्जेंटीना, चिली, पराग्वे ने आज़ादी हासिल की। तब उसने और बोलिवर ने पेरू और बोलीविया में अंतिम स्पेनिश सेनाओं को हराया। बोलिवर एवं सान मार्टिन ने मिलकर नौ उपनिवेशों को स्पेनिश पराधीनता से मुक्ति दिलायी थी।

9.4.1 तुपक अमरु

दक्षिण अमेरिका में उपनिवेश विरोधी कुछ विद्रोह तो फ्रांस की क्रांति से पहले ही शुरू हो गए थे। 1780 ई. तुपक अमरु विद्रोह दक्षिण अमरीका के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। यह बड़े पैमाने पर होने वाली पहली घटना थी। जोस गेब्रियल कोन्दोर्कान्कुई ने पहले तो न्याय प्रक्रिया अपनाते हुए अपनी गुहार लगाई, लेकिन विफल होने पर उसने इंका शासक के नाम से'तुपक अमरु' विद्रोह का संचालन किया।विद्रोहियों ने स्पेनिश कपड़ो के कारखानों में आग लगा दी, जनसाधारण में यह विचार फैलाया गया की इंका सम्राट के पुनः शासन से ही असली आज़ादी हाथ आयेगी। उधर इस विद्रोह को रोकने के लिए इसके नेतृत्व करने वालों को फांसी की सज़ा दी गयी। हालांकि इसके बाद भी विद्रोह ख़त्म नहीं हुआ और यह बोलविया के दक्षिण भाग में कई ज्यादा उग्र रूप में सामने आया। यहाँ आयमारा लोगों ने ला-पोज़ नगर को कब्ज़े में ले लिया और सोने चांदी की खानों पर अपना खतरा बनाए रखा, जिसके चलते स्पेनिश शक्ति को सीधी चुनौती मिली। अंततः विद्रोहियों को पकड़ कर ख़त्म करके ही इस विद्रोह को शांत किया जा सका, लेकिन यह विद्रोह आने वाले आन्दोलनों के लिए एक प्रेरणा रही, इसने आत्मनिर्भता और समानता के मूल्यों के लिए उपनिवेशी शक्ति को सीधी चुनौती देकर शासक और शोषित के बीच एक बड़ी खाई पैदा कर दी थी। इससे यह भी सामने आया की यहाँ की शोषित जनता किसी भी रूप में अपने लिए दोयम दर्ज़ा नहीं चाहती हैं।

9.4.2 हैती दास विद्रोह

फ्रांसिसी उपनिवेश हैती चीनी, कपास और नील की खेती के लिए प्रसिद्ध था यहाँ बड़े पैमाने में दासों को खेती के लिए लाया गया। 1789 ई. में बागबानो के एक दल ने फ्रांसिसी क्रांति के सन्देश आज़ादी, समानता, और बंधुता से प्रभावित होकर दासों को हथियार दिए, ताकि वह फ्रांसिसी शक्ति से अपने हकों के लिए, अपनी आज़ादी के लिए और अपने

खुद के शासन के लिए लड़ें। तौस्सैंत ल ओव्वेतुर(1743-1803 ई.) के नेतृत्व में दासों ने क्रांति के जरिये पुरानी व्यवस्था को तोड़ने का काम किया। इन क्रांतिकारियों ने अपने लिए उनकी खुद की सत्ता की मांग की, 1804 ई. तक उन्होंने वहां की गन्ना/चीनी प्रमुख अर्थव्यवस्था का खात्मा कर दिया और आत्मनिर्भरता वाली खेती शुरु की गयी। वह अपने लिए जनतंत्र स्थापित करने में सफल रहे। अश्वेतों के इस जनतंत्र ने अन्य जगहों में संघर्ष करने वाले क्रियोल संभ्रांत वर्ग के भाइयों को एक तगड़ा संदेश दिया, हालाकिं अन्य जगहों में दमनकरी उपनिवेशी शक्तियां सतर्क हो गयी और इसी कारण वहां हैती की तरह जल्दी सफलता हाथ नहीं आई।

9.4.3 जोस मर्ती 1853-1895 ई.

एक कवि, लेखक और क्यूबा के नायक के रूप में जोस मार्टि चाहता था कि, सयुंक्त अमेरिका की एक आवाज़ हो, जहाँ सारे व्यक्ति अपनी समस्याओं को सामने रख सके, वह एक संभ्रांत वर्ग को हटा कर दूसरे संभ्रांत वर्ग को बिठाने का पक्षधर नहीं था, वह पूरी तरह से अपने राष्ट्र की आर्थिक आत्मनिर्भरता और राजनैतिक स्वतंत्रता का पक्षधर था।हालांकि 1898 ई. में सयुंक्त अमेरिका ने यहाँ अपना वर्चस्व बढ़ाना शुरू कर दिया, ताकि वह उपनिवेशों की सारी पूंजी और अर्थव्यवस्था को अपने काबू में रख सके और यहाँ हैती की तरह कोई अश्वेतों की सरकार न बने। हालांकि यू.एस.ऐ सीनेट ने टेलर संशोधन पारित कर अमेरिकी उपनिवेशवाद की राह में अड़चन पैदा की, लेकिन 1901 ई. के प्लैट संशोधन के अनुसार क्यूबा की सरकार इस बात से सहमत थी की यू एस उनकी आज़ादी बनाये रखने में मदद् कर सकता है और इसलिए क्यूबा की सरकार का सहायक हो सकता है। इसके चलते क्यूबा में विचित्र राजनीतिक स्थिति उत्पन्न हो गयी, क्यूबा में कहने को अपनी नागरिक सरकार थी, लेकिन वह किसी भी रूप में लोकतांत्रिक नहीं थी। यहाँ मिआमी का विस्तार हो गया था और यू.एस.ऐ के हस्तक्षेप ने यहाँ भ्रष्टाचार, हिंसा और आर्थिक संकट पैदा कर दिया। क्यूबा में जो नयी सरकार बनी थी वह तानाशाह थी और इसलिए देश के हालत ठीक नहीं थे, 1956-1959ई. में क्यूबा में गृह युद्ध हुए इन्हें क्यूबा की क्रांति के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि इस गृह युद्ध के दौरान गुरिल्ला सेनाओं का नेतृत्व करते हुए फिदेल कास्त्रो, देश की निरंकुश बतिस्ता सरकार के खिलाफ़ लड़ा था। पहेले युद्ध में फिदेल कास्त्रो की हार हुई थी, लेकिन उसने क्यूबा के जंगलों में अपनी सेनिक शक्ति बढ़ाई। 1958 ई. में क्रांतिकारियों से हारते हुए, बतिस्ता डोमिनिकन गणतंत्र में चला गया, उसका पीछा करते हुए क्रांतिकारी भी 1959 ई. में वहां पहुँच गए। कास्त्रो को जनसमर्थन प्राप्त था क्योंकि उसने लोगो को आश्वासन दिया था की वह निरंकुश शासन से आज़ादी लेकर रहेगा, यहाँ पर क्रांतिकारी समाजवादी राज्य का गठन कर कास्त्रो ने नयी सत्ता कायम की, प्रसिद्ध 'मोटरसाइकिल डायरीज' नामक संस्मरण वाले जन नायक चे ग्वेरा भी इस क्रांतिकारी सेना में सेकंड इन कमांड की भूमिका में थे, 1963 ई. में इसका साम्यवादी विचारधारा से विकास कर यहाँ साम्यवादी सरकार कायम की गयी। नयी सरकार ने देश का एकीकरण किया और राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाते हुए काम किया। शीत युद्ध के दौरान क्यूबा जैसे सभी साम्यवादी दल और देश पूंजीवादी अमेरिका के निशाने पर रहे, और यहाँ राजनैतिक उथल-पुथल बनी रही।

9.4.4 ब्राज़ील की स्वाधीनता

ब्राज़ील की स्थिति इसके बिलकुल अलग होने के कारण उसे स्वतंत्रता भी अलग अंदाज़ में मिली थी। पुर्तगाल में नेपोलियन के हाथों वहां का राजा अपनी सत्ता खो चुका था। वह किसी तरह ब्रिटेन की सहायता से ब्राज़ील पहुँचा और ब्राज़ील पर कब्ज़ा होने के कारण वह उसे अपना ही राज्य मानता था, ऐसी स्थिति में ब्राज़ील को उपनिवेश के स्तर से उठाकर उसने अपना राज्य बना लिया।इस प्रकार एक उपनिवेश एक साम्राज्य की राजधानी बना गया। अतः ब्राज़ील बिना किसी युद्ध या रक्त क्रांति के आज़ाद हो गया था।बाद में आगे चलकर 1889 ई. में यहाँ पर राजतन्त्र को समाप्त करके गणतंत्र की स्थापना की गयी।

दक्षिण अमेरिका के विभिन्न क्षेत्रों की आज़ादी के प्रयासों के अध्ययन के बाद हम कह सकते हैं की,18वीं शताब्दी से ही दक्षिणी अमेरिका में एक प्रकार का स्वतंत्रता आन्दोलन प्रारंभ हो गया था, 19वीं शताब्दी के आरम्भ में नेपोलियन ने स्पेन व पुर्तगाल पर अधिकार कर लिया था और जब स्पेन पर फ्रांस का अधिकार हो गया तो इस क्षेत्र के नेताओं ने अपनी-अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। जिससे छः नए देशों अर्जेंटीना, ब्राज़ील, चिली, कोलंबिया, पेरू, और मैक्सिको का उदय हुआ ।लम्बे संघर्ष के बाद दक्षिण अमेरिका के पुर्तगाली भाषा- भाषी लोगों को आज़ादी प्राप्त हुई। फलस्वरूप इनके स्वाधीन राज्य 1825 ई. में स्थापित हुऐ, वह ब्राज़ील के संघीय राज्य के नाम से सामने आया। दूसरी ओर स्पेन के उपनिवेशों ने अपना आरम्भ आठ विभिन्न राष्ट्रों के रूप में किया। ये राष्ट्र थेकृ मैक्सिको, मध्य अमेरिका, कोलंबिया, पेरू, बोलीविया, परागुए, अर्जेंटीना और चिली। परन्तु एक शताब्दी में ही इन आठ राष्ट्रों ने अट्ठारह राष्ट्रों की संख्या धारण कर ली। 1828 ई. में उरुग्वे ने अर्जेंटीना के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा 1830 ई. में एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। वेनेजुएला 1929 ई. में कोलंबिया से अलग हो गया, एक्वेडोर 1830 ई. में अलग हो गया तथा पनामा 1903 ई. में। 1940 ई. में मध्य अमेरिका में पांच राज्य बने- ग्वाटेमाला, होंडुरास, निकारागुआ, सैल्वेडोर और कोस्टारिका। सेन डोमिनिगो भी हैती से पृथक इसी समय हो गया। अनेक विद्रोहों के उपरांत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के हस्तक्षेप के बावजूद 1959 ई. में क्यूबा को भी आज़ादी प्राप्त करने में सफलता मिली।

9.5 लैटिन अमेरिकी देशों की समस्याएँ

आज़ादी के संघर्ष के साथ बीसवीं शताब्दी में लैटिन अमेरिका को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, उनमेंसे तीनसमस्याएं और भी विकट हो गयी थी। पहली समस्या जनसँख्या से सम्बंधित थी, लैटिन अमेरिका की जनसँख्या में तीव्रता से वृद्धि हो रही थी। दूसरी समस्या आर्थिक थी कि, किस प्रकार साधनों विकास और सर्वा ेत्तम उपयोग किया जाये ताकि बढ़ते हुए लाखों लोगों की आय में वृद्धि करके सामान्य जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जा सके। तीसरी समस्या प्रशासकीय थी कि, किस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाअपनाई जाए तथा देश में किस प्रकार की सरकार हो। जोइस निर्धन और संघर्षरत जनता का कल्याण कर सके।बीसवीं शताब्दी के मध्य में जिस गति से लैटिन अमेरिका की जनसँख्या में वृद्धि हो रही थी, इसने कुशल सरकार और साधनों के समुचित को दक्षिण अमेरिका के लिए तुरंत आवश्यक बना दिया था। 1960 ई. में वहां प्रति व्यक्ति आय 100 डालर से 799 डालर तक या इससे कम ही रहीं। कई गणराज्यों में एक ही प्रकार के उपज की प्रधानता थी। विश्व के बाज़ारों में उतार-चढाव पर इनका कोई नियंत्रण न होने के कारण स्थिति और भी ख़राब हो गयी। अपनी गतिविधियों को अनुरूप बनाने, तकनीकी तरीकों से सुधार

करने के लिए उन्हें मशीनरी खरीदने, यातायात बढ़ने और उद्योगों का विकास करने को धन की आवश्यकता थी, लेकिन राष्ट्रीय आय के साथ-साथ बढ़ती जनसंख्या और सीमित साधनों के साथ वे किस प्रकार से विकास के लिये धन कीव्यवस्था कर सकते थे।इसके अतिरिक्त निश्चित परम्पराएँ, सोचने के तरीके और सत्ता के व्यवस्थित परिवर्तन की क़ानूनी परम्पराएँ लैटिन अमेरिका में न तो विकसित हो सकीं और न ही स्थापित की जा सकीं। जनता के इन उदार और दृढ आधारों की कमी ने फासिस्ट, और नात्सी तानाशाहों के लिए द्वार खोल रखे थे।उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त कई अन्य छोटी बड़ी समस्याएँ लैटिन अमेरिकी राज्यों के विकास में बाधक बनी हुई थी और यह कहना गलत नहीं होगा की लैटिन अमेरिका में संयुक्त राज्य अमेरिका की रूचि ने भी इन राज्यों के लिए कठिनाई खड़ी कर दी। अल सल्वाडोर, निकारागुआ, ग्वाटेमाला तथा ग्रेनेडा में तनाव, लैटिन अमेरिका में अमेरिका की रूचि के कारण होने वाले प्रमाण रहें हैं।

लैटिन अमेरिका के बहुत से राज्यों में आपसी झगड़े भी होते रहे,मुख्यता इसका कारण उपनिवेश काल से चला आ रहा सीमा विवाद था।हालांकि गणतंत्रीय काल के शुरूआती वर्षों में सीमाएं सामान्यतः स्पष्ट कर दी गयी थीं, फिर भी प्रमुख रूप से दूर के क्षेत्रों में यह तब तक निश्चित नहीं की जा सकी, जब तक इन झगड़ेवाले क्षेत्रों में आर्थिक संपत्ति नहीं मिली।बोलविया और पैरागुए के बीच चाको युद्ध का मुख्य आधार तेल था और तेल को लेकर ही एक्वेडोर तथा पेरू के बीच वाद-विवाद था, बोलविया तथा ब्राज़ील के बीच एकर संकट का कारण रबर था।इन्ही आर्थिक टकरावों के कारण दक्षिण अमेरिका में पैरागुए युद्ध (1865-70 ई.), प्रशांत सागर का युद्ध (1879-93 ई.) तथा चाको युद्ध (1932-35 ई.) लैटिन अमेरिकी राज्यों के बीच हुए थे।

9.6 संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका में भी यूरोप से आये श्वेत लोगों ने अपनी विस्तारवादी नीति के साथ अपने निवास बनाये थे और बाद में अपने हितों की रक्षा के लिए दमनकारी औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ सफल संघर्ष कर आज़ादी पायी थी। इसलिए यहाँ के बहुत से लोग लैटिन अमेरिकी राज्यों कीआज़ादी के प्रति सहानुभूति रखते थे। अमेरिकन कांग्रेस ने राष्ट्रपति से अनुरोध किया कि नए गणराज्यों को मान्यता प्रदान की जाये।अतः राष्ट्रपति मुनरो ने 'मुनरो सिद्धांत' का प्रस्ताव दिया। इसमें उन्होंने यूरोपीय राष्ट्रों को चेतावनी दी थी की वे अपनी साम्राज्यवादी नीति और व्यवस्थाएं इस क्षेत्र के किसी भी हिस्से में फ़ैलाने की कोशिश न करें और कहा कीअमेरिका भी युरोपीय मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यूरोपीय राष्ट्र वस्तुतः इस स्थिति में नहीं थे की लैटिन अमेरिकी गणराज्यों के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर सकें, और अमेरिका भी उस समय ऐसी स्थितिमें नहीं था की उन्हें रोक सके।संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी अमेरिका के स्वतंत्रता आन्दोलन का समर्थन किया गया तथा ये कहा गया कीइन उपनिवेशों में स्वतंत्रता की मांग अमेरिका से प्रेरणा प्राप्त करके की जा रही है और अमेरिकी लोगों की यह मांग थी की अमेरिका उन राज्यों को मान्यता प्रदान करे। अमेरिकी नेताओंकी भी इसमें सहमति थी, उनका मानना था की इन देशों को मान्यता प्रदान करना अमेरिका के लिए लाभदायक था, ताकि अमेरिका की उपस्थिति से वहां यूरोपीय देशों का प्रभुत्व समाप्त हो जायेगा।जिससे अमेरिकी सुरक्षा में वृद्धि होगी दूसरे यह की इन उपनिवेशों को मान्यता देने से स्पेनी शासन का अंत हो जायेगा, जिससे उनके

प्रतिबन्ध लैटिन अमेरिकी देशों से हट जायेंगे और अमेरिका को अपने मालों की खपत के लिए एक बाज़ार भी मिल जायेगा।हालांकि की अमेरिका स्पेन के साथ अपने रिश्ते ख़राब नहीं करना चाहता था, वह फ्लोरिडा को प्राप्त करने हेतु स्पेन से शत्रुता नहीं कर सकता था। अमेरिकी विदेश मंत्री जॉन क्विन्जी एडम्स भी इस पक्ष में नहीं था की इस समय दक्षिण अमेरिकी राज्यों को मान्यता दी जाये, क्योंकि ये देश अभी राजनैतिक रूप से स्थिर नहीं थे। अतः 1818 ई. में इन देशों को मान्यता देने की बात को स्वीकृति नहीं मिली।हालंकि जैसे ही हालात बदले, 1820 ई. में मुनरों प्रशासन ने इन देशों की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान कर दी तथा उनसे राजनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिए। पुरानी औपनिवेशिक शक्तियों के खात्मे के बाद यहाँ नव-उपनिवेशवाद की अप्रतक्ष साम्राज्यवाद और बाजारवाद की राजनीतिहावी रही थी।मुनरो सिद्धांत अमेरिका एवं ब्रिटेन दोनों ही जगह स्वीकार कर लिए गए। बाद में यह अमेरिकी विदेश नीति का मुख्य अंग बन गया। मुनरो सिद्धांत के दो भाग थे-

1. प्रथम भाग में गैर उपनिवेशवाद का सिद्धांत था जिसकी घोषणा अमेरिका ने 1821 ई. में की जिसमें यह कहा गया की अमेरिकी महाद्वीप में यूरोप के देशों के औपनिवेशिक शक्ति को स्वीकार नहीं किया जायेगा।
2. अमेरिका की राजनैतिक व्यवस्था मित्र राष्ट्रों की राजनैतिक व्यवस्था से बिलकुल भिन्न हैऔर अमेरिका यह स्वीकार नहीं करेगा की यूरोप की राजनैतिक व्यवस्था को अमेरिका में लागू किया जाये। इसमें यह भी कहा गया की यूरोप के उपनिवेशों में हमने हस्तक्षेप नहीं किया और न ही करेंगे, परन्तु वे उपनिवेश जिन्होंने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और जिन्हें अमेरिका ने स्वीकार कर मान्यता प्रदान कर दी है, उन देशों में यदि हस्तक्षेप किया जायेगा तो अमेरिका इसे स्वयं के साथ शत्रुता का व्यवहार समझेगा।

सयुंक्त राज्य अमेरिका के कठोर कदम के बावजूद यूरोप के राजनेताओं ने मुनरो सिद्धांत को कोई महत्व नहीं दिया, उनके लिए यह एक खोखली धमकी मात्र थी। ब्रिटिश सरकार भी मुनरो सिद्धांत से खुश न थी, क्योंकि इस सिद्धांत की घोषणा करके अमेरिका दक्षिण अमेरिका में इंग्लैण्ड के प्रभाव को नकार रहा था, जिसके चलते उनकी नव-उपनिवेशवादी नीति में अड़चने आ रही थी। इंग्लैण्ड दक्षिणी अमेरिका की स्वतंत्रता का पूर्ण श्रेय खुद की सरकार को मानता था। दक्षिणी अमेरिका में भी मुनरो सिद्धांत का कोई प्रभाव नहीं हुआ।क्योंकि वहां के राजनेताओं का भी यही मानना था कि उनकी सहायता इंग्लैण्ड की नौ-सेना ने की है, नाकी अमेरिका ने। कुछ समय बाद दक्षिणी अमेरिका के राजनेताओं ने यह प्रस्ताव रखा की अमेरिका उनसे सैनिक संधि करे, परन्तु अमेरिका ने इसे अस्वीकार कर दिया। अतः मुनरो सिद्धांत का वहां कोई प्रभाव नहीं पड़ा। संयुक्त राज्य अमेरिका की लैटिन अमेरिका के प्रति उनकी अवसरवादी नीति को उनके मुनरो सिद्धांत, डालर नीति तथा अखिल-अमेरिकावाद से समझा जा सकता है।स्पेन-अमेरीकी युद्ध के समय लैटिन अमेरिका के मामलो में अमेरिका का हस्तक्षेप, प्लैट संशोधन के द्वारा क्यूबा में हस्तक्षेप, कोलंबिया से पनामा के अलग होने पर पनामा की सहायता, 'पनामा नहर क्षेत्र पर नियंत्रण आदि इस प्रकार की घटनाएँ महाद्वीप में अमेरिकी भूमिका का ही परिणाम हैं।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट की 'अच्छे पडोसी की नीति' का भी इन राज्यों ने बड़ा स्वागत किया। अमेरिका के साथ उनके सम्बन्ध फिर से जुड़ गए। 1947 ई. में "रिये समझौता" हुआ। यह पहली सामूहिक सुरक्षा संधि थी, जिसमे पश्चिमी

गोलार्द्ध की बाह्य जगत से सुरक्षा की व्यवस्था की गयी थी। बाद में अमेरिका की प्रेरणा से ही 1948 ई. में ¼OAS Organization of American States½ का निर्माण भी हुआ। 1951 ई. में अमेरिका ने इस संगठन की आड़ में ग्वाटेमाला में सैनिक हस्तक्षेप किया और फिर वहां पिछलग्गू सरकार बना दी गयी। 23 अप्रैल, 1954 को निकारागुआ तथा 20 मई, 1954 का होंडुरास के साथ सैनिक समझौता किया। 1948 ई. के "मानव अधिकारों तथा कर्तव्यों की अमेरिकी घोषणा" पर हस्ताक्षर करने, लैटिन अमेरिका में लोकतंत्र की सुरक्षा तथा इसको बनाये रखने का प्रस्ताव, 'बोगोटा का आर्थिक समझौता'; 'अमेरिकी राज्यों के संगठन का चार्टर' पर हस्ताक्षर करते समय इस गोलार्ध की एकता को स्वीकार किया गया। अमेरिका तथा इसके मित्र राष्ट्रों को संगठित रूप से समर्थन देने की व्यवस्था की गयी थी। युद्ध के बाद के समयकाल में अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका के राज्यों के बीच संबंधो को बनाये रखने का एक महत्वपूर्ण साधन OAS ही रहा।एक ओर सकारात्मक रूप से OAS ने लैटिन अमेरिका के राज्यों को अमेरिका से वित्तीय सहायता प्राप्त करने में तथा आपसी सहयोग करने में काफी सहायता की है। जबकि दूसरी ओर नकारात्मक रूप से OAS ने अमेरिका की शीत युद्ध नीति की "लैटिन अमेरिका शाखा" के रूप में कार्य किया। यह लैटिन अमेरिका के राज्यों में अमेरिका का हस्तक्षेप रोकने में असफल रहा।

लैटिन अमेरिकी राज्यों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की नीतियों को लेकर यह कहना गलत नहीं होगा की उनकी नीतियों का स्वरुप हमेशा किसी न किसी रूप में साम्राज्यवादी रहा है। इन नीतियों के माध्यम से अमेरिका ने लैटिन अमेरिका क्षेत्र में अपने प्रभाव को निरंतर बढ़ाने का कम किया है। वहां अपनी कठपुतली सरकारें बनायीं, लैटिन अमेरिकी राज्यों के आतंरिक मामलों में खुला हस्तक्षेप कर उनकी प्रभुसत्ता की अवहेलना भी की और कई अवसरों पर ऐसे युद्ध को जन्म दिया, जिन्हें नैतिक दृष्टि से कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता है। अमेरिका ने लैटिन अमेरिका को अपनी जिम्मेदारी समझ रखा था, तथा उन्हें अपने शिकंजे में जकड़ रखा था। परन्तु क्यूबा जैसे राज्य अमेरिकी प्रभाव से मुक्त होकर स्वाधीन हो गए, तो कुछ ऐसे भी देश हैं, जिनका का भविष्य या अस्तित्व संयुक्त राज्य अमेरिका पर निर्भर करता है।

अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र(1) हैती की सफल क्रांति किस वर्ग ने की थी?

प्र(2) तुपक अमरु विद्रोह कब हुवा था?

प्र(3) नीचे दी गयी जानकारी को सही मिलान करें।

(क)1804 ई. दृ ब्राज़ील की आज़ादी

(ख)1821 ई. - क्यूबा की क्रांति

(ग)1825 ई. -हैती की क्रांति

(घ)1959 ई. -मैक्सिको की आज़ादी

9.7 सारांश

हमने जाना की सोने-चांदी की लूट, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से लेकर बागानों में दास प्रथा से लिप्त नकदी फसलों के उत्पादन तक औपनिवेशिक शक्तियों ने दक्षिण अमेरिका का शोषण किया, यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और धर्म पर भी स्पेन और पुर्तगाल की छाप पड़ी। अमेरिकी और फ्रांस की क्रांतियों से प्रभावित, सभी वर्ग आज़ादी के लिए संघर्षशील थे। उधर उपनिवेशी शक्तियों के आपसी टकराव से भी दक्षिण अमेरिकी देशों को फायदा पहुंचा था। इन उपनिवेशिक शक्तियों से मुक्त होने के साथ ही यह राष्ट्र नव-उपनिवेशीकरण के दौर में पूंजीवादी सयुंक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैंड जैसी शक्तियों के राजनैतिक और आर्थिक दबाब में रहा और दक्षिण अमेरिका का शोषण होता रहा. यहाँ की नयी सरकारें दमनकारी थी अतः यहाँ गृह युद्ध के हालात बने रहे। एक तरफ क्यूबा जैसे राष्ट्र साम्यवादी विचारधारा अपनाते हुए यू.एस.ए के साथ टकराव में हैं,तो दूसरी ओर शीत युद्ध के दौर से ही अनेकों दक्षिण अमेरिकी राष्ट्रों पर सयुंक्त राष्ट्र अमेरिका का हस्तक्षेप है।

9.8 शब्दावली

मोटरसाइकिल डायरीज' प्रसिद्ध चेग्वेरा का संस्मरण, जो उनकी दक्षिण अमेरिका को जानने के लिए की गयी भ्रमण यात्रा के अनुभवों को उजागर करती है। यह बताती है की, कैसे समाज में फैले अत्याचार, गरीबी, कोड़ जैसी बीमारी और साम्यवादियों पर हो रहे जुल्म से विचलित होकर, चे ग्वेरा संकल्प करते हैं कि वह इस सड़ी-गली व्यवस्था से लड़ेंगे। यह संस्मरण दक्षिण अमेरिका की दुर्दशा और खामियों को समझने में मदद करती है, और दर्शाता है कि कैसे वहां साम्यवादी क्रांति पनपी।

OAS अमेरिकी राज्यों का संगठन - एक अंतर-महाद्वीप संगठन है, जो 30 अप्रैल 1948 ई॰ में सदस्य राष्ट्रों में क्षेत्रीय एकता और सहभागिता के लिए स्थापित किया गया था।

शीत युद्धरू सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी खेमे (वारसा संधि) और सयुंक्त राष्ट्र अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी खेमे (नाटो) के बीच शक्ति के लिए संघर्ष जो दूसरे विश्व युद्ध के बाद चला।

बगोटा का आर्थिक समझौतारू नौवें अंतर्राष्ट्रीय अमेरिकन राज्य सम्मलेन 1948 ई में अपनाये गए आर्थिक समझौता, जिसके अनुसार विदेशी निवेशक को नजर में रखते हुए, विदेशी पूंजी की सुरक्षा हेतु सभी राष्ट्रों द्वारा समान और सही बर्ताव किया जाएगा.

9.9अभ्यास प्रश्न उत्तर

उ.1 दास वर्ग ने यहाँ सफल क्रांति कर अश्वेत सरकार बनायीं थी।

उ.2 1780 ई.।

9.10 अध्ययन सामग्री

जैन, हुकुम चंद, माथुर,कृष्ण चंद.आधुनिक विश्व का इतिहास, (1500-2000ई),पंद्रहवां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 2010, पृ.424-427,689-700.

Chasteen, John. Charles, *Americanos: Latin America's Struggle For Independence,* Oxford University Press, 2008, pp. 10,20-28, 47-58, 76,92-97109-126,198.

9.11 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

Frank, Charles Gibson. *Capitalism And Underdevelopment In Latin America*, 1969.
Frank, Andre Gunder. *Capitalism And Underdevelopment In Latin America*, 1969.
Stavenhagen, Rudolfo.*Agrarian Problems And Peasant Movements In Latin America*, 1970.
Furtado, Celso. *The Economic Development of Latin America*, 1973.

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) सयुंक्त राज्य अमेरिका द्वारा दक्षिण अमेरिका में हस्तक्षेप के लिए अपनाई गई नीतियों की चर्चा करें?

प्र(2) दक्षिण अमेरिकी राष्ट्रों की आन्तरिक समस्याओं ने वहां की राजनीति और समाज को कैसे प्रभावित किया?

प्र(3) दक्षिण अमेरिका में साम्राज्यवाद विरोधी जन क्रांतियों की विवेचना करें?

इकाई दस

चीनी क्रांति, दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 चीनी क्रांति

10.3.1 1900 -1901ई॰बॉक्सरविद्रोह

10.3.2 1911 की क्रांति और शाहीराजवंश का अंत

10.3.3 जापान की 'इक्कीस मांगे'

10.3.4 चार मई का आंदोलन

10.4.3.1 स्कूलों में प्रतिरोध

10.4.3.2 जनसाधारण का विद्रोह

10.4.3.3 अमेरिका द्वारा साम्यवादी वियतनाम के दमन का प्रयास

10.3.5 कुओमिंगतांग दल

10.3.6 माओत्से-तुंग और मार्क्सवाद का माओइकरण

10.3.7 सयुंक्त मोर्चा

10.3.8 दूसरा विश्व युद्ध और चीन

10.4 दक्षिण पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन

10.4.1 औपनिवेशिक शासन सुधार या विरोध

10.4.2 इंडोनेशिया स्वतंत्रता आंदोलन

10.4.3 वियतनाम में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन

10.4.3 (क) स्कूलों में प्रतिरोध

10.4.3 (ख) जनसाधारण का विद्रोह

10.4.3(ग) अमेरिका द्वारा साम्यवादी वियतनाम के दमन का प्रयास

10.5 सारांश

10.6 विशेष शब्दावली

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.8 अध्ययन सामग्री

10.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

10.10 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विस्तार और प्रभाव को समझा। हमने देखा था कि साम्राज्यवादी पश्चिमी देशों ने दक्षिण एशिया में किस तरह बीसवीं सदी में कब्ज़ा कर लिया था। ।चीन में अफ़ीम युद्ध के दौर से ही हमने देखा की चीनी शासक वर्ग और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच संघर्ष होता रहा, जब भी संकट आया तो चीन को विदेशी शक्तियों को अनेक बार विशेषाधिकार और कई प्रकार की छूटदेनी पड़ी। साम्राज्यवादी देशों की पूंजीवादी नीतियों का असर चीन की अर्थवयवस्था पर गहरा पड़ा था। जनसाधारण में विद्रोह की भावना जागृत हो रही थीं।

इधर दक्षिण पूर्व एशिया में बर्मा ने अंग्रेजों के खिलाफ तीन लड़ाईयाँ लड़ी लेकिन वो, 1886 ई॰ में आखिरकार उनसे पूरी तरह हार गए। वियतनाम ने भी फ्रांसिसियों को अनेक बार चुनौती दी लेकिन 1863 ई॰ में कम्बोडिया, और 1893 ई॰ में लाओस फ्रांस के कब्ज़े में था जो बाद में इंडो-चाइना बना। थाईलैंड को एक ढाल के रूप में अंग्रेजो और फ्रांसिसियों ने आजाद रखा। बीसवीं सदी तक सारा इंडोनेशिया डचों के अधीन था, मलय प्रायदीप 1824 ई॰ के डच-अंग्रेज़ सहमति से अंग्रेजों के अधीन हो गया था; फिलिपिन्स 1898 ई॰ में स्पेन से तो आज़ाद हुआलेकिन बाद में अमेरिका ने 1901 ई॰ में उसपर कब्ज़ा कर लिया था। इस इकाई में हम इन एशियाई देशों में उपनिवेशी और साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध राष्ट्रवादी आंदोलन और क्रांतियों का अध्ययन करेंगे।

10.2 उद्देश्य

- हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रों में साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशीकरण के कारण हुए राजनातिक परिवर्तन को समझ सकेंगे।
- हम जनसाधारण, विद्यार्थियों एवं नवीन शिक्षा की राष्ट्रीय आंदोलनों में भूमिका समझ सकेंगे।
- हम एशिया के इन देशों में साम्यवाद के उदय को समझ सकेंगे।
- हम साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद को लेकर बीसवीं सदी के विश्व के मिजाज़ को भांप सकेंगे।

10.3 चीनी क्रांति

10.3.1 1900-1901 ई॰ बॉक्सर विद्रोह

चीन की धरती पर सबसे पहला साम्राज्यवाद विरोधी संगठित एवं प्रभावशाली जनसंघर्ष बॉक्सर विद्रोह था। यह एक गुप्त संस्था थी, जिसे सोसाइटी ऑफ़ दी राईटीयस एंड हर्मोनियस फिस्ट कहा जाता था। यह वास्तव में गरीब शोषित किसानो का ही समूह था, जो चीन के शासन की विफलता और बढ़ते विदेशी हस्तक्षेप को अपनी दीनता और कष्टों का कारण समझते थे। इसलिए वह राजवंश और साम्राज्यवादी विदेशी शक्तियों के खिलाफ़ थे। उनके निशाने पर विदेशी और चीनी इसाई थे, और इन्होने रेलमार्ग और स्टेशनों की तोड़ फोड़ की। जैसे ही इन लोगों ने पीकिंग पर कब्ज़ा किया तो चालाक संरक्षिका विधवा महारानी ने विदेशियों पर हमला करने का एलान कर दिया, जिसके चलते

बॉक्सर विद्रोहयों के निशाने में अब सिर्फ विदेशी ही रह गये थे। 1901 ई॰ में आख़िरकार विशेष विदेशी सैन्य-टुकड़ीमंगवाई गई और उसी ने इन उपद्रवियों को हराकर पीकिंग से खदेड़ दिया, इस सैन्य टुकड़ी में कई देशों के सैनिक थे। 7 सितम्बर 1901 ई॰ के बॉक्सर समझौते के चलते चीन की सैन्य शक्ति घटायी गयी, युद्ध के दोषियों को सज़ा मिली,और 330 मिलियन डॉलर हर्जाने के रूप में विदेशियों को देना पड़ा।

10.3.2 1911 की क्रांति और शाहीराजवंश का अंत

डा. सनयात-सेन के नेतृत्व में हुई 1911 की जनवादी क्रांति शाही राजवंश की सत्ता को उखाड़ फेंकने में कामयाब रही थी। सनयात-सेन ने गणतंत्र बनाने के विचार से 1912 ई॰में राष्ट्रीय पार्टी कुओमिंतांग का गठन किया जिसके सिद्धांत राष्ट्रवाद, लोकतंत्र और सामाजिक सुरक्षा थे। लेकिन सनयात-सेन यह जानते थे की सत्ता सँभालने के लिए अभी उनका राष्ट्रवादी दल तैयार नहीं था, साथ ही यह खतरा भी था की, शक्तिशाली शासक न होने के कारण चीन को साम्राज्यवादी देश और भी आसानी से दबा पाएंगे ।इसलिए उन्होंने अपनी मर्जी से यूआन-शिकाई के हाथों में सत्ता दे दी। वह एक शक्तिशाली 'वारलॉर्ड'(सैन्य-सरदार) था।जल्द ही उसके मन में सम्राट बनने की इच्छा घर कर गई और उसने तमाम संवैधानिक राजनीतिक दलों का पतन करना शुरू कर दिया और शासक के रूप में राज करने लगा। हालांकि पूरा चीन प्रान्तीय सैनिक-सरदारों के प्रभुत्व वाले कई राज्योंमें बंट गया। इन सैनिक सरदारों के अधीन सेना को पश्चिमी और आधुनिक रूप से तैयार किया गया लेकिन देश में आर्थिक और सामाजिक स्थिति ख़राब होती गयी किसानो परअतिरिक्त करों का दबाब बढ़ने लगा और चीन के किसानो का शोषण होता रहा।1911 की क्रांति की सबसे बड़ी कामयाबी लोकतांत्रिक और संवैधानिक सरकार के मार्ग को तैयार करना था.

10.3.3 जापान की 'इक्कीस मांगे

1915 ई॰ में जापान ने युआनशी-काई के सामने जापान की 21 बेहद कठोर मांगे रखी थी, जिसके चलते पूरा चीन जापान के सरंक्षण में आ जाता।यह मांगे पांच भागों में रखी गयी थी, पहला भाग शांदोंग पर जापान के अधिकार को लेकर था।दूसरी मांग जापान ने चीन के मंचूरिया और मंगोलिया के भागों में विस्तृत व्यापारिक, औदयोगिक और निवास के अधिकार को लेकरथी, तीसरी मांग के अनुसार जापान को चीन के सबसे बड़े लोहा और खनिज उद्योग कंपनी हान-येह-पिंग में भागीदारी चाहिए थी, वास्तव में इसके चलते यहाँ जापान का ही असली नियंत्रण हो जाता। चौथी मांग के अनुसार चीन से कहा गया था की वह जापान के अतिरिक्त किसी भी देश या शक्ति को चीन के बंदरगाह, तट और द्वीप आय हेतु या अन्य उपयोग के लिए ना दे। पाचवीं मांग सबसे शर्मिंदा करने वाली थी, इसके अनुसार चीन को जापान के अधीन लाने के लिए, चीनी सलाहकारों को जापान के संपर्क में रहना था ताकि वह उनका इस्तेमाल कर सकें, चीन में हथियारों के कारखाने लगाना और चीन जापान से ही हथियार खरीदें, जापान का मध्य चीन में रेलमार्ग निर्माण पर अधिकार हो तथा चीन किसी भी देश से पैसे या क़र्ज़ लेने से पहले हमेशा जापान से पूछे।जापान के बढ़ते हुए दबाव के कारण चीन को ज्यादातर मांगे माननी पड़ी, हालांकि पांचवें भाग की मांगो को टाल दिया गया।यही नहीं इन मांगो के तीन महीने बाद ही युआनशी-काई ने खुद को सम्राट घोषित कर दिया। ऐसे घटनाओं ने चीन में राजनीतिक भूचाल पैदा कर दिया था। लोगों में राष्ट्रवाद की भावना साम्राज्यवाद के खिलाफ़ आंदोलन करने को तत्पर थी।

10.3.4 चार मई का आंदोलन

1915-1921 ई॰ के बीच घटित 'नयी संस्कृति के आंदोलन' को ही 4 मई आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। यह आंदोलन विद्यार्थियों के साम्राज्यवाद विरोधी, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रदर्शनों से ही शुरू हुआ था। 4 मई 1919ई॰में 13 विश्वविद्यालयके प्रतिनिधियों ने मिलकर एक प्रस्ताव तैयार किया,लगभग तीन हज़ार विद्यार्थियों ने तयानआनमेन चौक में हस्तलिखित पर्चों के जरिये अपने विरोध को व्यक्त किया कि, देशद्रोहियों ने जिस तरह देश का सौदा और अपमान किया है, उसे वह बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करेंगे। यह पत्र विदेश मंत्रियो के लिए छोड़े गए, उसके बाद उन्होंने उन तीन कैबिनेट मंत्रियों का घेराव किया जिन्होंने जापान के साथ गुप्त समझौता किया था।जनता में जापान से चीन की हार और बाद में 1915 ई॰ में जापान की 'इक्कीस मांगो' को लेकर भारी आक्रोश था।लोगों ने चीनी सरकार का वर्साय की संधि के प्रति असहनशील रवैये का विरोध किया था, जिसके चलते जापान को शांदोंग का क्षेत्र मिला था। हालांकि चीन ने पहले विश्व युद्ध में इसी शर्त के चलते भागीदारी की थी की उसे चीन में जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्र वाले इलाके वापस मिल जायेंगे। चीन से लाखों की संख्या में मजदूरों को अंग्रेज़ सेना के साथ लड़ने के लिए फ्रांस भेजा गया था। लेकिन चीन अपने ही हितों की रक्षा नहीं कर पाया और वर्साय की संधि को कोई चुनौती नहीं दी, इस छल कपट के कारण चीनी सरकार और साम्राज्यवादी देशों के खिलाफ़ विरोध हुआ और राष्ट्रवाद की लहर दौड़ पड़ी। धीरे-धीरे इस आंदोलन के केंद्र में राजनीतिक विचारों का प्रसार मुख्य हो गया और अब यह बुद्धिजीवियों का ही नहीं, वरन जन साधारण का भी आंदोलन हो गया था जिसने भविष्य के नेताओं को पैदा किया।

10.3.5 कुओमिंगतांग दल

शुरू-शुरू में कूओमिंगतांग दल साम्यवादी विचारधारा के साथ आगे बड़ा, 1923 ई॰ में रुसी साम्यवादी सरकार से समझौते के चलते सनयात-सेन ने घोषणा की कि- "हमें (पश्चिमी) शक्तियों से कोई आशा नहीं रह गयी है, हमने उनसे प्रेरणाप्राप्त करना बंद कर दिया है। अब हमारी समस्त आशा रूस के सहयोग से फलीभूत होगी क्योंकि हमें रूस की सहायता पर अधिक विश्वास है"। रुसी आदर्श के आधार पर चीन में अनेकों जगह कुओमिंगतांग की शाखाओं को स्थापित किया गया।लेकिन सनयात-सेन की मृत्यु के बाद दल में सैधान्तिकमतभेद उत्पन हुए, खासकर रूस के साथ कैसे संबंध रखे जाएँ इस बात पर मतभेद था।

च्यांगकाई-शेक ने साम्यवादी सदस्यों को संस्था से निकालने के बाद 1928 ई॰ में पीकिंग पर अधिकार कर राष्ट्रवादी दल के अंतर्गत चीन को फिर से एक करने की कोशिश की। 1931 ई॰ में साम्यवादी दलों का प्रमुख केंद्र कियांग्सी था।यहाँ साम्यवादी सरकार का गठन हुआ जबकि नानकिंग में कुओमिंगतांग की सरकार का केंद्र था। च्यांगकाई-शेक ने 1933 ई॰ में चार बार कियांग्सी की साम्यवादी सरकार पर हमला कर उसे ख़त्म करना चाहा लेकिन वह विफल रहा। 1934 ई॰ में लाखों साम्यवादी लोगों को मौत के घाट उतारा गया। फासिस्ट ढंग की नीली-कुर्ती नाम से एक आंतकी दल भी साम्यवादियों के दमन के लिए खड़ा किया गया था।च्यांगकाई-शेक पश्चिमी शक्तियों का सहारा लेकर चीन में साम्यवाद का सफाया कर अपनी सत्ता बढ़ा रहा था, लेकिन 1937 ई॰ में जापान ने चीन पर कब्ज़ा कर लिया और दूसरे विश्वयुद्ध तक चीन उससे उलझा रहा।वास्तव में कुओमिंगतांग सरकार ना तो गाँव के किसानो की समस्या सुलझा

पाई थी, ना तो शहरों की समस्या का निदान कर पाई थी।अपनी पुस्तक ओरिजिन ऑफ़ दी चाइनीस रेवोलुशन 1915-1949 ई॰ में लुसियन बिअंको ने लिखा है की -

"Discontent and the bankruptcy of rural society created an ineÛhaustible supply of potential revolutionaries] but it was the Chinese communist party that gave this blind force purpose and direction."

गाँव में किसानों का असंतोष भूस्वामियों से था, जिनके लगान और अत्याचार से किसान ग्रस्त थे। शहरों में मजदूर अपने लम्बे काम के घंटों, कम वेतन, दुर्घटनाओं और कामकाज करने वाली जगहों की अव्यवस्था के चलते बीमारियां फैलने से परेशान था।जिसके चलते लोग साम्यवादियों की ओर उम्मीद से बढ़े।

10.3.6 माओत्से-तुंग और मार्क्सवाद का माओइकरण

माओत्से-तुंग , मार्क्सवादी विचारधारा से 4 मई के आन्दोलन के दौरान ही अवगत हो चुका था। जुलाई, 1919 ई॰ में ही माओ ने हुनान से एक पत्रिका निकालनी आरम्भ की और 1920 ई॰ की गर्मियों में क्रांतिकारी विचारों को फैलाने के लिए माओ ने एक सांस्कृतिक अध्ययन सोसायटी संगठित की। 1920 ई॰ में उन्होंने च्याघशा में साम्यवादी वर्ग भी कायम किये। 1921 ई॰ में चीन में साम्यवादी दल की स्थापना हुई। पहले के कुछ वर्षों के दौरान चीनी समाज की प्रकृति और चीनी क्रांति के स्वरूप सही तरह ना भांपने के कारण चीनी साम्यवादियों को लगातार कई हारों का सामना करना पढ़ रहा था। उनका सैनिक बलऔर राजनैतिक ठिकानों पर लगातार हमले हो रहे थे और वह कुओमिंगतांग की सेनाओं से घिर गए; साम्यवादी दल और राजनीति लगभग समाप्त होने की कगार तक पहुँच गयी थी लेकिन इस मुश्किलघड़ी से क्रांति को बाहर निकाल, सफलता से आगे बढ़ाने में माओ ने मंजे हुए नेता के अपने गुणों को प्रस्तुत किया।

माओत्से-तुंग ने चीनी साम्यवादी दलों की विफलता और उनके नगरीय ठिकानो पर हो रहे लगातार हमलों से यह जल्द ही यह भांप लिया की चीन जैसे बहुसंख्यक किसान आबादी वाले क्षेत्र जहाँ की 80ः से भी ज्यादा जनता किसानों की थी, वहां अगर साम्यवाद लाना है तो उसके नायक किसान ही हो सकते हैं, क्योंकि वह गाँव में बसते हैं इसलिए गाँव ही इस क्रांति का केंद्र हो सकते थे।रूसी क्रांति और साम्यवादी संघठन को हुबहू चीन में लागू नहीं किया जा सका था। माओ के दिशा निर्देश में चीन में लंबी अवधी के संगर्ष, जनसाधारण को युद्ध से सीधे जोड़ने जैसे राजनीतिक एवं सैनिक फैसलें मुश्किलक्रांतिकारी संघर्षों के समय सामने आये और सफल रहे।

चीन में च्यांगकाई-शेक की शक्ति से बचने के लिए लाल सेना ने ऐतिहासिक लम्बे अभियान की शुरुआत की गयी, अक्टूबर, 1934 ई॰ में शुरू हुए इस महा-अभियान के दौरान लाल सेना ने लगभग हरदिन दुश्मनों से मुकाबला करते हुए 6,000 मील की यात्रा 12 प्रान्तों, 18 पहाड़ों और 24 नदियों को पार करते हुए 13 महीनों में पूरी की। 1,60,000 लोगों में से सिर्फ 8,000 लोग ही शान्सी पहुँचने तक बचे रहे। श्लम्बे अभियानश् ने साम्यवादीयों की इस लड़ाई को आम वर्ग की लड़ाई बना दिया था। माओ के अधीन साम्यवादी दल ने जो सैनिक टुकड़ियाँ बनायीं उनको कठिन अनुशासन में रखा जाता था, जनता के दिलों को जीतने के लिए वह जिस भी गाँव कस्बे में जाते वहां किसी भी तरह से

लूटपाट, दुर्व्यवहार और जुल्म नहीं करते थे। बल्कि वह वहां के समाज से जुड़ कर उनको अपने शोषण के खिलाफ़ लड़ने को तैयार करते, वह अपने खाने-पीने के लिए भी वहां के लोगों परआश्रित रहते, इस तरह विश्वास जीत कर लोगों को सैनिक लड़ाई की शिक्षा दी गयी। पिसता हुआ कृषक समाज जब माओ की विचारधारा से जुड़ गया तो वह अपने संघर्षके लिए उठ खड़ा हुआ और लाल सेना से कदम से कदम मिलाने लगे।

10.3.7 संयुक्त मोर्चा

जापान की शक्ति का सामना गृह युद्ध के दौर में आपस में लड़कर नहीं किया जा सकता था। 1936 ई॰ में साम्राज्यवादी जापान को देश से बाहर निकालने के लिए माओ ने कुओमिंगतान से सहभागिता करने का एक त्रि-सूत्री कार्यक्रम तैयार किया, -

1) विदेशी आक्रमण का मिलकर मुकाबला करना
2) चीन में लोकतांत्रिक सरकार का गठन करके जनता को शासन सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना और
3) देश की वित्त-व्यवस्था में आवश्यक सुधार करके किसानों की दशा सुधारने का प्रयत्न करना।

उधर च्यांगकई-शेक साम्यवादियों से कोई समझौता नहीं करना चाहता था। वह यह समझता था की राष्ट्रीय एकता साम्यवादी शक्तियों के पतन से पहले नहीं हो सकती , और इसलिए जापान को वह नहीं हरा सकता।लेकिन चीन में अब गृह युद्ध बंद कर, जापान को हराने का लोकमत तैयार हो चुका था अतः च्यांगकई-शेक को साम्यवादियों के साथ समझौता करना पड़ा।

10 फरवरी 1937 ई॰ को दोनों दलों में निम्न बातों के लिए समझौता हुआ-

1) उत्तर-पश्चिम चीन के जिन प्रदेशों पर साम्यवादियों का अधिकार है, वहां पर उनका शासन ही कायम होगा।
2) इन प्रदेशों में साम्यवादियों की अपनी स्वतंत्र व पृथक सत्ता रहेगी, जो चीन के अंतर्गत रहते हुए भी शासन की दृष्टि से साम्यवादियों के अधीन होगा।
3) साम्यवादी सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का ही एक अंग मान लिया गया और साम्यवादी सेनापति जापान के साथ युद्ध करते हुए च्यांगकाई-शेक के आदेशों का पालन करेंगे।साम्यवादी सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना में आठवीं सेना का नाम दिया गया।

सयुंक्त मोर्चा खोलने के बाद भी 1937 ई॰ में चीन-जापान युद्ध में जापान ने चीन को हरा दिया, नानकिंग पर जापान का कब्ज़ा हो गया। च्यांगकाई-शेक को इसलिये चुंगकिंग को अपनी राजधानी बनाना पड़ा।

10.3.8 दूसरा विश्व युद्ध और चीन

दूसरा विश्व युद्ध के चलते चीन में राजनीतिक स्थिति और भी पेचीदा हो गयी थी। चीन में तीन तीन सरकारें कायम हो गयी, जापान के अधीन मंचूरिया, 'मंचूकाओ' के नाम से एक स्वतंत्र राज्य बन गया था, यहाँ नानकिंग को राजधानी बना कर स्वतंत्र सरकार बनाई गयी। च्यांग्काई-शेक के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार थी, जिसकी राजधानी चुंगकिंग थी। और तीसरी सरकार माओ के नेतृत्व में साम्यवादियों की उत्तर पश्चिम चीन में थी, जिसकी राजधानी येनान थी।

चीन के सारे समुंद्री तटों पर जापान का नियंत्रण था, लेकिन साम्यवादियों, और जापान को चीन में अपने प्रभाव को फैलाने से रोकने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका ने हवाई सुविधाओं से च्यांग्काई-शेक को युद्ध सामग्री की सहायता दी। च्यांगकाई-शेक की सरकार को अपने पक्ष में करने के लिए 11 जनवरी 1943 ई॰ को अमेरिका और ब्रिटेन ने एक संधि की, जिसके अनुसार 'एक्स्ट्रा-टेरीटोरिऐलिटी' की नीति का चीन में अंत कर दिया गया।इसके अलावा उन्हें प्राप्त अन्य प्रकार के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया गया।साथ ही यह भी मान लिया गया कि चीन राजनैतिक रूप से पश्चिमी देशों के बराबर हैसियत का है और एक शक्तिशाली राष्ट्र है, यहाँ तक की सयुंक्त राष्ट्र संघ के गठन होने पर सुरक्षा परिषद में चीन को भी स्थायी रूप से सदस्यता प्रदान की गयी।

इस बीच 1945 ई॰ में जापान के आत्मसमर्पण के बाद दूसरे विश्व युद्ध का अंत हुआ और जापान के अधीन क्षेत्र पर अधिकार को लेकर समस्या खड़ी हो गयी। अब तक च्यांगकाई-शेक काफी अलोकप्रिय हो गया था। क्योंकि कोओमिंगतांग सरकार ने राष्ट्रीय अर्थवयवस्था और संचार साधनों के पुनर्निर्माण पर कोई ध्यान नहीं दिया था।जबकि साम्यवादी सरकार के अधीन भू-स्वामित्व के मामलों में संशोधन किया गया, कृषि के अधीन ज्यादा भूमि लायी गयी, खेतिहरों के भूमि प्रयोग पर लगने वाले लगान की दर और पैदावार से लिऐ जानेवाले हिस्से में कमी की गयी और किसानों के भू-स्वामित्व अधिकार को अधिक मान्यता दी।सभी तरफ से समर्थन प्राप्त करने के लिए साम्यवादी दल नए लोकतंत्र और भूमि सुधार का प्रचार कर रहे थे। आख़िरकार तानाशाह जापानी सेना, अमेरिकी जैसे पूंजीवादी देशों के समर्थन वाली च्यांगकाई-शेक की सत्ता को हराकर 1 अक्टूबर, 1949 ई॰में माओ के नेतृत्व में साम्यवादी दल ने अधिकांश चीन में सरकार कायम करली।यद्यपिहांगकांग, ताइवान और मकाओ उसके दायरे से बाहर ही रहा।

10.4 दक्षिण पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन

10.4.1 औपनिवेशिक शासन सुधार या विरोध

शुरूआती दौर में बहुत से उपनिवेशों में लोग इस बात को लेकर अलग-अलग रहे की विदेशी शासन का पूर्ण विरोध करें या उसमे सुधार लाकर उसे अपना लिया जाए।औपनिवेशिक शासन के अधीन समाज का एक वर्ग सीधे-सीधे एकीकरण और सहभागिता की प्रक्रिया में उपनिवेशी शक्तियों के सहायक रहे, वह पश्चिमी संभ्रांत वर्ग की नक़ल करते रहे, यूरोपीय शिक्षा पाकर वो निम्न-प्रसाशनिक पदों पर काम करते रहे और अपनी बड़ी हुई हैसियत से खुश थे।बहुत से सुधारवादी नवीन शिक्षा पाकर यूरोपियों के साथ काम करके स्वायत्ता चाहते थे। सुधारवादी मंशा वाले अधिकांश पढ़े-लिखे व्यक्ति अच्छी आय के साथ अच्छा जीवन चाहते थे,वो इसलिए अपने लिए यूरोपियो से भी सम्मान तथा समान आचरण की अपेक्षा करते थे।यह लोग निम्न वर्गों के प्रति संवेदनशील नहीं थे, इसलिये उनके सुधारवादी तरीकों से निम्नवर्ग को लाभ नहीं पहुँचने वाला था और ना ही वर्ग आधारित समाज बदलने वाला था। जन साधारण को शिक्षा, रोज़गार, और राजनैतिक प्रतिनिधित्व का अवसर भेदभाव से लिप्त मिलाथा, जिसके चलते जन आक्रोश बढ़ता गया।

वहीं दूसरा वर्ग पश्चिमी शिक्षा लेकर भी यूरोपीय देशों का विरोध करना चाहताथा। वह दमनकारी उपनिवेशी शक्तियों को किसी भी प्रकार की सहभागिता के पक्षधर नहीं थे। यहाँ बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में साम्यवाद का उदय हुआजिसका उद्देश्य औपनिवेशिक शक्तियों को जड़ से उखाड़ फेंकना था ।

1905 ई॰ में जापान की रूस पर विजय ने दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रों में नया विश्वास भर दिया जापान उनके लिए एक नायक के रूप में उबरा और यहाँ के राष्ट्रवादी नेताओं का गढ़ बना। सांस्कृतिक, धार्मिक पहचान के भाव का भी उपनिवेशी शक्तियों के विरुद्ध प्रभाव सामने आया; फिलीपींस में फ्रिअर्स स्पैनिश सत्ता का प्रतिनिधित्व करता था तथा धर्मनिरपेक्ष पादरी मूल निवासियों के समर्थन में थे, बर्मा,कम्बोडिया और लाओस में थेरावादी बुद्धिस्ट संघ औपनिवेशिक शक्तियों के प्रतिरोध के केंद्र बने । इंडोनेशिया, मलेशिया तथा दक्षिणी फिलीपींस में मुस्लिम उलेमा वर्ग ने औपनिवेशिक शक्ति के विरोध में समर्थन बढ़ाने का काम किया।

10.4.2 इंडोनेशिया स्वतंत्रता आंदोलन

बीसवीं सदी में इंडोनेशिया मेंभी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन आरंभ हुआ। आधुनिक शिक्षा प्राप्त इण्डोनेशियाई अपने देश में समानता, स्वतंत्रता और उदारवाद चाहते थे, 1908 ई॰ में 'बुदी उतोमो' नामक पहली राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य इंडोनेशिया में राष्ट्रीय स्तर पर स्कूलों की स्थापना करना था।वहीं1911 ई॰ में व्यापारिक हितों को प्रोत्साहन देने, आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिए शरीयत नामक संस्था का गठन हुआ। यह संस्था संवैधानिक माध्यम से स्वायत्त शासन स्थापित करना चाहती थी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उपनिवेश बने देशों की तरह यहाँ भी राष्ट्रवादी आंदोलन की गति तीव्र हुई।यहाँ कई विद्रोह हुए, 1920 ई॰ में डच शासन के खिलाफ़ जावा और सुमात्रा मे विद्रोह आरंभ हुआ।

डच सरकार ने 1927 ई॰ में साम्यवादियों द्वारा आयोजित राजद्रोह को कठोरतापूर्वक दबा दिया।इसी वर्ष डॉसुकर्ना के नेतृत्व में एक इंडोनेशिया राष्ट्रीय पार्टी का गठन किया गया, हालांकि इसे 1945 ई॰ तक संगठन के रूप में मान्यता नहीं दी गई। दूसरे विश्व युद्ध के पहले से ही डच सरकार पर भरी दबाव था कि वो सरकार इंडोनेशिया के लोगों की मर्ज़ी पूछें। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जापान के डच शासन से इस देश को मुक्त कर दिया, वहां जापान का सैनिक शासन हो गया, लेकिन दूसरे विश्व युद्ध में जैसे ही जापान की हार हुई, तो उसके बाद मित्र सेनाओं के कब्जे में आये हुए क्षेत्रों को डच सरकार को दे दिया गया। किन्तु जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों पर इंडोनेशियन रिपब्लिक का शासन चलता रहा।

25 मार्च 1947 ई॰ को इंडोनेशिया तथा डच सरकार के मध्य समझौता हुआजिसको लिंगायती समझौता कहते हैं। इस समझौते के अनुसार रिपब्लिक सरकार के अधीन क्षेत्रों को इन्डोनेशियाई रिपब्लिक के रूप में मान्यता प्राप्त होगी। दक्षिणपूर्व के जो डच अधीन क्षेत्र थे उनको भी इन्डोनेशियाई रिपब्लिक के साथ मिलाकर इंडोनेशिया का स्वतंत्र राज्य संघ बनाया गया। और 1 जनवरी 1949 ई॰ तक डच और मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ हटाने की योजना थी।हालांकि 1947 ई॰ में डच और इन्डोनेशियाई रिपब्लिक के बीच फिर से टकराव हो गया, डच सेना ने सुकर्ना सरकार को हराकर जावा, सुमात्रा और मदुरा पर कब्जा करने की कोशिश की। सयुंक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से विश्व स्थर पर बढ़ते दबाब के कारण साम्राज्यवादी डचशक्ति ठीली पड़ी।अंततः 'हेग सम्मेलन' में इंडोनेशिया को राज्य संघ माना गया और इन्डोनेशियाई रिपब्लिक को नियंत्रण के अधिकार दिए गए। डच और इंडोनेशिया दोनों को समान अधिकार और लोकतांत्रिक सरकार चलाने का अधिकार दिया गया।27 दिसम्बर 1949 ई॰ को डचों ने इन्डोनेशियाई सयुंक्त राज्य को

सत्ता का हस्तांतरण कर दिया और 1963 ई॰ में पश्चिमी न्यूगिनी के विलय के बाद इंडोनेशिया के समस्त क्षेत्रों से डच प्रभुत्व ख़त्म हो गया।

10.4.3 वियतनाम में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन

वियतनाम में राष्ट्रीयता का उदय बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही हो गया था। 1904-1905 ई॰ में जब जापान ने रूस को हरा दिया था, तो उसका प्रभाव अन्य एशियाई देशों की तरह वियतनाम पर भी पड़ा था।हनोई विश्वविद्यालय बंद करने की बात हो या पहले विश्व युद्ध के दौरान अन्नम वासियों को मजदूरों और सैनिक के रूप में उपयोग करने की बात हो, यहाँ के लोगों में फ्रांस के नकारात्मक शासन के प्रति आक्रोस बढता गया। लोगों में अपने देश के लिए कुछ कर गुजरने की इच्छाएं मजबूत होती गयी।फ्रांसिसी क्रांति के उदार विचार,सिद्धांत और पश्चिमी दार्शनिकों का भी बुद्धिजीवी वर्ग पर गहरा प्रभाव हुआ था।

10.4.3.1 स्कूलों में प्रतिरोध

जैसा की हम जानते हैंकि अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों की तरह फ्रांसिसी सरकार ने वियतनाम के स्कूलों के पाठ्यक्रम को अपने अनुकूल बनाकर अपने शासन को सही साबित करने का प्रयास किया था। लेकिन शिक्षकों और छात्रों ने अंधे होकर पाठ्यक्रम को नहीं अपनाया बल्कि कई बार यहाँ सीधे विरोध भी देखने को मिलते हैं। 1920 ई॰ में साइगॉन नेटिव गर्ल्स स्कूल में ऐसा ही हुआ, जब एक स्थानीय लड़की ने फ्रांसिस विद्यार्थी के लिए आगे की अपनी सीट छोड़ने से मना कर दिया तो वहां बवाल हो गया, कई विद्यार्थियों ने उसका साथ दिया, जितने भी विद्यार्थी इसमें शामिल थे उन्हें भी स्कूल से निकाल दिया गया। बाद में बढ़ते हुए आक्रोश को देखते हुए वियतनामी छात्रों को वापस लिया गया। पढ़े-लिखे छात्रों ने अच्छी नौकरियां पाने के अधिकार के लिए, समाज के प्रति जिम्मेदारी के कारण उपनिवेशी व्यवस्था का विरोध शुरू कर दिया था।1920 ई॰ से ही छात्र कई राजनीतिक दल बनाने लगे और पाठशालाएं राजनीतिक-सांस्कृतिक संघर्ष के अखाड़ों में तब्दील होने लगीं और वह "अन्नानिस स्टूडेंट" जैसी पत्रिकाएं भी निकालने लगे। 'पार्टी ऑफ़ यंग अन्नान' इसी तरह छात्रों का एक राजनैतिक दल था। पढ़ा-लिखा वर्ग यह भली- भांति समझ गया की उनकी परम्पराओं और राष्ट्रीय पहचान को खतरा है। विद्यार्थी देशभक्ति की भावना से प्रेरित थे, उनको यह आभास था कि शिक्षित लोगों को समाज के भले के लिए कुछ करना चाहिए।

10.4.3.2 जनसाधारण का विद्रोह

होआ हाओ दृ 1939 ई॰ में शुरू हुआ होआ हाओ एक धार्मिक प्रवृति का आंदोलन था। मेकोंग डेल्टा क्षेत्र में यह बहुत लोकप्रिय रहा। इसके संस्थापक का नाम हुइन्ह फू सो था जो जादू-टोना भी करता था, सदाचार की भावना और गरीबों की मदद करने के कारण वह लोकप्रिय था। उसने स्त्रियों के व्यापार, शराब व अफ़ीम का विरोध किया। फू को पागल घोषित कर फ्रांसीसी सरकार ने आंदोलन को दबाने का प्रयास किया लेकिन वह सफल न हो सके, परन्तु 1941 में उन्हें वियतनाम के बाहर कर लाओस भेज दिया गया और इस आंदोलन को कुचलने के लिए इसके अनुयायियों को यातना शिविर में डाल दिया गया।

फान बोईदृचाऊ (1867-1940 ई०)महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी थे। 1903 ई० में उन्होंने दुई तान होई नामक पार्टी का गठन किया था।वह राजवंश के सुधारवादी नेतृत्व की क्षमता पर यकीन रखते थे,लेकिनऐसे ही अन्य राष्ट्रवादी फान चू त्रिन्ह (1871-1926 ई०) राजतंत्र के खिलाफ़ थे। वह एक लोकतान्त्रिक सरकार के पक्षधर थे तथा राजवंश की सहायता लेने के पक्ष में नहीं थे। बीसवीं सदी के पहले दशक में "पूरब की ओर चलें" आंदोलन अच्छी तरह चला। 1907-1908 ई० में लगभग 300 वियतनामी विद्यार्थी आधुनिक शिक्षा प्राप्ति के लिए जापान गए। वे लोग फ्रांस से आजादी पाने के लिए बेताब और बेहद कार्यशील थे। जापान में उन्होंने रेस्टोरेशन सोसाइटी की स्थापना कर ली थी। फरवरी 1930 ई० में हो ची मिन्ह ने राष्ट्रवादी लोगों को एकजुट कर वियतनामी साम्यवादीपार्टी की स्थापना की।

1940 ई० में जापान का कब्ज़ा वियतनाम पर हो गया, अब वियतनामियों को फ्रांस के साथ जापान का भी सामना करना था, जो कभी उनके लिए आदर्श और सहयोगी देश था। (वियत मिन्ह) लीग फॉर दी इंडिपेंडन्स ऑफ़ वियतनाम ने जापानी कब्जे से 1945 ई० में हनोई को आज़ाद करा लिया था।जापान ने अपनी सेना वापस बुला लीं, लेकिन फ्रांस के लिए अब यहाँ अपनी सरकार बनाना संभव ना था। इस अवसर का लाभ उठा कर राष्ट्रवादी देशभक्तों ने हिन्द-चीन की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।इसके बाद वियतनाम लोकत्रांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गयी। नए गणराज्य का फ्रांस के साथ आठ वर्ष तक संघर्ष हुआ। बाद में विएन फू के मोर्चे पर फ्रांस को मुंह की खानी पड़ी।

'वियेत मिन्ह' सेना ने फ्रांसीसी एक्सपीडिशनिरी कोर के बहुत सारे सैनिकों को मार गिराया और हजारों को कैद कर लिया। फ्रांसीसियों की हार के बाद, जिनेवा शान्ति वार्ता के चलते वियतनाम का उत्तर एवं दक्षिण वियतनाम में बाँट दिया गया। उत्तर में हो ची मिन्ह और साम्यवादियों की सत्ता बन गयी थी। दक्षिण में अब भी फ्रांसीसी बाओदाई की सत्ता बनी रही। उत्तरी वियतनाम में हो ची मिन्ह के नेतृत्व वाली सरकार की सहायता से एन.एल.एफ ने देश के एकीकरण के लिए आवाज़ उठाई।

10.4.3.3 अमेरिका द्वारा साम्यवादी वियतनाम के दमन का प्रयास

वियतनाम के समाजवादी होने के भय से अमेरिका ने वियतनाम में हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया। अमेरिका ने लगभग 35 लाख सैनिक वियतनाम में भेजें। जिसमें लगभग 47 हज़ार सैनिकों की मृत्यु हो गयी और 3 लाख घायल हो गए। अमेरिका पूरे दम से वियतनाम पर टूट पड़ा था। रसायनिक हथियारों का बेतहाशा इस्तेमाल किया गया, जिसके चलते गाँव और जंगल नष्ट हो गए। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका ने वियतनाम में बमों और रसायनिक हथियारों का प्रयोग इतनी संख्या में किया था जितने हथियारों का इस्तेमाल दूसरे विश्व युद्ध में भी नहीं हुआ था।अमेरिका ने हद पार कर युद्ध में रसायनिक तत्वों का भी प्रयोग किया वह वियतनाम को किसी भी कीमत पर जीतना चाहता था। अमेरिका में विकसित 'नापाम' नामक एक आर्गेनिक कंपाउंड को इस युद्ध के दौरान अग्नि बमों के लिए, गैसोलीन फूलने के उपयोग में लाया गया था।इसी तरह 1961-1971 ई० में 'एजेंट ऑरेंज' नामक घातक रसायन का उपयोगजंगलों पेड़-पौधों को झाड़ने के लिए किया गया, ताकि वियतनामी सेना को ढूँढा जा सके। इस रसायन के उपयोग से बहूत से खेत बंजर हो गये, ऐसे रसायनों के उपयोग से वियतनाम में कैंसर और अनुवांशिक विकलांगता जैसे दुष्प्रभाव भी पैदा हो गए।

हो ची मिन्ह भूल भुलैया मार्ग से होते हुए अमेरिका से लोहा लेते हुए वियतनामी सैनिक दक्षिण वियतनाम को जाते थे, इश मार्ग की सप्लाई लाइन काटने के लिए अमेरिका ने वियतनाम पर भारी बमबारी की, लेकिनफिर भी वह उनकी रसद, सैनिक और चिकित्सा सुविधाओं और बंदोबस्त को नहीं रोक पाए।जनसाधारण ने भी इसमें एहम भूमिका निभाई, बिना किसी वेतन के लोग दिन रात सैनिकों को सहायता देते रहे, वह हर बार टूटे हुए मार्ग की मरम्मत तुरंत कर देते जिसके चलते यातायात सुचारू रहता था।अमेरिका का घोर विरोध हो रहा था, और इस युद्ध में वह पूरी तरह से विफल रहा था।अमेरिका की सरकारी नीति के खिलाफ़ बड़े पैमाने पर विरोध ने इस युद्ध को ख़त्म करने की कोशिशों को और तीव्र कर दिया था, 1974 की पेरिस शांति समझौते के बाद यह युद्ध ख़त्म हुआ, और 30 अप्रैल 1975 को एनएलएफ ने राष्ट्रपति के महल को अपने कब्ज़े में लेलिया, और वियतनाम का एकीकरण कर उसे एक राष्ट्र बना दिया।

अभ्यास एवं बोध-प्रश्न

प्र(1) निम्नलिखित तथ्यों का सही मिलान करें।

(क)1941 ई॰ दृ (1) स्कॉलर्स रिवोल्ट

(ख)1868 ई॰ दृ (2)लिंगायती समझौता

(ग)1947ई॰ - (3) वियेत-मिन्ह संगठन

(घ) 1927 ई॰दृ (4) इंडोनेशिया राष्ट्रीय पार्टी का गठन

प्र(2) जापान ने कब और किसके सामने 21 मांगे रखी थी?

प्र(3) सोसाइटी ऑफ़ दी राईटीयस एंड हर्मा ेनियस फिस्ट नमक ख़ुफ़िया संगठन किस विद्रोह में शामिल था?

प्र(4) रिक्त स्थानों को भरें-

(क) अक्टूबर -----में ऐतिहासिक श्लम्बे अभियानश् की शुरुआत की गयी।

(ख) 11 जनवरी 1943 ई॰ को अमेरिका और ब्रिटेन ने एक संधि कर-----की नीति का चीन में अंत कर दिया गया।

10.5 सारांश

जैसा की हमने समझा एशियाई देशों ने औपनिवेशिक व साम्राज्यवादी शक्तियों के दमन के खिलाफ़ प्रतिक्रियात्मक विरोध उपद्रव और बाद में सुनियोजित आंदोलन एवं राजनैतिक दलों का निर्माण कर न सिर्फ राजशाही से आज़ादी प्राप्त की बल्कि अपने देशों में गणतांत्रिक संवैधानिक सरकारें बनायीं। हमने यह भी समझा की कैसे बुद्धिजीवी वर्ग, विधार्थियों एवं कुलीन वर्ग ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर अपने देश में नयी क्रांतियों एवं आंदोलनों को संचालित किया था। राष्ट्रवाद की भावना ने लोगों को संगठित रखा और अपनी पहचान बनाये रखने के संघर्षभी किया। हमने देखा की कैसे साम्यवाद ने साम्राज्यवादी शक्तियों का मुकाबला कर जन संगर्ष किया। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से ही शीत युद्ध के दौरान साम्यवाद और पूंजीवादी विचारधारा के बीच के राजनैतिक और आर्थिक टकराव ने एशियाई देशों को युद्ध जैसे हालातों में झोंक रखा था।

10.6 विशेष शब्दावली

कोओमिंगतांग: चीन का राष्ट्रवादी, क्रांतिकारी दल जिसको राजनैतिक लोकतंत्र और समाजवाद की स्थापना के लिए मुख्य रूप से सनयात-सेन ने संगठित किया था। मूलतः 1895 ई॰ में इसकी स्थापना हुई थी, 1926-27 ई॰ में लगभग सम्पूर्ण चीन में इसका वर्चस्व था। 1925 ई॰ के बाद च्यांग कई-शेक के हाथों में इस संगठन की डोर आ गई थी। 1949 ई॰ में चीन की भूमि से हटकर यह ताइवान में ही सीमित रह गया था।

एक्स्ट्रा-टेरीटोरिऐलिटी: चीन ने (विशेषकर पश्चिमी) साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने देश में उनपर उन्हीं के न्याय व्यवस्था के आधार पर कानूनी प्रक्रिया करने की संधि की थी, चाहे वह स्थानीय क्षेत्राधिकार के प्रतिकूल ही क्यों ना हो। इन राष्ट्रों के जहाजों और सेनाओं को चीन में आने जाने की खुली छूट थी। एक राष्ट्र या राज्य जब दूसरे राष्ट्र या राज्य को अपनी भूमि पर इस तरह की कानूनी रियायतें देता है, तो उसे एक्स्ट्रा-टेरीटोरिऐलिटी कहते हैं।

साम्यवाद: यह एक तरह की विचारधारा है, जो समाजवाद का ही एक रूप है। इसके अंतर्गत सभी संसाधनों का राष्ट्रीकरण करके सरकार किसी व्यक्तिविशेष, समूह विशेष के लिए नहीं बल्कि देश के लिए उत्पादन, एकत्रीकरण और वितरण करती है और ऐसी सरकार को साम्यवादी सरकार कहते हैं। यह पूंजीवाद के विरुद्ध उसी की तरह ही सिर्फ राजनैतिक न होकर एक बहुआयामी व्यवस्था है। इसके अंतर्गत एक साम्यवादी राजनैतिक दल के पास ही सत्ता रहती है।

'वियेतमिन्ह': 19 मई 1941ई॰ में बनी लीग फॉर दा इंडिपेंडेंस ऑफ़ वियतनाम एक गठजोड़ संगठन था। यह एक सयुंक्त मोर्चा था, जिसमे सभी राजनीतिक विचारों वाले लोग थे। जो फ्रांस का विरोध करने के लिए तत्पर थे। जापान ने जब वियतनाम पर कब्ज़ा किया तो चीन और अमेरिका की सहायता से यह उसके विरुद्ध भी कार्रवाई करने लगी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद यह फ्रांस और अमेरिका का भी विरोध करती रही।

होचीमिन्ह: वियतनामी राष्ट्रीय आन्दोलन का एक सफल नायक जिसने तीन दशकों तक वियतनाम का नेतृत्व किया। उसने 1930 ई॰ में वियतनाम में इंडो-चाइना साम्यवादी दल बनाया था और बाद में 1941 ई. में वियेत-मिन्ह नामक संगठन शुरू किया।वह 1945-1969 ई॰ तक उत्तरी वियतनाम की गणतांत्रिक सरकार का राष्ट्रपति भी रहा।

शीतयुद्ध:सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी खेमे (वारसासंधि) और सयुंक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी खेमे (नाटो) के बीच बिना किसी प्रत्यक्ष युद्ध के दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से शक्ति के लिए जो संघर्ष चलता रहा उसे शीत युद्ध की संज्ञा दी गयी।

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 क-(3), ख-(1), ग-(2), घ- (4)

उ.21915 ई॰ में जापान ने चीन शासक युआनशी-काई के सामने 21 कठोर मांगे रखी थी,यह मांगे पांच भागों में विभाजित थी।

उ.3 1900-1901ई. बॉक्सर विद्रोह।

उ.4 (क)1934 ई॰(ख) 'एक्स्ट्रा-टेरीटोरिऐलिटी'।

10.8 अध्ययन सामग्री

जैन, हुकुम चंद, माथुर,कृष्ण चंद.आधुनिक विश्व का इतिहास, (1500-2000 ई.), पन्द्र्हवां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर,जयपुर, 2010,चच.532-558,728-744.

दसवीं कक्षा की इतिहास की किताब,भारत और समकालीन विश्व, इंडो-चाइना में राष्ट्रवादी आंदोलन, अध्याय 2, पृ..32-48.

Perkins, Dorothy.*Encyclopedia of China: The Essential ReferenceTo China Its History And Culture,* Fitzroy Dearborn Publisher, London, 1999, pp.41-42, 67-81, 310-316, 319, 343-346,533-537.

Fairbank,John K. (et al).*East Asia: Modern Transformation,* Boston: Houghton Mifflin, 1965,pp.876-929.

Bianco,Lucien.*Origins of the Chinese Revolution, 1915-1949,* Stanford: Stanford University Press, 1971, pp23-41,63-80.

10.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

पाण्डेय, धनपति.आधुनिक एशिया का इतिहास,प्रकाशक, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 2005.

Jansen, M.B. Japan and China: From War To Peace, 1894 – 1972.

Ricklefs, M.C. A Modern History Of Indonesia, 2nd edition. MacMillan. 1991.

10.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) चीन के प्रमुख राजनैतिक दलों पर संक्षिप्त टिप्पणी करें?

प्र(2) वियतनाम में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलोनों की चर्चा करें?

इकाई ग्यारह

अरब राष्ट्रवाद और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोधी आन्दोलन

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 अरब राष्ट्रवाद

11.3.1 पृष्ठभूमि

11.3.2 अरब राष्ट्रीयता

11.3.3 मिस्र में राष्ट्रवाद

11.3.4 अरब लीग

11.4 दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोधी आन्दोलन

11.4.1 पृष्ठभूमि

11.4.2 प्रारंभिक प्रतिकार

11.4.3 दिन प्रति-दिन के प्रतिरोध और रंग भेद विरोधी आंदोलन

11.4.4 दक्षिण अफ्रीका के समाज और राजनीती में बदलाव

11.4.5 रंग भेद का अंत और अश्वेत सरकार

11.5 सारांश

11.6 विशेष शब्दावली

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.8 अध्ययन सामग्री

11.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

पिछली इकाईयों में हमने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की चर्चा की, साथ ही हमने चीन, जापान दक्षिण पूर्व एशिया और दक्षिण अमेरिका पर इसके प्रभाव को जानने का प्रयास किया था। हम ने जाना की कैसे इन जगहों में राष्ट्रवाद की भावना का विकास हुआ तथा कैसे यह देश आज़ाद हुए, हमने यह भी जाना की कैसे शीत युद्ध के काल से ही सारे विश्व को अमेरिका और सोवियत रूस की खेमेबाजी का हर्जाना भरना पड़ा।अरब राष्ट्रों और अफ्रीका को भी पश्चिमी साम्राज्यवाद ने अपने कब्ज़े में कर लिया था और यहाँ भी जन साधारण को एक होकर इन औपनिवेशिक/ साम्राज्यवादीशक्तियोंसेमुकाबला करना पड़ा। इस इकाई में हम अरब और अफ्रीकामें इन सभी व्यवस्थाओं और बदलावों के स्वरुप को समझेंगे।

11.2 उद्देश्य

- हम अरब राष्ट्रवाद के मूलभूत चरित्र को समझ सकेंगे।
- पश्चिमी देशों के अरब राष्ट्रों में हस्तक्षेप का आंकलन कर पाएंगे।
- अरब राष्ट्रवाद के विकास में तुर्की और मिस्र के शासक वर्ग की भूमिका पर चर्चा कर सकेंगे।
- हम दक्षिण अफ्रीका की रंग-भेद नीति के मूल कारणों की समझ बना पाएंगे।
- हम प्रभावशाली लोक नायकों की भूमिका को समझ सकेंगे।
- हम दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों के राजनैतिक विकास को समझ पाएंगे।

11.3 अरब राष्ट्रवाद

11.3.1 पृष्ठभूमि

अरब राष्ट्रवाद के अंतर्गत मुख्यतरू हम मिडिल ईस्ट या पश्चिमी एशिया में आने वाले देशों के इतिहास पर नज़र डालेंगे।पश्चिमी एशिया के देशों में तुर्की, फिलिस्तीन, ट्रांस जोर्डन, सीरिया, सऊदी अरब, ईरान, लेबनान और मिस्र को गीना जा सकता है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरु ने इन प्रदेशों को पश्चिमी एशिया नाम दिया था।पश्चिमी एशिया के यह सूखे प्रदेश पांच समुद्र तटों पर स्थित है; भूमध्यसागर, काला सागर, कैस्पियन सागर, लाल सागर, और फारस की खाड़ी। पेट्रोलियम पदार्थों से लबालब यह क्षेत्र विश्व के शक्तिशाली देशों को हमेशा अपने तेल भंडार के चलते अखरता रहा है, साथ ही यह बड़े महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग तथा बड़े महाद्वीपों के संपर्क का केंद्र बिंदु भी रहा है।

पश्चिमी एशिया के इतिहास में झांके तो हम जान पाएंगे की अरब संस्कृति का उदय सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। छोटे-छोटे कबीलों वाला यह अरब प्रदेश धीरे-धीरे मध्यकालीन विश्व का एक विशाल साम्राज्य बन गया था।माना जाता है की अरब साम्राज्य की विशालतापूर्व में सिंध नदी और चीन की सीमा से शुरू होकर पश्चिम में जिब्राल्टर और पेरिनिज़ की पर्वत माला तक थी।इन राज्यों के आपस में संगठित होने के दो महत्वपूर्ण पहलू- इस्लाम धर्म और अरबी भाषा समझे जा सकते हैं, जहाँ तक अरबी भाषा का सवाल है, यह सेमेटिक भाषा में सर्वाधिक विकसित, कुरान और सुन्नी धर्मग्रंथो का आधार थी। शुरू में कई राज्यों की अधिकारिक भाषा अरबीथी।इसके बाद फारसी, तुर्की भाषाओँ की लिपि भी अरबी के आधार पर विकसित हुई ।अरब राष्ट्र के अधीन किसी एक ही भाषा या संस्कृति के लोग नहीं थे। इनमें इराकी, सीरिया, लेबनानी, मिस्र आदि मूल के लोग थे, लेकिन सभी मूलतः अरबी ही थे। प्रो० एच. आर गिब का मानना है किकृ "मुहम्मद के विचारों से प्रेरणा पाने वाले सभी लोग जिन्हें अरबों के साम्राज्य की स्मृति, अरबी भाषा और सांस्कृतिक विरासत एक सूत्र में बंधे हुए हैं, अरबी हैं।"

11.3.2 अरब राष्ट्रीयता

सभी अरब प्रदेश जो धीरे-धीरे तुर्क साम्राज्य के अंतर्गत आ गए थे, उनमें अरब लोगों कीही बहुतायत थी। जैसा की हमने पाया की पश्चिमी देशों के संपर्क के बाद कई देशों में राष्ट्रवाद की भावना ने जनम लिया था ठीक उसी प्रकार नई

शिक्षा नीति व नवजागरण के कारण अरब प्रदेश में यह विचार आने लगे कि अरबों को तुर्क सुल्तान की अधीनता से मुक्त होकर राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिए।19वीं शताब्दी के मध्य तकयह विचार ज़ोर पकड़ने लगा था की, जिन लोगों की भाषा अरबी है, वे सब अरब राष्ट्रीयता के अंग हैं। सर्वप्रथम यह विचार सीरिया एवं लेबनान के लोगों के मन में आया, जहाँ फ़्रांसिसी एवं अमेरिकन लोगों ने दो विश्वविद्यालय स्थापित किये थे। यहाँ पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर नवयुवक यह अनुभव करने लगे थे कि- प्राचीन काल में अरब लोगों ने सभ्यता और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण उन्नति की थी; और इसलिए वे इतने विस्तृत क्षेत्र में अपना साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। ये नवयुवक तुर्क साम्राज्य की अधीनता के साथ साथ फ़्रांस, ब्रिटेन आदि युरोपीय देशों,जिनका अरब प्रदेशों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था, उन सब से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र राष्ट्र की स्थापना करना चाहते थे। स्वतंत्र होने के लिए सभी अरब राज्यों को पूर्णतःसंगठित होने की आवश्यकता थी।

अरब जगत में कई आन्दोलन हुए, जिनमें वहाबी आन्दोलन, अखिल इस्लामवादी आन्दोलन, अखिल अरबवादी आन्दोलन प्रमुख हैं। इन आंदोलनों ने जहाँ एक ओर इस्लाम धर्म को शक्ति प्रदान की वहीँ दूसरी ओर विदेशियों के विरुद्ध संगठित होने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीयता की इस भावना ने सामाजिक आर्थिक सुधारों पर भी बल दिया।सुल्तान हामिद द्वितीय ने अखिल इस्लामवादी आन्दोलन के चलते बहुत प्रयास किये, उनका मानना था कि इस्लाम की शक्ति को संगठित कर लिया जाये ताकि यूरोपीय शक्तियां तुर्की में हस्तक्षेप न कर सकें। वहीँ इस दौरान तुर्की का खलीफा भी विश्व के मुसलमानों का धर्म गुरु बनना चाहता था। उसने इस्लाम के प्रचार एवं उसकी रक्षा के लिए अनेक अरब लोगों को अपने दरबार में आश्रय भी दिया। इस्लाम के प्रचार में अब्दुल हुदा ने तुर्की के सुल्तान को ही खलीफा मानने पर बल दिया। लेकिन सुल्तान हामिद द्वितीय के प्रयास सफल नहीं हो सके क्योंकि उसके साम्राज्य में अनेक जातियां निवास करती थीं, तथा भौगोलिक बाधाएं भी उन्हें एकसूत्र में बांधने में बाधक थी।

अरबों की राष्ट्रीयता की भावना को फैलाने में इसाईपादरियों एवं पश्चिमी राष्ट्रों ने भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में भूमिका निभाई थी। वास्तव में पश्चिमी राष्ट्र अरब लोगों की श्रेष्ठता सिद्ध करके तुर्की साम्राज्य का विघटन चाहते थे, जिससे अरब देशों से उनका सीधा संपर्क स्थापित हो सके। इन पादरियों ने अरब इतिहास एवं साहित्य को बढ़ावा देने का प्रयास किया, तथा उन्होंने अरबी लिपि का पहला छापाखाना भी खड़ा कर दिया। हम यह समझ सकते हैं कि राष्ट्रीयता के ये विचार अधिकतर केवल शिक्षित लोगों तक ही सीमित थे। पश्चिमी एशिया के इन देशों ने अपने शोषण का ज़बरदस्त विरोध किया, और उनके विरुद्ध उग्र आन्दोलन हुए। इन आंदोलनों में जहाँ वहाबी आन्दोलन इस्लाम के शुद्ध रूप को बनाये रखने उसकी रक्षा के लिए चलाया गया, वहां अखिल इस्लामी आन्दोलन राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित था, और अखिल अरबवादी आन्दोलन से राष्ट्रीयता की भावना का संचार एवं अरब जगत को जागृत करने का प्रयास किया। मिस्र में अरबी पाशा के नेतृत्व में एक विद्रोह हुआ, जिसका उद्देश्य ब्रिटेन तथा फ़्रांस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना था।इससे मिस्र में भी राष्ट्रीयता का विकास हुआ।

11.3.3 मिस्र में राष्ट्रवाद

मिस्र अफ्रीका के उत्तर पश्चिम में नील नदी के तट पर एक छोटा-सा देश है। यह देश अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के चलते अनेक प्रमुख देशों के निशाने पर रहा, वह इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश करते रहे। असल में स्वेज नहर का जलमार्ग यूरोप को दक्षिण-पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा अफ्रीका से जोड़ता है, इस वजह से यह कई दशकों से पश्चिमी एशिया में राजनीति का केंद्र बन गया था। 1798 ई॰ में नेपोलियन ने भी मिस्र पर अधिकार करना चाहा था, लेकिन 1802 ई॰ में आमियाँ की संधि के फलस्वरूप यह पुनः आटोमन साम्राज्य में मिला लिया गया था। नेपोलियन के आक्रमण के बाद मिस्र में आधुनिकीकरण तेज़ी से आरम्भ होने लगा; क्योंकि वह अपने साथ बहुत से दार्शनिक, एवं विद्वानों को लेकर आया था जिनसे मिस्र की जनता बहुत प्रभावित हुई। नेपोलियन के अधिपत्य का अंत करने के बाद तुर्की सेनापति मेहमत अली ने मिस्र की सत्ता अपने अधीन कर ली तथा उसने तुर्की शासन से भी मान्यता प्राप्त कर ली थी। मेहमत अली ने समय की मांग को समझा और वहां प्रत्येक क्षेत्र में सुधार के नवीन प्रयास आरम्भ किये। शासन में भृष्टाचार की रोक थाम कर अनुशासित, शक्तिशाली सेना खड़ी की तथा साथ ही भूमि एवं संपत्ति सम्बंधी सुधार, कृषि एवं सिंचाई की उचित बंदोबस्त, शिक्षा के क्षेत्र में सुधार, वाणिज्य एवं व्यापार सुधार, राज्य विस्तार एवं प्रशासकीय सम्बन्धी सुधार पर जोर दिया।मेहमत अली ने देशव्यापी सुधार कर मिस्र को इतना शक्तिशाली बना दिया कि तुर्की का सुल्तान भी उससे सहायता की उम्मीद करने लगा।

सईद पाशा (1854ई॰-1863ई॰) में मेहमत अली के बाद उसके उत्तराधिकारियों में प्रमुख था, उसने अपने समय का सबसे जरुरी काम स्वेज नहर का निर्माण करवाया था, उसी समय ही मिस्र में रेल निर्माण भी हुआ। इतिहास में रूचि होने के कारण उसने प्राचीन इमारतों की सुरक्षा हेतु अनेक प्रबंध किये। इन कार्यों के लिए 32,92,800 पौंड 8% ब्याज पर ऋण लिया गया था, लेकिन इसे चुकाने का कोई प्रबंध नहीं हुआ था, जिससे उसकी मृत्यु के बाद 1875 ई॰ तक मिस्र पर करीब 10 करोंड़ पौंड ब्रिटिश ऋण हो गया। जल्द ही मिस्र के हालत भी बिगड़ने लगे और सम्पूर्ण प्रशासन पर विदेशी कब्ज़ा होने लगा। फ्रांस तथा इंग्लैंड के द्वैध शासन से मिस्र की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी थी। अमीर लोगों पर टैक्स बढ़ गए थे, सैनिकों को कई माह से वेतन नहीं मिले थे, जिससे देश में असंतोष पैदा हो गयाथाऔर यह जन असंतोष अरबी आन्दोलन के रूप में सामने आया। यह आन्दोलन अरब के वहाबी आन्दोलन, अखिल इस्लामवादी आन्दोलन तथा अखिल अरबवाद से प्रेरित था। मिस्र का यह विद्रोह जिसमें प्रथम राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव रखी गयी, इसने धीरे-धीरे मिस्र में राष्ट्रीय चेतना के विकास को राजनैतिक रूप दिया।

प्रथम विश्व युद्ध के चलते तुर्की साम्राज्य का अंत हुआ, और गैर तुर्की प्रदेशों को तुर्की की अधीनता से मुक्ति मिली। प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की की असफलता का श्रेय भी मिस्र को ही जाता है, क्योंकि यूरोपीय देशों ने अरब राष्ट्रीयता का समर्थन कर उन्हें तुर्की के खिलाफ उपयोग किया। उसके बाद अंग्रेजों ने मिस्र के संसाधनों का दुरूपयोग करना शुरू किया, जिससे वहां के लोगों में असंतोष फैलने लगा और पुनः राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया; जिसका उद्देश्य अब देश को इंग्लैंड से मुक्त करना था। 1936 ई॰में लन्दन की संधि के बाद मिस्र को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई, लेकिन फिर भी वहां विदेशी सेनायें रह गयीं। 1939 ई॰ में द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने पर ब्रिटेन ने मिस्र पर पुनः कब्ज़ा करना शुरू कर दिया और फिर से वहां के लोगों को युद्ध में शामिल किया जाने लगा। जुलाई 1947 ई॰ में मिस्र की सुरक्षा

परिषद् के माध्यम से ब्रिटिश शासन का अंत करना चाहा, लेकिनवे असफल रहे। अतः 1949 ई॰ में मिस्र के प्रधानमंत्री नहस पाशा के द्वारा 1936 ई॰ की संधि को रद्द कर दिया गया। अंग्रेज़ो ने प्रतिक्रिया में उसे उसके पद से हटवा दिया। अंततः जनरल मुहम्मद नगीब और गमाल अब्देल नासिर के नेतृत्व में 26 जुलाई 1952 ई॰ को मिस्र में सैनिक क्रांति हुई, और वहां गणतंत्र स्थापित किया गया।

गमाल अब्देल नासिर ने अपने शासन के दौरान स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करवाया, जिससे स्वेज नहर पर मिस्र का पूरा अधिकार हो गया। नासिर ने विदेशी नीति के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण कार्य किये, उसने अरब लोगों की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित एवं प्रेरित होकर अरब राज्यों को एक सूत्र में बांधने एवं संगठित करने का प्रयास किया। 1955 ई॰ में इराक एवं तुर्की के मध्य बगदाद पैक्ट हुआ, जोकि मूलतः रूस के विरुद्ध था। नासिर ने इस पैक्ट के प्रति तटस्थता की नीति अपनाई। सउदी अरब और यमन ने बगदाद पैक्ट का विरोध किया। बदलते राजनैतिक हालातों में मिस्र का नया नाम संयुक्त अरब गणराज्य रखा गया। इसमें 1958 ई॰ में यमन एवं सीरिया भी जुड़े थे , लेकिन 1961 ई॰ में इन देशों ने अपने सम्बन्ध तोड़ भी लिया।

जिस तरह भारत, चीन और अन्य दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ औपनिवेशिक शक्तियों ने विश्व युद्धों के गंभीर हालातों में समझोते और प्रलोभन भरे वादे किये थे; उसी प्रकार, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने अरबों को तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने को प्रेरित किया, और यह वचन भी दिया कि युद्ध के अंत होने पर उन्हें स्वंतत्र कर दिया जायेगा। औपनिवेशिक शक्तियों ने विश्व युद्ध के बाद भी अपना शासन कायम रखा। सीरिया और लेबनान पर फ्रांस तथा फिलिस्तीन, ट्रांस्जोर्डन और ईरान पर इंग्लैंड का मेंडेट शासन चलता रहा। इन्होने अरब राज्यों की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को नष्ट करने का कार्य किया। दूसरे विश्व युद्ध के समय मित्र राष्ट्रों को फिर से अरबों का सहयोग चाहिए था। अतः इंग्लैण्ड ने पुनः अरब राष्ट्रों की आज़ादी का समर्थन करना शुरू किया। इससे अरब राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना मजबूत होने लगी।अरब राष्ट्रों ने साम्राज्यवादियों को अरब क्षेत्र से बाहर निकालने का संकल्प कर लिया। परिणामस्वरूप परतंत्र अरब राष्ट्र एक एक करके आज़ाद होते गए। सीरिया और लेबनान 1944 ई॰ में आज़ाद हो गए, जार्डन की आज़ादी को मान्यता ब्रिटेन ने 1946 ई॰ में दी और लीबिया 1951 ई॰ में आज़ाद हुआ। युद्धोत्तर काल में अरब राष्ट्रवाद और राजनीतिक स्वतंत्रता के चलते इन राष्ट्रों ने अपनी भूमि से विदेशी सैनिक अड्डों को हटाना शुरू किया, क्योंकि विदेशी सैनिकों का वहां रहना आज़ादी की राह में अड़चन और दासता के प्रतीक के रूप में समझा गया, साथ ही आज़ाद हुए देशों के लिए यह राष्ट्रीय गौरव पर एक कलंक था। इसके अलावा ईरान ने 1953 ई॰ में एंग्लो-ईरानी तेल कंपनी तथा 26 जुलाई 1956 ई॰ में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करके विदेशी अधिपत्य को समाप्त कर दिया।

11.3.4 अरब लीग

अरब राष्ट्रों ने विश्व-मंच पर अपनी बात रखने और आपसी संगठन कायम रखने के लिए प्रयास जरुरी समझे, इसी के चलते अपनी एकता को कायम रखने तथा उसे पूरा करने के उद्देश्य से 22 मार्च 1945 ई॰ को काहिरा में अरब राष्ट्रों ने संधि पर हस्ताक्षर कर 'अरब लीग' नामक एक संघ का निर्माण किया। शुरआती दौर में इस संघ में सात राज्य सम्मिलित हुएकृ मिस्र, इराक, सीरिया, जॉर्डन, सउदी अरब, यमन और लेबनान। इसके अंतर्गत सभी राज्य प्रभुता

संपन्न थे एवं संघ के निर्णय को मानने के लिए वह बाध्य नहीं थे।1956 ई॰ में लीबिया और सूडान, 1958 ई॰ में मोरक्को और टयूनीशिया, 1961 ई॰ में कुवैत तथा 1962 ई॰ में अल्जीरिया भी इसके सदस्य बन गए। अभी अरब लीग के कुल 22 (देश) सदस्य हैं।

अरब लीग के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं-

1. सदस्य देशों की प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखण्डता के प्रति सम्मान रखा जाए
2. सभी को विदेशी नीति की स्वाधीनता और समझौतों की स्वतंत्रता होगी
3. अनाक्रमण और विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाया जाए
4. सदस्य देश की शासन प्रणाली के प्रति सम्मान रखना
5. सभी सदस्यों में एकता कायम करना

अरब लीग के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

- सदस्य राष्ट्रों के बीच हुए समझौतों को क्रियात्मक रूप देना
- आपसी संबंधों को सुदृढ़ बनाना
- सदस्य राष्ट्रों की स्वाधीनता एवं प्रभुसत्ता की रक्षा करना
- अरब राष्ट्रों से संबद्ध कार्यों पर विचार विमर्श करना
- सामाजिक, आर्थिक एवं परिवहन से जुड़े क्षेत्रों में परस्पर सहयोग करना।

संगठन: अरब लीग का प्रमुख अंग परिषद् है, जिसे मजलिस कहा जाता हैं। इसमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं, इसकी प्रति वर्ष दो बैठके होती हैं। अरब लीग का सचिवालयकाहिरा में है। यह अरब संघ के विभिन्न कार्यों में तालमेल बैठने का कार्य करता है।

मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने अरब एकता के लिए एक और प्रयास किया, वह यह कि उत्तरी अफ्रीका व पश्चिम एशिया के सभी भाषा-भाषी राज्यों को मिलाकर एक 'अरब संघ' का निर्माण किया जाये। नासिर ने एक बार लिखा भी था, "अरब एकता की आत्मा किसी वीर पुरुष का अवतार पाने के लिए अरब क्षेत्र में भटक रही है और हमें संकेत दे रही है कि हम सक्रिय होकर उसे ग्रहण करें और उसे शरीर प्रदान कर सजीव बनाये। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम जानते हैं की नासिर ने फ़रवरी 1958 ई॰ में सीरिया व मिस्र को मिलाकर 'संयुक्त अरब गणराज्य' नमक संघ की स्थापना की। इसके शीघ्र बाद इराक व जोर्डन ने मिलकर अरब संघ बनाया लेकिन दोनों ही संघ कुछ दिनों में छिन्न-भिन्न हो गए। जुलाई 1958 ई॰ में इराकी क्रांति के बाद अरब संघ टूट गया और सितम्बर,1961 ई॰ में सीरिया 'संयुक्त अरब गणराज्य' से अलग हो गया क्योंकि 'संयुक्त अरब गणराज्य' में सम्मिलित होने से उसे आर्थिक व राजनितिक घटा उठाना पड़ा था। अरब राज्यों के संघ का एक और प्रयत्न मिस्र ने इराक, कुवैत, जॉर्डन और सीरिया को मिलाकर 'अरब साझा बाज़ार' के रूप में किया जिसका उद्देश्य सदस्य राज्यों के मध्य उत्पादित वास्तुओ व मुद्रा का स्वतंत्र आवागमन की व्यवस्था करना था।

11.4 दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोधी आन्दोलन

11.4.1 पृष्ठभूमि

हम सब यह जानकर हैरान होते हैं कि अफ्रीका जैसे बड़े महाद्वीप का बंटवारा बिना युद्ध के ही यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों ने आपस में कर लिया था। उन्नीसवीं शताब्दी तक लगभग सारा अफ्रीका उपनिवेशवाद के अधीन हो गया था। दक्षिण में अंग्रेजों और डच (बोअरों) ने वाल और ऑरेंज नदियों तक के भू-भाग पर कब्ज़ा जमा रखा था। शुरुआत में दक्षिण अफ्रीका में बोअर लोगों का ही बोलबाला था जो मूल निवासियों को अपने अधीन करके, उन पर राज कर रहे थे। 1650 ई॰ में डचों ने केप ऑफ़ गुड होप (सदाशा का अंतरीप) में पहुंचकर उसे अपने कब्ज़ा में किया। बाद में यूरोप की बदलती हुई राजनीति के आधार पर ऐसे उपनिवेशों पर कभी फ्रांस तो कभी अंग्रेजों का कब्ज़ा हुआ। आखिरकार दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों का ही कब्ज़ा हुआ, उन्होंने निरंतर (बोअर स्थानीय डच) निवासियों को निरंतर उत्तर की ओर धकेला। तंग आकर बोअर लोगों ने 1836 ई॰ में केप ऑफ़ गुड होप से उत्तर को नेटाल और ऑरेंज फ्री स्टेट नामक बस्तियां बसाई। 1848 ई॰ में अंग्रेजों ने इन बसावटों को भी अपने कब्ज़े में ले लिया, हारकर बोअर लोगों को उत्तर की और वाल नदी के पार कर नयी बस्तियां बनानी पड़ी। 1854 ई॰ तक (ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट) दो उपनिवेश डच बोअर के और दो (नटाल और केप कालोनी) अंग्रेजों के हो गए थे। सोने तथा हीरे की खानों के कारण दक्षिण अफ्रीका उपनिवेशवादियों का ध्यान खींचता रहा। बोअर तथा अंग्रेजों के बीच 1899-1902 ई॰ के युद्ध में अंग्रेज़ जीत गए, लेकिन बोअर लोगों को स्वशासन दिया गया, 31 मई 1910 ई॰ केप कालोनी , नटाल , ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट को मिला कर दक्षिण अफ्रीका संघ बनाया गया। 1914 ई॰ में यह संघ अंग्रेज़ साम्राज्य का प्रोटेक्टोरेट/ संरक्षण में स्वशासित प्रदेश बन गया।

हालांकि शुरू से ही यूरोपीय अपनी नस्लीय श्रेष्टता के मद में स्थानीय निवासियों को दबाने लगे। 1920 ई॰ में विशेष रूप से ऐसी रंग भेदी पृथक करने वाली नीतियाँ अपनाई गयी, 1948 ई॰ के रेसिस्ट नेशनल पार्टी के चुनाव से अफ्रीका में रंगभेद पूर्ण रूप से सामने आ गया था। (श्वेत सरकार) राज्य द्वारा नस्लीय भेदभाव को बनाये रखने के लिए आरक्षण की नीति का भी प्रयोग किया गया। अंतर-नस्लीय संबंधों को प्रतिबंधित किया गया तथा चर्च, स्कूल, यातायात इत्यादि सार्वजनिक जन सुविधाओं और केन्द्रों में रंगभेद के आधार पर लोगों के साथ रंग और नस्ल के आधार पर अलग बर्ताव किये गए। अपने ही देश में श्वेतों-अश्वेतों के अपने-अपने इलाके (स्पेशल रिज़र्वस) थे। शहरी क्षेत्रों में भी अश्वेत समुदाय श्वेतों से अलग रहते थे। अलग बसें, अलग कोच, ट्रेन, कैफे, टॉयलेट, पार्क में लगने वाली बेंचे, अस्पताल आदि सब अलग थीं। यहां तक की समुद्री किनारा, और पिकनिक वाले क्षेत्र भी अलग थे। अश्वेत समुदाय के बच्चे श्वेतों के स्कूल में नहीं पढ़ सकते थे। उनके लिए अलग स्कूल थे। हर व्यक्ति को प्रजातीय वर्गीकरण में बांटा गया था। उन्हें विशेष पहचान पत्र दिये जाते थे। अश्वेत लोग जब श्वेतों के इलाके में जाते, तो उन्हें पास लेना पड़ता था। अश्वेतों और श्वेतों के बीच विवाह नहीं हो सकता था। पुलिस सख्त नियंत्रण रखती थी ताकि कोई नियम न तोड़ तो सके। केवल 20% यूरोपिय जनसंख्या के आवासीय क्षेत्र के अंतर्गत दक्षिण अफ्रीका का लगभग 80% भूभाग, संसाधन, और सुविधाएं थी । इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिना अश्वेतों के और न ही विश्व के अन्य देशों के आर्थिक और

राजनैतिक सहयोग के दक्षिण अफ़्रीकी सरकार अलगाव और नस्लभेद की राजनीति कर सकती थी और इसीलिए अश्वेतों को नस्लीय श्रेष्ठता के वर्चस्व के मिथक को अपनी एकता से तोड़ना था।

11.4.2 प्रारंभिक प्रतिकार

हम जानते हैं कि महत्मा गाँधी ने 1907 ई॰ की शुरुआत से ही अफ्रीका में रहते हुए बहुत सारे असमानता और भेदभाव विरोधी अभियान चलाये; उन्होंने बड़े पैमाने पर हड़ताल, जन-प्रवास किये और पंजीकरण पत्र जलाये, फलस्वरूप सरकार को अपने कुछ दमनकारी कानून वापस लेने पड़े। अफ्रीकी अश्वेत और भारतीयों ने आने वाले दशकों में अफ्रीका नेशनल कांग्रेस (एएनसी) जैसे राजनैतिक गुट बनाये, एएनसी ने संवेधानिक तरीकों से विरोध जाहिर किया और विशाल जन समूहों को राजनैतिक विरोध के लिए गतिशील किया, 1944 ई॰ में ऐसे ही अहिंसक विरोध से फेडरेशन ऑफ़ अफ्रीका वीमेन ने सभी महिलाओं द्वारा पासबुक रखने वाले कानूनों को ख़त्म किया। 1949 ई॰ में एएनसी से पैन-अफ्रीकानिस्ट कांग्रेस (पिऐसी) का गठन हुवा, जोअपने संघठान में श्वेतों की किसी प्रकार की भागीदारी नहीं चाहते थे। जब अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस ने अश्वेतों के अधिकारों की लड़ाई लड़नी शुरू की, तो नेल्सन मंडेला भी उससे जुड़ गये। एएनसी के नेता अल्बर्ट लुथूली के साथ नेल्सनमंडेला ने आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। उनका विरोध शांतिपूर्ण था, पर श्वेत शासन ने इसे भी कुचल दिया। 1960 ई॰ में जब बड़ी संख्या में अफ्रीकी लोगों ने एएनसी और पिऐसी के कहने पर पासपोर्ट के बिना अपनी गिरफ्तारियां देनी शुरू की, तो शर्पेविले में श्वेत सरकार ने भीड़ पर गोलियां चलाकर कत्लेआम किया और 69 अश्वेत आंदोलनकारी मारे गये। इस हत्याकाण्ड के बाद तो हफ्तों प्रदर्शन, दंगे इत्यादि चलते रहे, बढ़ते हुए आक्रोश को कुचलने के लिए भरी गिरफ्तारियां की गयी और एएनसी तथा पिऐसी को प्रतिबंधित किया गया । मजबूर होकर लोग सैन्य संघर्ष द्वारा समाधान तलाशने लगे। एएनसी की एक हिंसक शाखा उमखोंतो वे सिजवे ¼Umkhonto we sizwe½ भी बनी। 1964 ई॰में राजद्रोह के मामले में मंडेला को आजीवन कारावास की सजा सुनायी गयी। जेल में रहने पर मंडेला रंगभेद की नीति के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय प्रतीक बन कर उभरे। आगे आने वाले दशकों में दक्षिण अफ्रीका में श्वेत शासन के विरोध में आंदोलन जोर पकड़ता गया। विद्रोह का स्वरूप हिंसक भी होता गया। अब यह साफ हो गया था कि अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के बिना श्वेत शासन लंबे समय तक नहीं रह पायेगा।

11.4.3 दिन प्रति-दिन के प्रतिरोध और रंग भेद विरोधी आंदोलन

स्टीव बिको के विचारों ने अफ्रीकी जनता को बहुत जागृत किया, उनका कहना था की अश्वेतों को श्वेतों के संस्थागत प्रक्रिया, विचार और तरीकों से मुक्त होना होगा जो की स्कूल, किताबों, मीडिया, और इतिहास के जरिये उन तक पहुँचते हैं । इन विचारो से युवाओं पर गहरा असर पड़ा, छात्र भी बढ़ कर आंदोलनों में भाग लेने लगे, आने वाली कई वारदातों के केंद्र में छात्र ही थे । 1977 ई॰ में स्टीव बिको की पुलिस के अत्याचारों के कारण मौत हो गयी, जिसे आन्दोलन को काफी क्षति पहुंची। यह हिंसक प्रकार के आन्दोलन भले ही नुकसान दायक थे, लेकिन इसके चलते नस्ल श्रेष्टता और हीनता के मानस से अश्वेतों को मुक्ति मिली, हालांकि उनके पास श्वेतों के राजनैतिक दमनकरी शासन को हटने की कोई दीर्घकालीन नीति नहीं थी। उपद्रवी घटनाओं से काम नहीं बन रहा था, इसलिए लोगों का ध्यान दिन-

प्रतिदिन की समस्याओं पर गया, लोग अपने बलबूते पर उन सब महत्वपूर्ण चीजों को अपने हिसाब से करना चाहते थे, जिससे उन्हें शक्ति का एहसास हो। वह अपनी स्थानीय समस्याओं का निदान चाहते थे।

ट्रांसवाल जिलों में लोगों ने सामूहिक रूप से किराया बढ़ाने के विरोध में और अनाधिकृत निवास को न तोड़ा जाये, इसके लिए प्रदर्शन किये, उन्होंने किराया देने का भी बहिष्कार किया। द पोर्ट एलिजाबेथ ब्लैक सिविक आर्गेनाइजेशन (पिऐबसिओ) बनाई गई, जो सभी नगरों का प्रतिनिधित्व करती थी, यह संस्था श्वेत लोगों के व्यापार और बसों का बहिष्कार कर दबाव बनाने में कामयाब रही। बस के भाड़े बढने पर भी बहिष्कार किये गए, लामोंटीविलले ¼Lamontiville½ में 18 महीने तक बहिष्कार चला। लोगों ने मिनी बस के जरिये मजदूरों को काम तक पहुँचाया, सरकारी बस प्रणाली को आख़िरकार हार माननी पड़ी। कई जगहों पर शांतिपूर्ण व अनुशासित तरीकों से भी विरोध कर गटर के पाईप, बिजली के खम्बे, सड़कें इत्यादि जन सुविधाएँ सुचारू रूप से संचालित करने में कामयाबी मिली

11.4.4 दक्षिण अफ्रीका के समाज और राजनीती में बदलाव

1982 ई॰ में प्रधानमंत्री पी.डब्लू. बोथा ने तीन चेम्बर वाले सदन का विचार प्रस्तावित किया जिससे श्वेत, अश्वेत और भारतीयों का प्रतिनिधित्व हो।(लेकिन अश्वेत अफ्रीकियों को इसमें कोई भूमिका नहीं मिली थी) यह एक प्रकार की चाल थी जिससे लोगों के बीच टकराव हो। लेकिन इसके उलट इससे भी बड़ी तादाद में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट (यूडीअफ) 1983 ई॰ में उभरकर सामने आया। जिसमे 500 विभिन्न संस्थाओं के लोग जुड़े हुए थे। इन सबका एक ही लक्ष्य था दृ की उनको अपने सभी अधिकार तुरंत मिले, आलन बोएसाक ¼Allan Boesak½के शब्दों में ये स्पष्ट दिखता है, "We want all our rights here and we want them now".ख़राब अर्थव्यवस्था के इस दौर में नौजवान, छात्र लगातार हिंसक घटनाओं में शामिल रहे। लगातार बहिष्कार करते रहे। अब उन लोगों की तादाद ज्यादा थी जो दबाव बनाने की जगह अधिकारियों को कुचल देना चाहते थे। शहरों में हर मुद्दे पर दंगा होना आम बात थी और इसके चलते बहुत सारे लोग मारे जा रहे थे। कुछ कस्बों में रंगभेद करने वालों के गलों में टायर पहनाकर उन्हें जलाने की घटनाये भी हुई। 1985 ई॰ में 257 परिषदों ने इस्तीफा दे दिया और उन कस्बों में सरकार एकदम गिर गई। 1982 ई॰ के आपातकाल के दौरान पुलिस को विशेष अधिकार देकर सरकार का विरोध करने वालों का दमन किया गया। यूडीअफ के बहुत से लोग पकड़ कर प्रताड़ित किये गए और 8000 लोगों को बिना कारण गिरफ्तार किया गया।

खूसता जैक (ज़ीनेजं श्रंबा) के नेतृत्व में अफ्रीका को एक दूरगामी सोच वाला व्यक्ति मिला, जो अहिंसक तरीके से संगठन बनाकर आन्दोलन करना चाहता था। ताकि समाज में पैदा विरोध को कुचला न जा सके। 1985 ई॰ में जैक पोर्ट एलिजाबेथ में श्वेत बिरादरी के बीच में बहिष्कार करने वालों का वह प्रवक्ता बन गया। श्वेत व्यापारियों को अपने व्यापार में 30 प्रतिशत का नुकसान पंहुचा और उनकी राय में बहिष्कार अश्वेतों का सबसे मजबूत और असरदार हथियार था। जैक ने जब भरी भीड़ में अपने ऊपर प्रतिबंद के आदेश पत्र को फाड़ा तो जनता में जोश की एक नई लहर दौड़ पड़ी, जब बहिष्कार दुबारा शुरू हुए तो, वह अधिक संगठित थे। बढ़ते हुए हिंसक प्रतिरोध को देख जैक और यूडीफ ने अहिंसक बहिष्कार अपना के सफल आन्दोलन की राह बनायीं रखी, जिसके चलते सकारात्मक विरोध

चलता रहे। ऐसे अहिंसक आन्दोलनों का लक्ष्य यह था की लोग अपनी शक्तियों को पहचाने, वह जाने की वो अफरीका की हालात को कैसे अपने प्रयासों से बदल सकते हैं।

सरकार ने इसके उलट फिर से शक्त कदम उठाए और एक बार फिर से आपातकाल लागू किया। हजारों की तादात में लोगों को गिरफ्तार किया गया और मीडिया को प्रतिबंधित किया गया, ताकि समाज में व्याप्त अराजकता और उनके नियंत्रण के तरीकों की दुर्दशा का दुनिया को पता न चले। सरकार अपनी साख बचाये रखने के लिए तत्पर थी, वह जन सुविधओं को बहाल और बेहतर करने को तैयार थी, लेकिन अश्वेत जनता पूरी तरह यह तय कर चुकी थी की वो ऐसी रंगभेदी/नस्लभेदी सरकार को बिलकुल बर्दाश्त नहीं करेंगे। इसी दौरान अंतर्राष्ट्रीय दवाब भी देखने को मिले, यूरोपियन कम्युनिटी ने दक्षिण अफ्रीकी रंगभेदी सरकार पर आर्थिक प्रतिबंध लगाये, जिसके चलते उनकी आर्थिक विकास दर धीमी हो गयी।

11.4.5 रंग भेद का अंत और अश्वेत सरकार

1990 ई॰ में सरकार ने विरोध करने वाले दलों के ऊपर से पाबंदी हटा दी, जिसमे यूडीफ और ऐनसी भी शामिल थे। कैद किये गए नेता रिहा किये गए, जिन लोगों का देश निकाला किया गया था उन्हें भी देश में वापस आने की अनुमति दी गयी। आपातकाल को हटाया गया, मीडिया के ऊपर से भी प्रतिबंध हटाये गए। 1994 ई॰ में लोकतांत्रिक प्रक्रिया से चुनाव के बंदोबस्त किये गए। नवीन सांसदों से यह आशा थी की वह नया संविधान लिखे, जो अश्वेतों को मुख्य धारा से जोड़ सके, सभी लोगों के अधिकार समान हो और सबको उनका लाभ सुनिश्चित किये जाए। सभी प्रकार के अल्पसंख्यकों को पूरा अवसर और शक्तियां मिले, समाज और सरकार में सबकी भागीदारी हो।

1980 ई॰के दशक में नेल्सन मंडेला ने जेल में रहते हुए ही रंगभेदी सरकार और एएनसी के बीच वार्ताएं शुरू कर दी थीं। वह बिना किसी शर्त के 1990 ई॰में जेल से रिहा कर दिये गये। इसके कुछ दिन पहले ही एएनसी और पिऐसी से प्रतिबंध भी हटा लिया गया था। जेल में 27 साल गुजारने के बाद, मंडेला ने श्वेत और अश्वेत के बीच भाईचारे की नीति पर बल दिया। आज जो दक्षिण अफ्रीका दिखता है, वह इसी नीति का परिणाम है। 1994 ई॰ के चुनाव में लोगों ने एएनसी सी को लगभग 62ः मतों से जिताया तथा नेल्सन मंडेला को दक्षिण अफ्रीका का राष्ट्रपति चुना और बिना किसी असंतोष और क्षोभ के नेल्सन मंडेला को राष्ट्रपति बनाने की घोषणा की गयी। इन नए मिश्रित चुनावों के बाद साझी सरकार बन गयी तथा रंगभेद और नस्लभेद की नीति को दफन कर दिया गया। मंडेला ने राष्ट्रपति के रूप में अपना पहला भाषण दिया। 'हम एक विजेता के रूप में दक्षिण अफ्रीका को एक नये संवैधानिक सूत्र में नहीं बांध रहे। हमें अतीत के जख्मों पर मरहम लगाना होगा और आगे आने वाले समय में एक व्यवस्था बनानी होगी, जिसमें सभी को न्याय मिलेगा।'

अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र (1) मिस्र के किस शासक ने विदेशियों से 32,92,800 पौंड, 8ः ब्याज पर ऋण लिया था?

प्र(2) काहिरा में अरब राष्ट्रों ने संधि कर अरब लीग कब बनाई ?

प्र(3) बगदाद पैक्ट कब हुआ था ?

प्र(4) मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कब किया था?

प्र(5) 'स्पेशल रिज़र्वस' क्या थे ?

प्र(6) We want all our rights here and we want them now*- "हमें यहाँ हमारे सारे अधिकार चाहिए और हमें यह अभी चाहिए" किसके भाषण के शब्द हैं ?

प्र(7) उमखोंतो वे सिजवे ¼Umkhonto we sizwe½ किसकी सैनिक शाखा थी ?

प्र(8) नेल्सन मंडेला को राष्ट्रपति बनाने की घोषणा कब की गई थी?

11.5 सारांश

अरबी भाषा और इस्लाम धर्म के स्तर पर मूलभूत समानता होने के कारण अरब क्षेत्र में संगठित राजनैतिक इकाई बनाने का प्रयास होता रहा था, आधुनिक शिक्षा और समाज में नवजागरण के चलते लोगों में जहाँ एक ओर राजवंश की अधीनता से स्वतंत्र होने की इच्छा प्रबल हो गयी थी, वहीँ दूसरी और वह साम्राज्यवादी पश्चिमी शक्तियों के वर्चस्व और हस्तक्षेप से व्याकुल थे। यहाँ हो रहे आंदोलनों ने आर्थिक, सामाजिक सुधार के लिए आवाज उठाई और साथ ही विदेशियों के विरुद्ध लोगों को संगठित किया। इन राज्यों में तेल का उत्पादन तथा स्वेज नहर के सामरिक महत्व के कारण विश्व की सभी प्रमुख शक्तियां इन पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहती थीं। जिसके कारण अरब राष्ट्रों को निरंतर साम्राज्यवादी दमन सहना पड़ा तथा उनको कभी संगठित नहीं होने दिया गया। अरब राष्ट्र भी विश्व युद्धों के बदलते समीकरणों के हिसाब से प्रभावित हुए थे, बढ़ता हुआ जनविरोध और राजनैतिक चेतना के फलस्वरूप दूसरे विश्व युद्ध के बाद धीरे-धीरे सभी राष्ट्र स्वतंत्र होते चले गए। अरब राष्ट्रों में एकता बनाये रखने के लिए समय-समय पर अनेक राष्ट्रों के बीच संधियाँ हुई लेकिन वह सफल नहीं रहीं, हालांकि अरब लीग संघटन के रूप में काफी सफल रहा है।

अफ्रीका के संदर्भ में हमने देखा की अपनी विस्तारवादी नीति के चलते पश्चिमी राष्ट्रों ने नई दृनई जगहों में जाकर उपनिवेशिकरण किया था, जिसके चलते मूल निवासियों और उनकी संस्कृति को पूरी तरह बर्बाद कर दिया गया था। डच और अंग्रेजों ने भी (अन्य सभी पश्चिमी राष्ट्रों की तरह) खुद को विश्व की श्रेष्ठ प्रजाति मानते हुए विश्व के सारे संसाधनों पर अपना अधिकार मान लिया था. नस्ल-भेद के चलते वह अश्वेत लोगों को असभ्य, जंगली और बर्बर मानते थे। दूसरी और नकदी फसलों के बागानों में यह दास और कॉन्ट्रैक्ट में मजदूरी पर ले जाए जाते थे। दक्षिण अफ्रीका में नस्ल भेदी नीति के चलते अश्वेतों के लिए कड़े नियम, और अपमानजनक नीतियां बनायीं गयी थीं लोगों को उन्हीं के देश में गुलाम बना लिया गया था जहाँ उनकी स्वछंदता और नागरिकता श्वेतों के पहचानपत्रों और आरक्षण नीति से नियंत्रित थी।

गांधीवादी अहिंसक विरोध सार्वजनिक बहिष्कार, प्रवास और सविनय अवज्ञा आंदोलनों के साथ-साथ हिंसक टकराव से भी जनसाधारण ने नस्लभेदी सरकारों का विरोध किया था। अफ्रीका में संगठित विरोध और अपने अधिकारों की राजनैतिक लड़ाई के लिए बहुत सी राजनैतिक दल बनाये गए थे। अन्तर्राष्ट्रीय दबाब से ज्यादा यह अश्वेतों के अथक संघर्ष का नतीजा था कि वह अंततः अपनी सरकार बनाने में कामयाब हुए। गौर करने वाली बात यह है की हीरों की

समृद्ध खानों वाला यह देश दूसरे विश्वयुद्ध से शीत युद्ध के काल में भी, जब विश्व भर में अनेकों राष्ट्र आज़ाद हुए तथा बनते-बिगड़ते रहे थे, अफ्रीका रंग-भेद से ग्रसित था, तथा साम्यवादी क्रांति भी यहाँ गुम ही रही।

11.6 विशेष शब्दावली

यंग टर्कस/ युवा तुर्कः यह लोग तुर्की के सुधारवादी तथा राष्ट्रवादी दल के सदस्य थे। यह 1908ई०-1918ई० तक तुर्की का प्रमुख एवं प्रभावशाली राजनितिक दल बना रहा। इस राजनीतिक दल के युवा सदस्य जो अपने रीती-नीति से देश के जीवन को नया रंगरूप और नवजीवन देकर शीघ्र प्रगति पाना चाहते थे, यही लोग युवा तुर्क कहलाते थे।

अपार्थाइड/रंग भेद नीतिः जाती, नस्ल या रंग के आधार पर पृथक्करण करने के लिए दक्षिण अफ्रीका संघ में गोरे काले एवं अन्य वर्ण के लोगों को एक दूसरे से अलग करने के लिए व्यवहार में लायी गयी नीति को अपार्थाइड/रंग भेद नीति कहते हैं।

बोअरः दक्षिण अफ्रीका में बसे डच जाती के वंशज। इनमें और ब्रिटिश शासन में दो युद्ध हुए (वर्ष 1881 और वर्ष 1889-1902 ई०) यह युद्ध बोअर युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 सईद पाशा।

उ.2 22 मार्च 1945 ई०।

उ.3 1955 ई० में इराक एवं तुर्की के बीच हुआ।

उ.4 26 जुलाई 1956 ई०।

उ.5 यह श्वेत सरकार द्वारा रंग भेद की ही नीति थी जिसके चलते, श्वेतों-अश्वेतों के अपने-अपने इलाके थे। इस के अनुसार अश्वेतों को श्वेतों के इलाके से निकाला गया था।

उ.6 यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट यूडीएफ की मांगो और लक्ष्य को सामने रखते हुए आलन बोएसाक (।ससंद ठवमें ा) ने यह शब्द कहे थे।

उ.7 अफ्रीकन नेशनलिस्ट कांग्रेस (एएनसी)।

उ.8 10 मई 1994 ई.।

11.8 अध्ययन सामग्री

जैन, डॉ. हुकम चाँद, माथुर, डॉ. कृष्ण चन्द्र. आधुनिक विश्व इतिहास (1500-2000), 15वां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 2010,पृ. 700-715, 427-433, 715-726.

Sharma, J.P.*TheArab Mind: A Study of Egypt Arab Unity and the World*, Delhi, 1990.pp-18-26.

Cremeans, Charles D. *The Arabs and the World: Nasser's Arab Nationalist Policy*, London, 1963, p.47, 132.

Antonlous, George. *The Arab Awakening: The Story of The Arab Nationalist Movement*, London, 1938, pp.12-14-15.

Ajayi, F. Ade (ed.).UNESCO General History of Africa,Vol. VI, 1989, pp.55-67.

Davidson, Basil. Modern Africa a Social and Political History, Longman,1994, pp.32-33,161-171, 249.
Flint,E (ed.). Cambridge History Of Africa, Vol. V 1976, pp.258, 490-491,551-599, 681-696.
Mazrui, A. (ed.). UNESCO General History Of Africa Vol. VIII (1993), pp.257-276, 749,753,816, 827

11.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

Khalidi, Rashid.(ed.) *Origin Of Arab Nationalism*, Columbia University Press, NewYork,1991.
Hitti Philip Khuri. *History of the Arabs: From the earliest times to the present*. Macmillan, London, 1970.
Crowder, Michael. (ed.).*Cambridge History of Africa*, Vol. VIII,1984.
Donald Crummey (ed.).Banditry, *Rebellion and Social Protest in Africa* 1986.
Magubane, Bernard. *Political Economy of Race and Class in South Africa* 1979.

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) साम्राज्यवादी राष्ट्रों के हस्तक्षेप को रेखांकित करते हुए अरब राष्ट्रवाद के उदय पर प्रकाश डालें?

प्र(2) अरब क्षेत्र में एकता के लिए किये गए प्रयासों पर संक्षिप्त टिप्पणी करें?

प्र(3) दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों द्वारा बनाये गए राजनैतिक दल किस प्रकार से रंग-भेद विरोधी आंदोलन को सफल बनाने में सक्षम रहे थे?

प्र(4) श्वेत सरकार की रंग-भेदी नीति पर प्रकाश डालते हुए जनसाधारण के हिंसक विरोध और गांधीवादी अहिंसक आंदोलन पर टिप्पणी करें?

इकाई बारह

विश्वव्यापी मंदी और आर्थिक संकट

12.1. प्रस्तावना

12.2. उद्देश्य

12.3. आर्थिक मंदी

12.3.1. आर्थिक मंदी के कारण

12.3.2. आर्थिक मंदी के लक्षण

12.4. आर्थिक मंदी का विश्व पर प्रभाव

12.4.1. अमेरिका

12.4.2. जर्मनी

12.4.3. इंग्लैंड

12.4.4. फ्रांस

12.4.5. रूस

12.5. आर्थिक मंदी से उबरने का प्रयास

12.6. सारांश

12.7. शब्दावली

12.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम

12.11. निबंधात्मक प्रश्न

12.1. प्रस्तावना

बीसवीं सदी का आर्थिक संकट एक ऐसे समय में आया जब पूरा विश्व एक भारी विनाश के दौर से गुजर रहा था। यह वह समय था जब विश्व युद्ध के बाद पूरा विश्व विशेषकर यूरोप प्रथम विश्व युद्ध के विनाश से उबरने की कोशिश कर रहा था।इस आर्थिक संकट के आने के कई कारणों में से एक कारण विश्वयुद्ध के बाद सभी प्रमुख देशांे द्वारा आर्थिक संरक्षनात्मक नीति का अनुसरण करना था। एक तरफ जहाँ जर्मनी हार के बाद वर्साय की संधि के अनुसार, युद्ध क्षतिपूर्ति की रकम को चुकाने में परेशान था वहीं दूसरी तरफ पूरा यूरोप युद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा दिए गए कर्जों को चुकाने में लगे था। इन्हं सब घटनाआंे के बीच पूरे विश्व में कृषि संकट, मुद्रा संकट, वितीय संकट ,मूल्य संकट व्याप्त हो गया। इस आर्थिक संकट के लिए धन का असमान वितरण, उपभोग्ताओं की मांग में कमी, वित्तीय हलचल तथा सरकार की भ्रमित करने वाली नीतियाँ जिम्मेदार थी। इन्ही परिस्थितियों ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में आर्थिक मंदी को जन्म दिया जो जल्द ही सारी दुनिया में फ़ैल गयी।

12.2. उद्देश्य

इस इकाई में प्रथम महायुद्ध से दुसरे महायुद्ध के बीच आये आर्थिक परिवर्तन के बारे में बताया गया है।

- इस इकाई को पढने के बाद आप विश्वव्यापी मंदी के पहले की आर्थिक स्थिति के बारे में जान सकेंगे।
- अमेरिका के साथ पूरे विश्व विशेषकर यूरोप में आये आर्थिक मंदी के कारणों को जान सकेंगे।
- इस आर्थिक मंदी के लक्षण क्या थे? इस इकाई को पढ़ने के बाद आप उन कारणों को जान सकेंगे।
- आर्थिक मंदी का विश्व के महत्वपूर्ण देशों पर अलग-अलग क्या प्रभाव पड़ा? इस अध्याय में बताया गया है,इसे भी आप जान सकेंगे।
- आप ये भी जान सकेंगे कि विभिन्न देशों ने इस आर्थिक मंदी से कैसे अपने आप को बाहर निकाला।

12.3. आर्थिक मंदी

बीसवीं सदी की आर्थिक मंदी दो युद्धों के बीच का वह दौर ह,ै जिस समय पूरा विश्व एक आर्थिक संकट से गुजर रहा था। यह मंदी मूलतः अत्यधिक उत्पादन का परिणाम थी, यह प्रचुरता में अभाव को व्यक्त करती थी। विश्व के आर्थिक इतिहास में इतना बड़ा आर्थिक संकट एक ही समय में इतने अधिक देशों में कभी नहीं आया था। इसलिए इसे विश्व व्यापी मंदी कहा जाता है। यह मंदी सर्वप्रथम 1929 में अमेरिका के वालस्ट्रीट पतन के साथ प्रारंभ हुई जो धीरे-धीरे पूरे यूरोप में फ़ैल गई। इस आर्थिक संकट ने उपभोग्ताओं की मांग में कमी ला दी। पूरा विश्व आर्थिक रूप से एक नियत मुद्रा विनिमय दर जो सर्वमान था उससे जुड़े हुए थे, इस समय पूरे विश्व में धन का असमान वितरण मौजूद था जिसके कारण आर्थिक मंदी आ गयी।

12.3.1 आर्थिक मंदी के कारण

इस आर्थिक मंदी के लिए कई कारण उत्तरदायी थे जिसमंे उपभोग में कमी, आय वितरण में असामनता, निवेश के अवसरों की समाप्ति, अत्यधिक सट्टेबाजी, मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी का आर्थिक शोषण, अमेरिका के द्वारा निषेधात्मक टैरिफ की नीति अपनाना, युद्धोत्तर काल में कृषि आय में ह्रास, और बेरोजगारी प्रमुख थे।इन सब के कारण पूरा विश्व एक ऐसे संकट में फंस गया जिससे वह 1937 के बाद ही उबर सका।

उपभोग में कमी इस महान आर्थिक मंदी का एक महत्वपूर्ण कारण था। सन् 1900 से 1929 के बीच की अवधी में मजदूरी की तुलना में लाभ में बहुत अधिक वृद्धि हुई, जिससे बचत तथा उपभोग के बीच का अंतर बहुत बढ़ गया था। जे. एम. क्लार्क के अनुसार, लाभ के रूप में मिलने वाले कुल आय के अनुपात में वृद्धि हुई थी और उसी प्रकार मजदूरी तथा बचत के रूप में दिए जाने वाले आय के कुल अनुपात में कमी हुई थी। 1900 से 1929 के बीच रास्ट्रीय आय में अनुमानतः चार गुनी वृद्धि हुई थी जबकि राष्ट्रीय आय में इस असाधारण वृद्धि के परिणामस्वरुप भी जनता की क्रय शक्ति में कोई तीव्र वृद्धि नहीं हुई थी। क्रय शक्ति में वृद्धि के अभाव से उपभोग में भी संतोषजनक वृद्धि नहीं हुई ।

इस आर्थिक मंदी के लिए आय के वितरण की असामनता भी बहुत अंश तक उत्तरदायी थी। 1929 के पूर्व आर्थिक उन्नति के क्रम में राष्ट्रीय आय में जो वृद्धि हुई थी उसका एक बहुत बड़ा भाग पूजीपतियों को ही प्राप्त हुआ था। 1900 से 1929 के बीच औद्योगिक मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी में 33 प्रतिशत तथा वेतन में 42 प्रतिशत वृद्धि हुई थी जबकि कंपनियों के शुद्ध लाभों में 76 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जिससे यह साबित होता है की अर्थव्यवस्था में जो विकास हो रहा था उसका लाभ अधिकतर पूंजीपतियों को जा रहा था जिसके कारण एक वर्ग धनी और दूसरा वर्ग आर्थिक रूप से निर्धन होता जा रहा था जिससे अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी।इस अव्यवस्था ने भी आर्थिक मंदी को बढाने में अहम् भूमिका निभाई।

इस समय आई आर्थिक मंदी का एक कारण निवेश के अवसरों की समाप्ति भी था। इस समय निवेश में स्थाई रूप से निवेश अवसरों की समाप्ति हो गई थी जिसके फलस्वरूप निवेश में कमी हो गई थी। निवेश अवसरों की समाप्ति भवन निर्माण में कमी और उपभोग ह्रास में कमी होने से हुई। भवन निर्माण कार्य प्रायः बंद हो गये थे।

स्टॉक एक्सचेंज में अत्यधिक सट्टेबाजी भी 1929 के आर्थिक मंदी का एक प्रमुख कारण थी, जनता द्वारा प्रतिभूतियों के क्रय द्वारा मूल्य में कृत्रिम रूप से काफी वृद्धि हो गई थी। अंश बाज़ार के ध्वंश के कारण अनेक बैंक दिवालिया हो गए थे जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था भी दिवालिया हो गई थी। 1929 में अमेरिका के मुद्रा बजार में सट्टेबाजी का एक तीव्र दौर आया जिसने आम अमेरिकी महाजनों का धन आकर्षित किया और इसके परिणाम स्वरुप अमेरिका के पूँजीपति भी यूरोप को लोन देने के बजाय अपने ही देश में पूँजी लगाने लगे। यूरोप जो उस समय अमेरिकी लोन पर टिका हुआ था अचानक आधारहीन हो गया और यूरोपीय अर्थव्यवस्था इतनी डगमगाई की अर्थशास्त्री व इतिहासकार इस आर्थिक संकट को बीसवीं शताब्दी का सबसे बड़ा आर्थिक संकट मानते है।

मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मन अर्थव्यवस्था के आर्थिक शोषण ने भी इस मंदी को और अधिक विषम बना दिया। वर्साय के संधि के अनुसार युद्ध क्षति पूर्ती के लिए मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी से एक बहुत बड़ी रकम लेना था जो जुलाई 1920 के स्पा सम्मलेन में तय किया गया था जो 1,36,00,00,00,000 मार्क थी। यह कीमत जर्मनी को किसी भी प्रकार से

चुकानी थी। परिणामस्वरुप फ्रांस ने अपनी सेना जर्मनी के औद्योगिक क्षेत्र रूर में उतार दी। इस भयंकर भूल ने यूरोप को भारी आर्थिक संकट में दाल दिया। इस राशि की पहली किश्त के रूप में जर्मनी से भारी स्तर पर कोयला उठाया गया तथा विदेशों में लगी जर्मन कंपनियों की पूँजी को हस्तगत किया गया। वर्साय की संधि के अनुसार जर्मनी के 15 प्रतिशत उत्पादक साधनों पर मित्र राष्ट्रों ने कब्ज़ा कर लिया जिसका मुख्य उद्देश्य जर्मनी की औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षमता को लम्बे समय तक नष्ट करना था। इस स्थिति से जर्मनी में मार्क का अवमूल्यन हो गया, इसका जर्मनी के आम जनजीवन पर कुप्रभाव पड़ा, जिनके आय के श्रोत निश्चित थे या जो ब्याज किराया आदि पर निर्भर थे वे पूर्णतः बर्बाद हो गए, समृद्ध मध्य वर्ग की दशा श्रमिकों की तुलना में बदतर हो गई।

अमेरिका के द्वारा निषेधात्मक टैरिफ की नीति को अपनाने से भी आर्थिक संकट गहरा हो गया। इसी नीति को अपनाते हुए दुसरे देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था, कारखानों तथा कृषि को ठप हो जाने से बचाने के लिए सभी यूरोपीय देशांे ने निरोधात्मक शुल्क व संरक्षात्मक टैरिफ की एक दीवार खड़ी करनी आरम्भ कर दी, जिसके परिणाम स्वरुप अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बिलकुल ठप हो गया।

12.4. आर्थिक मंदी का विश्व पर प्रभाव

अगर इसकी प्रभावों की बात करें तो विश्व के सभी देशों पर इसका प्रभाव पड़ा लेकिन सबसे ज्यादा इसका प्रभाव यूरोप और अमेरिका पर पड़ा। ये देश उस समय विश्व में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण थे क्यूंकि इनकी अर्थव्यवस्था का प्रभाव सभी देशों पर था, जहाँ इसकी शुरुवात अमरीका में हुई वहीं इसने बहुत ही कम समय में पूरे यूरोप को अपने चपेट में ले लिया। इस मंदी ने पूरे विश्व की अर्थव्यवस्था को तहस नहस कर के रख दिया। इस आर्थिक मंदी ने जहाँ एक तरह जर्मनी में युद्ध के बाद स्थिति को और बिगाड़ा वही दूसरी ओर अमरेका और ब्रिटेन को भी कंगाली के स्थिति में ला दिया। सारे यूरोप में केवल एक ही देश था जो इस आर्थिक संकट से बचा रहा वो था सोवियत संघ।

12.4.1. अमरीका

चूँकि इस आर्थिक मंदी की शुरुवात अमरिका से ही हुई थी अतः इसका प्रभाव भी अमरीका पर बहुत ज्यादा पड़ा। 1930 के अंत तक आते-आते अमेरिका में लगभग 1300 बैंक बंद हो गए। स्थिति अब भी स्थिर नहीं हुई और 1931 तक आते-आते 2300 और बैंक भी बंद हो गए। इसके कारण लोगों ने अपने पास जो भी पैसे रखे थे, उसे रोक लिया और नकदी का प्रयोग कम हो गया। लोगों ने विलासिता वाली वस्तुओं का उपभोग कम कर दिया। मोटर कार और ग्रामोफोन आदि का उपयोग बिलकुल कम हो गया। अगर 1930-31 के कार उत्पादन को देखें तो पाते हैं की उस समय कार का उत्पादन 50 प्रतिशत कम हो गया था।

इस आर्थिक मंदी के कारण अमरीका में बेरोजगारी भी बढ़ी। इस बेरोजगारी के कारण 1932 तक आधे से ज्यादा मजदूर बेरोजगार हो गए क्योंकि मिल मालिकों ने उत्पादन कम कर दिया या कारखाने बंद कर दिए। कृषि उत्पादन की अगर बात करें तो उस समय अमेरिका में इस पर भी बहुत प्रभाव पड़ा, कृषि उत्पादों के दाम लगातार गिर रहे थे जिसके कारण किसान कंगाल हो गए और कृषि उत्पादन भी कम हो गया। इस कारण से ग्रामीण लोगों की क्रय शक्ति कम हो

गई जिसके कारण 1929 से 1932 के दौरान वस्तुओं की मांग में कमी आ गई, अमेरिकी निर्यात भी 7 प्रतिशत कम हो गया।

अमरिकी राष्ट्रपति फ्रेंक्लिन डी. रूजवेल्ट जो 1932 का चुनाव जीत कर आए थे उन्होंने इस आर्थिक मंदी से निकलने के लिए एक नई नीति को अपनाया जिसे 'नई डील' कहा गया इसके द्वारा बैंकों में विश्वास दिलाने के लिए बैंकिंग से सम्बंधित बैंकिंग अधिनियम पारित किया गये, किसानांे को सब्सिडी देकर उनको प्रोत्साहित किया गया, नेशनल रिकवरी एक्ट बना कर उद्योगों को भी प्रोत्साहित किया गया, जिससे इस मंदी से बाहर निकला जा सके।

12.4.2. जर्मनी

इस मंदी का सबसे ज्यादा प्रभाव जर्मनी पर पड़ा क्योंकि उस समय जर्मनी युद्ध क्षतिपूर्ती के कारण पहले से ही परेशान था तभी उसे इस मंदी की मार भी झेलना पडी। इस मंदी के कारण जर्मनी की मुद्रा का अवमूल्यन हो गया जिसके कारण वहाँ के लोगों की क्रय शक्ति बिलकुल कम हो गयी, अब वहां के लोग एक ब्रेड खरीदने के लिए पैसा झोले में भर के ले जाते थे। मार्क जो की वहाँ की मुद्रा है उसके अवमूल्यन के कारण जर्मनी की अर्थव्यवस्था बिलकुल ख़राब हो गई। बेरोजगारी की समस्या बहुत बड़े तौर पर वह उभर कर आई ,अमरीका में मंदी आने से और बाद में अमेरिकी निवेश के रुक जाने से जर्मनी की हरमन मुलर सरकार ने कल्याणकारी कार्यकलापों और सरकारी कार्यों में खर्च कम कर दिया जिससे वहां पर बेरोजगारी बढ़ी और वाईमर गणतंत्र से लोगों का मोह भंग हो गया। एक अनुमान के अनुसार जर्मनी में बेरोजगारों की संख्या दिसम्बर 1931 में 44,0000, सितम्बर 1932 में 5000000 तथा दिसम्बर 1932 में 6000000 तक पहुँच गई और जर्मनी के काम करने वाली जनसँख्या के हर छह लोगों में से एक व्यक्ति बेरोजगार हो गया।

1929 के आर्थिक संकट के कारण जर्मनी में वाईमर गणतंत्र का पतन हो गया, चूँकि तत्कालीन सरकार बेरोजगारी एवं मूल्यों को नियंत्रित नहीं कर पा रही थी इसलिए अब लोगों ने दूसरे विकल्प ढंूढना शुरू कर दिया जो इस संकट से जर्मनी को बाहर निकाल सके। इसी दौरान हिटलर की नाज़ी पार्टी का उदय हुआ। इस आर्थिक संकट के कारण नाज़ी पार्टी ने मध्यम वर्ग और युवा वर्ग को बहुत प्रभावित किया। ऐसी स्थिति में मुलर सरकार ने मार्च 1930 में इस्तीफा दे दिया, इससे हिटलर को जर्मनी का चांसलर बनने का मौका मिला जिसके कारण वहाँ पर लोकतंत्र का पतन हो गया और हिटलर की नाज़ी पार्टी का उदय हुआ, जिसे 1936 तक बेरोजगारी को कम करने तथा मूल्यों को स्थिर करने में सफलता भी हासिल हुई।

इस आर्थिक मंदी का एक और प्रभाव, जर्मनी द्वारा दिया जा रहा युद्ध क्षतिपूर्ति पर पड़ा। क्योंकि इस समय कई बैंकों के साथ जुलाई 1932 तक जर्मन बैंक डर्मस्डटर उन्द नेशनल बैंक (क्तउेजंकजमत न्दक छंजपवदंस ठंदा) भी दिवालिया घोषित हो गया। इसके साथ ही जर्मनी ने यह धमकी भी दे डाली की ना वह ऋणों पर ब्याज देगा ना ही वह पिछले युद्ध की क्षति पूर्ती की शेष धनराशी देगा। स्थिति को और बिगड़ने से बचाने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति हूवर ने जर्मनी के भुगतानों पर एक साल की रोक लगा दी जिसे स्वीकार भी कर लिया गया लेकिन इससे पहले कि एक साल पूरा होता जर्मन सरकार ने बाकी मुवावजा देने से साफ़ इंकार कर दिया, इसके बाद जर्मन अर्थव्यवस्था में धीरे-धीरे सुधार आने लगा।

12.4.3. इंग्लैंड

प्रथम विश्व युद्ध से पहले लन्दन सारे विश्व बैंकिंग का केंद्र बिंदु था तथा यहीं पर सारे विश्व के कर्जों का भुगतान होता था तथा विभिन्न मुद्राएँ सोने के साथ बदली जाती थीं, पर युद्ध के दौरान यह पहली बार हुआ जब प्रसिद्ध अंग्रेजी स्वर्ण मुद्रा सावरिन को सार्वजनिक वितरण तथा प्रचलन से हटा लिया गया था। न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज के धराशाई होने का बहुत बुरा प्रभाव ब्रिटेन पर एक सप्ताह के अन्दर ही पड़ने लगा था।

1929 की मंदी ने इंग्लैंड के व्यापार को भी बहुत ज्यादा प्रभावित किया, इस आर्थिक मंदी ने इंग्लैंड के परम्परागत जहाज रानी उद्दोग को भी ठप कर दिया, इंग्लैंड का उद्दोग कितना ज्यादा प्रभावित हुआ इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि जहाँ 1913 में जहाज उत्पादन 1930000 टन में था वो 1929 में 1520000 टन तथा 1937 में 920000 टन तक पहुँच गया।

इस आर्थिक मंदी का प्रभाव रोजगार पर भी पड़ा। उस समय विश्व भर में आई कीमतों में तीव्र कमी ने अंग्रेजी निर्यात को लगभग बंद सा कर दिया। विदेशी व्यापारियों ने अंग्रेजी सामान को खरीदना बंद कर दिया जिससे इंग्लैंड में बेरोजगारी बहुत तेजी से बढ़ी, 1931 में इंग्लैंड में करीब 35 लाख लोग बेरोजगार थे जबकि सितम्बर 1932 में यह संख्या 37.5 लाख पहुच गयी।

अगर बैंकिंग प्रणाली की बात करें तो यह भी इस 1929 की आर्थिक मंदी की चपेट में बुरी तरह फंस गयी, क्यूंकि इंग्लैंड के महाजनों ने अपना पैसा जहाँ-जहाँ लगा रखा था वहाँ से उसपर ब्याज आना बंद हो गया था, साथ ही लन्दन की मंडियों से विदेशी निवेशकों ने अपना पैसा निकालना शुरू कर दिया। इस कारण 1930 तक बैंक ऑफ़ इंग्लैंड (Bank of England) के स्वर्ण भण्डार लगभग समाप्त हो गये, एक समय इस बैंक में 25 लाख पोंड का सोना रोज बाहर जाता था जो अब 1929 के काल में सिर्फ 14,50,00,000 पोंड का रह गया था। बैंक ऑफ इंग्लैंड फिर से अपने आप को 1935 के बाद ही ठीक तरह से स्थापित कर पाया।

12.4.4. फ्रांस

फ्रांस में इस महामंदी का असर बहुत ज्यादा नहीं दिखा क्योंकि 1920 के दशक में वह सबसे शक्तिशाली देश के रूप में उभर रहा था, इस मंदी का ज्यादा असर फ्रांस पर इसलिए भी नहीं दिखा क्योंकि उसने जर्मनी से युद्ध क्षतिपूर्ती करके युद्ध में हुई बर्बादी की भरपाई कर ली थी। उसने इसी भरपाई के कारण अपनी रेल प्रणाली को पुनः शुरू भी कर लिया थां जब यूरोप में सारे देशों की मुद्रा का अवमूल्यन हो रहा था उस समय भी फ्रांक का अवमूल्यन नहीं हुआ क्योंकि उस समय यूरोप में सबसे ज्यादा सोने का भंडार फ्रांस में ही था।

12.4.5. साम्यवादी रूस

1917 की क्रांति के बाद जब वहाँ पर साम्यवादी सरकार बनी तब रूस एक तरह से बंद अर्थव्यवस्था (ब्सवेम म्बवदवउल) की तरह काम कर रहा था। साथ ही रूस में स्टालिन ने अपनी पंचवर्षीय योजना, जमींदारों (ज्ञनसंो) के दमन, औद्योगिक योजनाओं के द्वारा रुसी कृषि उत्पादन, कोयले तथा लोहे का उत्पादन इतना बढ़ा दिया की जब 1929 की महामंदी आयी तो उसका रुसी अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

12.5. आर्थिक मंदी से उबरने का प्रयास

1929 की महामंदी जिसने लगभग पूरे विश्व को अपने चपेट ले लिया था उससे उबरने के लिए विभिन्न देशों ने अपने-अपने तरीकों से अपनी अर्थव्यवस्था को बचाने की कोशिस की लेकिन इसके बावजूद एक समिल्लित प्रयास भी जरुरी था। इसी कड़ी में एक बड़ा कदम 2 सितम्बर 1931 को इंग्लैंड के द्वारा स्वर्ण आधारित मुद्रा को त्यागने के साथ ही शुरू हो गया। एक के बाद एक सभी देश स्वर्ण आधारित मुद्रा को त्यागने लगे। 1932 में यूरोप में केवल फ्रांस, इटली, स्विट्ज़रलैंड, रूमानिया और पोलैंड ही पुरानी मुद्रा का प्रयोग कर रहे थे। इस तरह स्वर्ण आधारित मुद्रा के हटते ही आर्थिक मंदी से उबरने की कोशिस तेज हो गई।

अपने-अपने देशों में सरकारों ने कई तरह के तरीके अपनाये, सबसे पहले सरकारों ने एक कड़ा मुद्रा नियंत्रण शुरू किया और विनिमय दरों पर अंकुश लगाया, साथ ही टैरिफ को ठीक किया, और आयात पर रोक लगायी तथा कठोर कानून लागू किये, दूसरा उन्होंने क्षेत्रीय प्रबध किया, जिसमें नार्वे, स्वीडेन, आदि देशों ने समझौता किया और इसे रोकने का प्रयास किया, तीसरा और सबसे अहम् सभी देशों ने मिलकर प्रयास किया जिसमे 1932 में लाउसेन ¼Lausanne Convention½ जिसने कि युद्धपूर्ति की अंतिम शर्तों को पूरा किया और 1933 का लन्दन सम्मलेन जिसमें 66 देशों ने भाग लिया। इसी समय अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी स्वर्ण आधारित मुद्रा त्यागने का साहसिक निर्णय लिया जिसके बाद जल्द ही अमेरिका इस मंदी से बाहर आ गया और फिर पूरे यूरोप ने भी इस महामंदी के दौर से बाहर निकलना शुरू कर दिया।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. आर्थिक मंदी क्या है?

प्रश्न 2. १९२९ में आयी महामंदी के क्या कारण थे?

प्रश्न 3. महामंदी के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 4. १९२९ के आथिक मंदी का जर्मनी पर क्या प्रभाव पड़ा?

प्रशन 5. इस महामंदी ने किस तरह से अमेरिका के व्यापार और उद्योगों को प्रभावित किया?

प्रश्न 6. इंग्लैंड के जहाजरानी उद्योग पर आर्थिक मंदी का क्या प्रभाव पड़ा?

12.6. सारांश

जहाँ प्रथम विश्वयुद्ध ने पूरे दुनिया को एक आर्थिक संकट में डाल दिया था वहीं इस आर्थिक संकट का विभिन्न देशों पर अलग-अलग प्रभाव देखा गया। इस आर्थिक मंदी ने यूरोप में आर्थिक परिवर्तन के साथ राजनैतिक परिवर्तन को भी बहुत ज्यादा प्रभावित किया। यही वह समय था जब यूरोप में अधिनायकवाद का उदय होता है और इसी अधिनायकवाद के तहत जर्मनी में हिटलर के द्वारा नाज़ीवाद, इटली में मुसोलिनी द्वारा फासीवाद, तथा जापान में सैन्यवाद का उदय होता है जो एक बार फिर से पूरे विश्व को ऐसे युद्ध में झोंक देता है जिसमें प्रथम विश्व युद्ध से भी ज्यादा विनाश हुआ।

12.7. शब्दावली

फासीवाद: फासीवाद लोकतंत्र और समाजवाद के खिलाफ एक ऐसा विचार है जो अधिनायकवाद पर आधारित है, इसका विकास इटली में मुसोलिनी ने किया।

नाज़ीवाद: यह जर्मनी में हिटलर द्वारा विकसित फासीवाद का उग्र रूप है।

सैन्यवाद: जापान में वहां के योद्धाओं के द्वारा जापान के विकास और पश्चिमी शक्तियों का सामना करने के लिए सैनिक आधारित शासन व्यवस्था।

पंचवर्षीय योजना: साम्यवादी रूस के द्वारा अपनी आर्थिक विकास के लिए अपनाया गया आर्थिक नीति, इसमें स्टालिन हर पाच वर्ष के लिए योजना बनाता था की किन विषयों के विकास को प्राथमिकता दी जाय।

कुलक: रूस में जमींदारों को कुलक कहा जाता था।

वाईमर गणतंत्र: प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में स्थापित तात्कालिक गणतंत्रं

12.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर 1 देखें 1.3.

उत्तर 2 देखें 1.3.1.

उत्तर 3 देखें 1.3.2

उत्तर 4 देखें 1.4.2.

उत्तर 5 देखें 1.4.1

उत्तर 6 देखें 1.4.3

12.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Norman Davies] & Europe.

C-M- Cipolla] & Fontana Economic History of Europe] Volume III : The Industrial Revolution.

E-J- Hobsbawm] & The Age Extremes-

E-J- Hobsbawm] & Nations and Nationalism.

James Joll] & Origins of the First World war (1989)

E-H- Norman] & Japan*s Emergence as a Modern State.

Sneh Mahajan] & Issues in Contemporary World Histor.

जेम्स जौल; यूरोप 1870 से,1991. हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.

पार्थसारथि गुप्ता; यूरोप का इतिहास, 1983, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.

देवेश विजय, मीना भारद्वाज, वंदना चौधरी; आधुनिक यूरोप का इतिहास आयाम एवं दिशाएं. 2010.हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.

लालबहादुर वर्मा, - आधुनिक यूरोप का इतिहास.

12.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम

लालबहादुर वर्मा; यूरोप का इतिहास (1789-1945.
V. D. Mahajan(Modern Europe Since 1789.
अनुप कुमार; आधुनिक यूरोप का इतिहास.
हरिशंकर शर्मा; आधुनिक विश्व.
जैन और माथुर; आधुनिक विश्व इतिहासः 1500-2000.

12.11. निबंधात्मक प्रश्न

1. उन कारणों की व्याख्या कीजिए जिसने इस आर्थिक मंदी को जन्म दिया, इसने कैसे विभिन्न देशों को प्रभावित किया?
2. क्या आर्थिक मंदी ही जर्मनी में हिटलर के उदय के लिए उत्तरदायी थी? विस्तार से चर्चा करें।
3. १९२९ की आर्थिक मंदी से उबरने के लिए विभिन्न देशों द्वारा मिलकर किये गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।
4. पूरे यूरोप में इसके प्रभाव के बावजूद क्यूँ इस मंदी से रूस बचा रहा? चर्चा कीजिए।

इकाई तेरह

इटली में फासीवाद, जर्मनी में नाजीवाद और जापान में सैन्यवाद

13.1. प्रस्तावना

13.2. उद्देश्य

13.3. इटली में फासीवाद

13.3.1. फासीवाद क्या है?

13.3.2. इटली में फासीवाद के उदय के कारण

13.3.3. मुसोलिनी द्वारा फासीवाद का विकास

13.4. जर्मनी में नाज़ीवाद

13.4.1. नाज़ीवाद क्या है?

13.4.2. जर्मनी में नाज़ीवाद के उदय के कारण

13.4.3. हिटलर द्वारा जर्मनी में नाज़ीवाद का विकास

13.5. जापान में सैन्यवाद

13.5.1. सैन्यवाद क्या है?

13.5.2. जापान में सैन्यवाद के कारण

13.6.सारांश

13.7. शब्दावली

13.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम

13.11. निबंधात्मक प्रश्न

13.1. प्रस्तावना

प्रथम विश्व युद्ध क बाद पूरे दुनिया में जो विनाश हुआ था उसके बाद लोगो को लगा की अब ऐसा कोई दूसरा तबाही फिर कभी नहीं होगा लेकिन 1920 के दशक में कुछ ऐसी परिस्थितियां बनी जिसके कारण इटली में फासीवाद, जर्मनी में नाज़ीवाद और जापान में सैन्यवाद का उदय हुआ। इस फासीवादी नीति ने एक बार फिर पुरे विश्व को एक ऐसी आग में धकेल दिया जिसकी लपटें पूरी दुनिया को समेट लिया।मुसोलिनी और हिटलर जैसे दो फासिस्टो ने अपनी तानाशाही और उग्र राष्ट्रवादी नीति के कारण द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया. इसका मतलब ये नहीं कि बाकि के देश इस युद्ध के लिए जिम्मेदार नहीं थे।

13.2. उदेश्य

- ' इस इकाई में प्रथम विश्व युद्ध के बाद तथा द्वितीय विश्व युद्ध के बिच दुनिया में हो रहे राजनितिक एवं सैनिक परिवर्तन की विशेषता बताई गई है।
- ' इस इकाई को पढने क बाद आप प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व के बीच आर्थिक और राजनितिक परिवर्तन के बारे में जान सकेंगे।
- ' आखिर इटली में ऐसी कौन सी परिस्थितियां थी जिसके कारण वहां पर मुसोलिनी जैसे एक फासीवादी तानाशाह का उदय हुआ।
- ' जर्मनी में उस समय के आर्थिक और राजनितिक और सैनिक परिस्थितियों के बारे में जान सकेंगें जिसके कारण वहाँ पर हिटलर और उसके नाजी पार्टी का उदय हुआ।
- ' उस समय जब पूरे एशिया महादेश पर यूरोप के साम्राज्यवादी देशों का वर्चस्व था तब एशिया के एक छोटे से देश जापान में आखिर वो कौन सी परिस्थितियां थी जिसने उसे इन यूरोपीय देशो के ना केवल समान किया बल्कि खुद साम्राज्यवादी बन गया।
- ' 1930 के दसक में उग्र राष्ट्रवाद कैसे इटली, जर्मनी और जापान में फैला और यह एक महाविनाशक द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बना।

13.3. इटली में फासीवाद

13.3.1. फासीवाद क्या है?

अंग्रेजी का फासिज्म (Facism) शब्द लैटिन भासा के 'फासी' शब्द से बना है जिसका अर्थ छड़ियों का बण्डल या समूह और एक कुल्हाड़ी होता है। प्राचीन रोम वासी इसे अनुशासन का प्रतीक मानते थे. फासीवाद का कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। मुसोलिनी के लेख 'द फासिस्ट' के अनुसार फासीवाद लोकतंत्र के खिलाफ राष्ट्र भक्ति भरा विद्रोह और वास्तविक राजनीति की पुनर्स्थापना है। फासीवाद शासन सहयोग के कर्त्तव्य पर जोर देता है।

रजनी पाम दत्त के अनुसार फासीवाद मौजूदा पूंजीवाद समाज के विरोध स्वरुप खड़ा कोई विशिष्ट अलग दर्शन और प्रणाली है।इसकी विपरीत फासीवाद खास परिस्थितियों में आधुनिक पूंजीवादी नीतियों और प्रवृतियों के पतन की पराकाष्ठा आने से पैदा होने वाली चीज है, और यह उसी पतन की सम्पूर्ण और सतत अभिव्यक्ति करता है ।

अगर मुसोलिनी की बातों पर ध्यान दें तो उसके अनुसार फासीवाद कोई ऐसा सिद्धांत नहीं है, जिसकी प्रत्येक बात को विस्तार पूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य किये जाने की आवश्यकता के कारण हुआ इसलिए फासीवाद आरम्भ से ही सैद्धांतिक के बजाये व्यावहारिक है, उसका यह भी मानना था कि फासीवाद एक धार्मिक कल्पना है जिसमें व्यक्ति को एक उच्चतर क्रांति की विधि से सम्बंधित देखा जाता है। यह विधि व्यक्ति की लक्ष्यात्मक इक्षा होती है और वह उसे एक अध्यात्मिक समाज की जागरूक सदस्यता प्रदान करती है।

अब सबसे अहम् सवाल यह उठता है कि फासीवाद और फासीवादी राष्ट्र की प्रकृति क्या होती है? अगर इसकी प्रकृति की बात करें तो पाते हैं कि फासीवादी आन्दोलनांे के मामले में आतंकवाद, संसदीय प्रणाली की अनदेखी, कानून की परवाह न करते हुए गिरोहबंदी, भड़काऊ भाषणबाजी और विरोधी गुटों का दमन आदि प्रमुख रहा है, वहीं दूसरी ओर फासीवाद राज्य को एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में देखता है जबकि सारे लोग समूह उसी के सापेक्ष है, जो कोई भी फासीवाद कहता है उसका मतलब राज्य होता है।

रजनी पाम दत्त के अनुसार फासीवाद पूरी जटिल लोकतान्त्रिक विचारधारा का मुकाबला करता है, फासीवाद न तो शास्वत शांति की संभावना को सही मानता है ना ही उसकी उपयोगिता को। फासीवाद राज्य शासन की इच्छा का मूर्त रूप है। फासीवाद के लिए साम्राज्य का विस्तार उसके पौरुष की जरुरी अभिव्यक्ति है, फासीवाद सुख की भौतिक अवधारणा को नकारता है। फासीवादी जिस भी बात अथवा व्यवस्था के विरुद्ध होते थे उसकी भर्त्सना कर वे प्रायः अपनी पहचान करा देते थे।वही अगर फासीवाद के सिद्धान्त पर बल दं,ेे तो पाते हैं की जिस तरह उदारवाद, साम्यवाद का अपना सिद्धांत होता है उस तरह फासीवाद का अपना कोई सिद्धांत नहीं है। अनेक बुद्धिजीवी, फासीवाद की ज्यादतियों की निंदा करते हुए भी उसके विस्तृत चर्चा के लोभ में फस जाते हैं और तुरंत इसके समाजवादी, पूंजीवादी, मजबूत व्यक्ति के शासन और नैतिक गुणों की तारीफ, युद्धों का गुणगान, जातीय और नस्लवादी नजरिये आदि जैसे विचारों की चर्चा करने लग जाते है। उपर्युक्त लिखित बातों का स्पष्टीकरण हमें मुसोलिनी की 1921 के अधिवेशन की चर्चा के दौरान पाते हैं जिसमे मुसोलिनी कहता है की राष्ट्रीय अधिवेशन के बीच के दो महीनांे में फासीवाद के सिद्धान्तों की रचना कर ली जाय।

13.3.2. इटली में फासीवाद के उदय के कारण

जहाँ एकीकरण के पहले इटली एक भौगोलिक अभिव्यक्ति ही मानी जाती थी वही 1870 में एकीकरण के बाद यह एक बड़ी शक्ति बन कर उभरती है। इटली भी बाकि यूरोपीय देशांे की तरह उपनिवेशवादी नीति का अनुशरण करता रहा और जब प्रथम विश्वयुद्ध होता है तो वह मित्र राष्ट्रों की तरफ से युद्ध में शामिल हो जाता है। इटली युद्ध में मित्र राष्ट्र के साथ युद्ध करता है और विजयी होता है।,पर जिस कारण से इटली प्रथम विश्वयुद्ध में शामिल हुआ वो विजयी राष्ट्र होने के बावजूद भी पूरा नहीं हो सका जो इटली में फासीवादियों के उदय का एक मुख्य कारण बना। इसके अलावा

सरकार का निक्कमा पन, साम्यवादियों का डर, पूंजीपतियों एवं सामंतों का सहयोग,आर्थिक मंदी एवं बेरोजगारी आदि भी फासीवादियों के उदय के लिए जिम्मेदार थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के पहले इटली, जर्मनी और ऑस्ट्रिया एक साथ थे पर इटली जिन क्षेत्रों के लिए इनके साथ संधि करना चाहता था उसमें से ज्यादातर क्षेत्रों पर ऑस्ट्रिया का अधिकार था। जिसके कारण इटली को लगा की अगर वह जर्मनी और ऑस्ट्रिया के साथ संधि करता है तो शायद वह युद्ध जीतने के बाद भी उन क्षेत्रों को हासिल नहीं कर पायेगा। ऑस्ट्रिया के साथ पुरानी दुश्मनी के कारण भी इटली यह संधि नहीं करना चाहता था, इसलिए वह मित्र राष्ट्रों के साथ संधि कर के ऑस्ट्रिया से 1896 ई. में अडोवा के युद्ध में अपनी हार का बदला भी लेना चाहता था। 1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत होती है जिसमें इटली 1915ई. में हुए लन्दन के गुप्त समझौते के कारन मित्र राष्ट्रों के तरफ से युद्ध में शामिल होता है और मित्र राष्ट्र विजयी होते है पर विजयी राष्ट्रों में शामिल होने के बावजूद भी इटली को जीत के सम्मान के अलावा और कुछ नहीं हासिल हुआ जबकि इस युद्ध मंे शामिल होने से उसको सैनिक और आर्थिक नुकसान भारी मात्रा में उठाना पड़ा। जहाँ युद्ध में विजयी होने के बाद, लन्दन के गुप्त संधि के अनुसार ट्रेन्तिनो, इस्ट्रीया प्रायद्वीप, ट्रीस्ट, फ्यूम, डाल्मेशिया का तटीय क्षेत्र, और अल्बानिया आदि क्षेत्र मिलना था, पर उसे केवल ट्रेन्तिनो, डाल्मेशिया तट का कुछ भाग और दक्षिणी तिरोल ही प्राप्त हो सका। इस कारण से वहाँ के राष्ट्रवादियों और लोगों में मित्र राष्ट्रों के प्रति रोष व्याप्त था इसलिए वो एक ऐसे विकल्प ढूंढ रहे थे जो इस अपमान का बदला ले सकंे और इन क्षेत्रों को इटली के अन्दर ला सके। इसका पूरा लाभ मुसोलिनी की फासी पार्टी को मिला।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान पुरे दुनिया में इतना नुकसान हुआ की कई देशों की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय हो गई जिसमें इटली भी शामिल था। इस युद्ध के कारण पूरा यूरोप अमेरिकी कर्ज पर आश्रित हो गए। इस कारण अमेरिका में 1929 ई. में आर्थिक मंदी आ गई जिसके कारण पूरे यूरोप में भी आर्थिक मंदी आ गयी। इटली भी इसे अछूता नहीं रहा और वहाँ भी इस मंदी ने अपने जाल पसार दिए। इटली के सबसे बड़े शहर सिसली में बेरोजगरी चरम सीमा पर थी।1914 ई. से 1920 ई. के बीच लीरा जो इटली का मुद्रा थी उसमें अस्सी प्रतिशत (80%) तक अवमूल्यन हो गया। इसके फलस्वरूप करो का भार मध्य वर्ग पर आ गया। युद्ध के दौरान बढ़ते हुए शस्त्रों के मांग के कारण रोजगार बढ़ा परन्तु युद्धोपरांत मांग समाप्त होने से बरोजगारी फैली। धातुखनन और नौपरिवहन वित्तीय कम्पनी जो अब तक सरकार को वित्तीय सहायता मुहैया कराते थे कम होने लगी। अपने डूबते उद्योगों को बचाने के लिए राज्य की हस्तक्षेप की मांग करने लगे। पूंजीपति वर्ग फासीवाद को साम्यवाद विरोधी के रूप में सत्ता में लाना चाहती थे।

युद्ध के बाद इटली में क्रन्तिकारी लहरें काफी ऊंचाई तक पहुंची और उसका असर औद्योगिक मजदूरों, हतोत्साहित सैनिकों, गरीब किसानों, और खेतिहर सर्वहारा समेत सभी पर पड़ा। जिसके कारण ये सारे तबके किसी ऐसे नेता या सरकार की उम्मीद करने लगे जो इनकी समस्याओं को दूर कर सके। इसलिए ये लोग अब मुसोलिनी की फासी पार्टी को समर्थन देने लगते हैं। दूसरी तरफ हड़तालों के दौरान हम पाते हैं कि किसान, सामंत के जमीनों पर कब्ज़ा शुरू कर देते हैं। इससे सामंतों में साम्यवाद आने का डर बन जाता है, जिससे ये सामंत ,फासीयों को सत्ता में लाना चाहते थे, जो उनकी सामंती व्यवस्था को बने रहने में मदद करे।

फासीवादियों को सत्ता में आने के लिए सरकार के निक्कमेपन ने भी एक तरह से सहयोग दिया। सरकार 1920 ई. तक इतनी लाचार हो गई थी कि इटली में उस समय कुछ ऐसी असामाजिक घटनाएँ हो रही थी जिसको रोकने में सरकार विफल रही। अमेरिकी पत्रकार मोरवर ने लिखा है कि सेना फासीवादियों को हथियार और प्रशिक्षण देती थी। सेना की सहानुभूतियाँ भी उनके साथ होती थी। फासीवादियों के हिंसक अभियानों में अधिकारी वर्दी पहन कर भाग लेती थी। फासियों के हथियार सेना के बैरक में जमा होते थे। हत्या, हिंसा, और आगजनी में पुलिस उदासीन बनी रहती थी, फासीवादियों द्वारा समाजवादियों को जान से मारने की धमकी, मारपीट, और इस्तीफे की मांग करती थी तब अधिकारी सहयोग के बजाय कंधे बिचका के चल देती थी। जून 1921 ई. में जियालिटी ने प्रधान मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया, इस तरह हम देखते है कि 1926 ई. में फासीवादी सरकार अपनी प्रयोगों के आधार पर पूरी तरह स्थापित हो जाती है।

रजनी पाम दत्त के अनुसार इटली में क्रन्तिकारी लहर को न तो बुर्जवा काटती है ना ही फासीवादी तोड़ पाते है, यह अंदरूनी कमजोरी और क्रान्तिकारी नेतृत्व के अभाव में सुधारवादियों के चलते टूट जाती है. इटली में फासीवाद तभी सामने आया जब सर्वहारा वर्ग का आन्दोलन टूट जाता है और फासीवाद पुलिस और सैनिकों के संरक्षण में अपने विरोधियों का दमन करता है, साथ ही साथ फासीवादी तानाशाह एक नये रूप में बुर्जवा नीतियों के निरंतरता का उदाहरण था।

13.3.3. मुसोलिनी द्वारा फासीवाद का विकास

बेनितो मुसोलिनी (1883-1943)इटली का एक साधारण सैनिक था,उसका जन्म 29 जुलाई 1883 ई. को डोविया के समीप वरानो डी कोस्टा गाँव में हुआ था, उसके पिता का नाम अलेसांद्रो था,उसके पिता लुहार तथा माता अध्यापिका थी, 18 वर्ष की आयु में अपनी माता के कहने पर पह खुद एक अध्यापक बना। उसके नायक जूलियस सीजर और नेपोलियन थे। पह समाजवादियों से घृणा करनेवाला एक समय समाजवादी था, समाजवादी लोग प्रथम विश्वयुद्ध के विरूद्ध थे क्यूंकि उसे पूंजीवादीयों का आपसी झगड़ा समझा जाता था, मुसोलिनी का भी शुरू से ही यही मत था लेकिन बाद में उसने युद्ध में एक अवसर देखा और इटली के युद्ध में शामिल होने का हिमायती बन गया, इसलिए उसे समाजवादी दल से हटना पड़ा।

फ्रांस सरकार के वित्तीय सहयोग से उसने नवम्बर में हस्तक्षेपवादी विचारां की पत्रिका 'पोपोलो डी इटालियन' निकालनी शुरू की, 1915 ई. में उसने मिलान में जिस 'फासी डी एजियोन इंटरवेंतिस्ता'की स्थापना की थी, वही भविष्य में फासीवादी गतिविधियों का केंद्र बना। 1919 ई. में मिलान में अपने अनुयायिओं के साथ 'फासियों डी कोम्बैन्टीमिन्तो' की शुरुआत की, जिसका कार्यक्रम अन्ध्रास्त्रवादी, लोकतंत्रात्मक और क्रान्तिकारी लगनेवाले कार्यक्रम का मिलाजुला रूप था, दिसंबर 1920 ई. में फासी ने एक राजनैतिक पार्टी का गठन किया ,इसमें भूतपूर्व सैनिक और उग्र विचारों के राष्ट्रवादी शामिल थे। इस दल के कार्यकर्ता काली कमीज पहनते थे, अस्त्र-शत्र रखते थे और अनुशासन प्रिय थे ,मुसोलिनी अपने दल का कमांडर था जिसे 'ड्यूस' (क्नबम) कहा जाता था।सरकार के तरफ से इसे समर्थन प्राप्त था, 1919- 1920 ई. में सेना के अधिकारीयों के बीच 'पोपोली डी इटालियन' मुफ्त बांटी गई।

फासियों ने अपने घोषणा पत्र में कई लुभावने वादे किये जिससे वो असंतोष भरी जनता को अपनी ओर आकर्षित कर सके, इस घोषणा पत्र में उन्होंने कहा कि उनकी पार्टी राजशाही और सामंती प्रथा को समाप्त करना, युद्ध के मुनाफे जब्त करना, अंतर्राष्ट्रीय निशस्त्रीकरण, शेयर बाजारों को उठा देना, किसानों को जमीने बांटना, उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण स्थापित करना इत्यादि शामिल था, फासियों के प्रचार अभियान में हड़ताल, खान-पान की सामग्री की लूट, जमीन और उद्योगों पर कब्ज़ा करने, राज्य व्यवस्था का वहिष्कार करना,उनके प्रचार अभियान में शामिल था। मुसोलिनी एक व्यक्ति, एक राज्य के शाशन में विश्वास करता था। उसका यह नारा था की राज्य का उसके सभी रूपों सहित नाश हो क्योंकि उसके अनुसार इटली के इस दुर्दशा का कारण लोकतंत्र था और वह लोकतंत्र के प्रति बहुत अवज्ञा प्रदर्शित करता था।

1920 ई. के प्रारम्भ और 1921 ई. के अंत तक फासिस्ट सशत्र दलों ने अनेक स्थानों पर साम्यवादी कार्यकर्ताओं और क्रांतिकारी मजदूर समुदायों के विरुद्ध संघर्ष किया, इससे मुसोलिनी का दल इटली में शक्तिशाली हो गया और 1921 ई. के चुनाव में उसके सदस्य 35 स्थानों पर विजयी हुए,अपनी इस बढती शक्ति के आधार पर उसने अक्टूबर 1922 ई. को नेपल्स में फासिस्ट अधिवेशन में घोषणा की कि सत्ता हमारे हाथों में सौंप दी जाय नहीं तो हम रोम पर चढ़ाई कर देंगे। 27 अक्टूबर 1922 ई. को मुसोलिनी करीब 40000 सशत्र युवकों के साथ रोम के तरफ चल पड़ा और इटली के कई प्रमुख नगरों पर अधिकार भी कर लिया,इसके कारण तत्कालीन प्रधानमंत्री लुइगी फैक्टा ने त्यागपत्र दे दिया जिसके बाद सम्राट विक्टर इमेनुअल ने मुसोलिनी को प्रधानमंत्री का पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया। 30 अक्टूबर 1922 ई. को मुसोलिनी ने रोम पहुचकर अपना मंत्रिमंडल गठित किया और बाद में प्रधानमंत्री का पद त्याग कर अधिनायक बन गया।

13.4. जर्मनी में नाज़ीवाद

13.4.1. नाज़ीवाद क्या है?

नाज़ीवाद फासीवाद का ही एक उग्र रूप है जिसको हिटलर ने जर्मनी में विकसित किया। नाज़ीवाद के अंतर्गत राष्ट्रवाद को सर्वोच्चता प्रदान की गई है, रजनी पाम दत्त के अनुसार इटली में फासीवाद आने तक उदारवादी' लोकतंत्रवादी और सामाजिक लोकतंत्रवादी हलकों में आमतौर पर यह माना जाता था कि फासीवाद और यहाँ का औद्योगिक सर्वहारा वर्ग मजबूत नहीं है, लेकिन जर्मनी यूरोप का सबसे उन्नत और औद्योगिक रूप से विकसित देश था और पूरे पूंजीवादी जगत में इससे संगठित और राजनैतिक रूप से सचेत औद्योगिक सर्वहारा और कही का नहीं था।

1923 ई. के म्यूनिख विद्रोह को असफल कर दिया जाता है और हिटलर को जेल भेज दिया जाता है, परन्तु वह अपने तेरह महीने के कारावास का उपयोग अपनी जीवनी 'मीन कैम्फ़' लिखने में व्यतीत करता है। जेल से बाहर आने के बाद उसने स्वयं को पेंटर (रंगसाज) के स्थान पर लेखक कहना शुरू कर दिया। समकालीन लोग और कुछ इतिहासकारों ने इस जीवनी को 'दिवास्वाप्न' मानकर महत्व नहीं दिया इसका कारण शब्दों का आडम्बरपूर्ण होना, बनावटी शैली, बार-बार दोहराने की परवर्ती और सम्भ्रांतियों और मौलिक विचारांे का पूर्ण आभाव । ए. जी. पी. टेलर के शब्दों में यह ऑस्ट्रिया के किसी भी कॉफ़ी हाउस या जर्मनी के किसी मधुशाला के वार्तालापों में गुजानेवाली

अभिव्यक्ति है, कुछ हद तक यह एक भ्रामक जीवनी है, तो यह एक राजनितिक कार्यक्रम और कार्यवाही की पुस्तिका भी है, उत्तरजीविका के लिए संघर्ष का विचारहै। हिटलर लोकतंत्र का विरोधी था, उसने इसका विरोध करते हुए कहा था कि 'लोकतान्त्रिक सिद्धांत सदैव जनता की बर्बादी का कारण बने थे, नाजियों का एक मात्र उद्देश्य यह था की पूंजी तथा श्रम का उपयोग राष्ट्र के हित में होना चाहिए और राष्ट्र की सामूहिक आवश्यकताओं के हित में ही उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था होनी चाहिये।

13.4.2. जर्मनी में नाज़ीवाद के उदय के कारण

वर्साय की संधि जहाँ जर्मनी के लिए एक सबसे शर्मनाक घटना थी जिसने वहां नाज़ीवाद को पनपने में काफी योगदान दिया ,वहीं उस समय जर्मनी में कुछ ऐसी घटनायें हो रही थीं जिसने इसे और मजबूत स्थिति प्रदान की। इसके पीछे आर्थिक मंदी, वाइमर गणतंत्र की असफलता, साम्यवाद का डर, यहूदी विरोधी नीति, जर्मनी के संविधान की कमियाँ और हिटलर का व्यक्तित्व जर्मनी में नाज़ीवाद के विकास के मुख्य कारण थे।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति वर्साय की संधि के साथ हुई, लेकिन यही वर्साय की संधि बाद में द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण भी बनी, वर्साय की संधि का सबसे ज्यादा विरोध जर्मनी की जनता ने किया, क्यूंकि इस संधि के तहत जर्मनी का निशस्त्रिकरण तो हुआ ही साथ ही जर्मनी को और कई कठोर शर्तों को मानना पड़ा। इस संधि के अनुसार उसे मित्र राष्ट्रों को युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए एक बड़ी रकम देनी थी। मित्र राष्ट्रों द्वारा राइन प्रदेश, तथा उसके उपनिवेशों को छीना जाना तथा फ्रांस द्वारा उसके खदानों पर कब्ज़ा करना आदि से जर्मनी की जनता बहुत नाखुश थी, हिटलर तथा उसकी नाज़ी पार्टी इसका विरोध करती थी, जिसके कारण उसकी पार्टी को जर्मनी में काफी समर्थन मिला।

प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में एक भयानक आथिक संकट 1929 ई. में आया। इस आर्थिक मंदी ने जर्मनी की अर्थव्यवस्था को बिगाड़ के रख दिया, रुर पर फ्रांसिसी कब्ज़े के कारण उसके उद्योग धंधे ठप हो गए तथा इस संकट के कारण जर्मनी की मुद्रा का अवमूल्यन हो गया और जर्मन मुद्रा मार्क का मूल्य घट गया। इसके कारण व्यापार और रोजगार का पतन हुआ, बेरोजगारो की संख्या वर्ष 1930 ई. तक आते आते जर्मनी में पचास लाख से अधिक पहुँच गई थी और यह वही समय था जब नाज़ी दल के सदस्यों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई। 1931 ई. में जर्मन कृषकांे पर तीन अरब डॉलर का कर्ज था । हिटलर ने कृषकांे को इन कर्ज से मुक्ति का अश्वासन दिया, वहीं दूसरी ओर छोटे-छोटे दुकानदारों को बड़े-बड़े दुकानदारों से मिल रही प्रतिस्पर्धा से हानि पहुँचती थी। हिटलर ने कहा कि बड़े-बड़े दुकानों का समाजीकरण कर दिया जायेगा, जिसके कारण नाज़ी दल के समर्थकों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय के बाद वहाँ पर एक गणतंत्र की स्थापना की गई जिसे वाइमर गणतंत्र के नाम से जाना जाता है, वर्साय की संधि पर वाइमर गणतंत्र की सरकार ने ही हस्ताक्षर किया था, इस कारण से जर्मन लोगों ने इस सरकार को अंतरात्मा से नहीं स्वीकार किया, वहीं दूसरी ओर नाजियों द्वारा बिखराव और फूट पैदा करने से वाइमर गणतंत्र कमजोर हो रहा था, परिणाम यह हुआ की पूंजीवादी वर्ग और सामंती समाज का मुख्य हिस्सा नाजियों में जा मिला, हिटलर वर्साय की संधि और वाइमर गणतंत्र का विरोध करता था जिससे उसकी पार्टी को सत्ता में आने में लोगो का समर्थन मिला।

1917 ई. के रुसी क्रांति के बाद वहाँ साम्यवादी सरकार स्थापित होती है जिसके बाद पूरे यूरोप में समाजवाद लाने के लिए लगभग सभी यूरोपीय देशों में कमिन्टर्न की स्थापना की गई, जर्मनी में भी समाजवादी क्रांति लाने के लिये कमिन्टर्न की स्थापना हुई जिससे वहां के पूंजीपति एवं सामंती समाज पर खतरा मडराने लगा। इस बात की पुष्टि 1932 ई. के प्रथम लोकसभा निर्वाचन से होती है जिसमंे साम्यवादियों को 89 (सीट) तथा इसी वर्ष दुसरे निर्वाचन में 100(सीट) स्थान प्राप्त हुए थे। इस कारण वहां के पूंजीपति वर्ग में समाजवाद का डर बढ़ जाता है। इसी दरम्यान हिटलर कमिन्टर्न विरोध का नारा देता है, साथ ही वह अपने कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर कमिन्टर्न कार्यालयों पर आक्रमण करना शुरू कर देता है, अब साम्यवादी आन्दोलन और प्रतिरोध को दबाने के लिए नाजियों को पुलिस और अदालत से संरक्षण मिलने लगता है, इसके बाद हम देखतें हैं कि हिटलर को जो पहले पूंजीपतियों द्वारा आंशिक मदद मिल रही थी वह अब जर्मन पूंजीपति के साथ साथ विदेशी बुर्जवा से भी मदद तथा धन प्राप्त होने लगता है।

हिटलर की यहूदी विरोधी नीतियों ने भी नाजियों को सता में आने में एक हद तक योगदान दिया, प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय के समय ही जर्मन जनता में यह भावना व्याप्त हो गई की जर्मनी की पराजय यहूदियों के कारण हुई थी, जर्मनी में यहूदियों की संख्या बहुत कम थी पर ये राजनैतिक रूप से काफी सचेत थे। व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा और कला में काफी आगे थे, बड़े उद्योंगों पर इनका स्वामित्व होने से जनता इन्हें अपना शोषक मानती थी, हिटलर भी यहूदियों को उपर्युक्त कारणों के लिए जिम्मेदार मानता था और कहता था कि ये संकर जातियां है तथा ये राष्ट्रीय पतन का घोतक है, इसके साथ ही वह यहूदियों को उदारवाद तथा लोकतंत्र का पोषक मानता था इसलिए वो इनको जर्मनी से बाहर निकाल फेंकने की बात करता था, हिटलर यहूदियों की नागरिकता रद्द कर देता है, तथा सरकारी नौकरियों से हटा देता है, स्कूल और कॉलेजों में पढ़ रहे यहूदी छात्रों का नामांकन रद्द कर देता है, हिटलर की इस नीति के कारण वहाँ की जनता नाज़ी पार्टी की समर्थन करने लगती है।

13.4.3. हिटलर द्वारा जर्मनी में नाज़ीवाद का विकास

हिटलर का जन्म 20 अप्रैल 1889 ई. में ऑस्ट्रिया की राजधानी वियना के समीप एक गाँव में हुआ था,इसके पिता कस्टम अधिकारी थे और सख्त अनुशासन में विश्वास रखते थे, हिटलर अपने पिता के प्रति कभी विरोधी भावनाएं रखता था, स्कूल के समय से ही उसके अन्दर जर्मन राष्ट्रवादी भावनाएं प्रबल हो रही थी, शुरुवाती दिनों में वह पेशे से पेंटर था, हिटलर का व्यक्तित्व और भाषण का जादुई असर था क्यूंकि उसके पार्टी की जनता पर पकड़ ना होते हुए भी सरकार पर प्रभाव डाले हुए थी। हिटलर एक कुशल नेतृत्व कर्ता और जन नेता था।

प्रथम विश्वयुद्ध में वह जर्मन सेना में बतौर सैनिक शामिल हुआ और पुरष्कृत भी किया गया, 1920 ई. में म्यूनिख में फेडरर के साथ मिलकर उसने 'नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी' का गठन किया। उसकी आत्मकथा 'मीन कैम्फ' नाज़ी पार्टी के लिए एक प्रेरणा श्रोत पुस्तक बन गई। उसके द्वारा आर्यों के पवित्रता के सूचक स्वास्तिक को प्रतीक रूप से ग्रहण कर सैनिक ढंग से पार्टी संगठित की गई थी।

जर्मनी में नाजीवाद के आने के लिए हिटलर के आकर्षक कार्यक्रम ने सबसे ज्यादा योगदान दिया, उसने अपने कार्यक्रम में, वर्साय की संधि से जर्मनी पर लगा अपमान समाप्त करना, जर्मन भाषी सभी राज्यों को मिला कर एक

सुदृढ़ राज्य की स्थापना करना, प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत जर्मनी के छीने गये उपनिवेश पुनः प्राप्त करना, यहूदियों को जर्मन राष्ट्र से निकलना, जर्मन क्षेत्रों का विस्तार करना, साम्यवादी प्रक्रिया को रोकना, देश में शांति की स्थापना करना, बेरोजगारी को दूर करना, श्रमिकों को शोषितों से मुक्ति दिलाना, मुनाफाखोरी को रोकना तथा पुराने गौरव की स्थापना करना आदि शामिल था। इस तरह नाज़ी कार्यक्रम के कारण हिटलर को जनता का समर्थन प्राप्त होने लगता है और इस तरह 1933 ई. में हिटलर सत्ता में आकर जर्मनी में तानाशाही की स्थापना करता है।

13.5. जापान में सैन्यवाद

13.5.1. सैन्यवाद क्या है?

सैन्यवाद उग्रराष्ट्रवाद के परिणाम स्वरुप उत्पन एक ऐसी विचारधारा और राजनैतिक गतिविधि है जिसके तहत सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं, संस्कृति और राजनीति सैन्य मूल्य के अधीन हो जाता है। जिस किसी देश में भी ऐसा वातावरण हो वहाँ पर सबसे महत्वपूर्ण युद्ध तथा उससे सम्बंधित तैयारियां हो जाती हैं। जहाँ कही भी सैन्यवाद जन्म लेता है वहाँ पर मनुष्यों या उस देश के नागरिकों की सुविधाओं का ध्यान बाद में रखा जाता है जबकि इसमें युद्ध को ज्यादा महत्व दिया जाता है। इसमें सैनिकों का प्रभाव ज्यादा होता है तथा देश के कोई भी नियम उनके हिसाब से ही बनाये जाते है। ऐसी परिस्थितियों में सरकार द्वारा गठित मंत्रिमंडल जो सेना से सम्बंधित हो उसका चुनाव भी सैनिक अधिकारियों के बीच से किया जाता है, अगर सरकार चाहे भी तो उनके इजाजत के वगैर अपनी मंत्रीमंडल का गठन नहीं कर सकती, सैन्यवाद वहीं आता है जहां राजतन्त्र या लोकतंत्र कमजोर होता है।

सैन्यवाद का एक उग्र रूप जापान में भी उभर कर आता है। जापान जो एशिया महादेश का एक छोटा सा देश ह,ै वह पश्चिमी देशों के साथ संपर्क में आ कर बीसंवी शताब्दी में खुद साम्राज्यवादी बन जाता है। उस समय एशिया महादेश के लगभग सभी देशो पर साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों का प्रभाव था पर सिर्फ जापान ही अपना अस्तित्व बचाए रखने में सक्षम रहा,जापान में उस समय कुछ ऐसी परिस्थितियां थी जिसके कारण वहां पर सैन्यवाद मजबूत हुआ। जापान में सैन्यवाद के उदय में लोकतंत्र तथा उदारवादियों की नाकामी, उपनिवेश की इक्षा, आत्म सु ुरक्षा और आर्थिक विकास आदि ने बहुत योगदान दिया।

13.5.2. जापान में सैन्यवाद के कारण

1853 ई. में कॉमोडोर पैरी का जापान के तटीय क्षेत्र पर आगमन के साथ ही जापान व्यापारिक उद्देश्य से पूरे यूरोप के लिए खुल जाता है, इस घटनाक्रम के बाद वहाँ के शासक कुछ रियायतों के साथ मुक्त व्यापार की नीति मानने को तैयार हो गई थे और यही बाद में तोकुगावा का पतन और मेजी पुनःस्थापना में भी हुआ। जापान को उस समय से ही अपनी अस्तित्व बचाने के लिए इन यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों का सामना करना पड रहा था जिसके कारण जापान अपने आप को 20वीं सदी के शुरुवात तक मजबूत बनाता है। जापान में सैन्यवाद के कई कारण थे, जिसमें उपनिवेशवाद की इक्षा, आर्थिक मंदी, आत्म सुरक्षा और लोकतंत्र तथा उदारवादियों की नाकामी आदि शामिल हैं।

जापानी उपनिवेशवादी नीति ने भी सैन्यवाद को पनपने में योगदान दिया, जापान अपने आप को सैनिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में मजबूत करता है और 19वीं शताब्दी के अंतिम समय तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से खुद साम्राज्यवादी सोच

अपनाने लगता है, चूँकि जापान उस समय एशिया का एक मात्र शक्तिशाली देश था इसलिए साम्राज्यवादी नीति का प्रसार करने लगता है, ताकि वह पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सके, जबकि 1895 ई. के पहले भी जापान ने अपनी सेना का निर्माण तथा आधुनिकीकरण किया था पर जापानी नेताओं ने यह महसूस किया की अभी जापान साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों की बराबरी नहीं कर पाया है, इस कारण से जापान में 1895 ई. से 1904 ई. के बीच बड़ी तेजी से सैन्यवाद का विकास हुआ।

मध्य काल में जापान में भी सामंतवाद मजबूत था और जापान में सामंतों का शासन था पर 1867 ई. में अंतिम शोगुन सामंत द्वारा त्यागपत्र देना तथा 1868 ई. में सम्राट मुत्सुहितो द्वारा देश की सम्पूर्ण सत्ता संभालना जापान की एक बड़ी घटना थी, इसके बाद जापान जल्द ही प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति कर विश्व में शीघ्र ही एक शक्तिशाली एवं सम्मानीय देश बन गया, जापान के इतिहांस में फिर से एक मोड़ तब आया जब 1912 ई. में सम्राट मुत्सुहितो की मृत्यु के बाद सैन्यवाद ने अपना वर्चस्व बढ़ाना शुरु कर दिया जबकि 1907ई. से ही सेना के उच्च अधिकारी अपनी अहम् भूमिका निभा रहे थे। अगर इसके बाद का जापानी इतिहास को देंखे तो पाते है की 1918ई. से 1932ई. के बीच वहाँ पर दलीय सरकारें थी लेकिन वहाँ के प्रधानमंत्री और उनके मंत्रिमंडल के अधिकतर सदस्य प्रतिनिधि सभा के बहुदलीय दल के होते थे, बावजूद इसके उन्होंने एक आदर्श संवैधानिक प्रणाली के रूप में अपने आप को स्थिर नहीं कर पाया था। दूसरी तरफ उदारवादी भी जापान को एक लोकतान्त्रिक राज्य बनाने में असफल रहे। इन्ही सब परिस्थितियों में जापान में सैन्यवाद या उग्रराष्ट्रवाद का जन्म हुआ।

जापान के नेता और सैन्य अधिकारी सुरक्षा कारणों से यह महसूस करते थे कि अगर जापान अपने आप को सैन्य दृष्टि से मजबूत नहीं करेगा तो पश्चिमी साम्राज्यवादी देश विशेष कर रूस उसको जीत कर अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लेगा, पहले भी 1904-05 ई. में रूस के साथ जापान का युद्ध हो चुका था, जिसके कारण जापानियों को लगता था कि अगर जापान सैनिक दृष्टी से कमजोर हो जायेगा तो रूस उसके ऊपर आक्रमण कर देगा, 19 वीं शदी के आखिर तक पडोसी चीन भी आर्थिक और सैनिक दृष्टि से कमजोर था जिसके कारण एशिया में अपनी साख बचाए रखने के लिए जापान ने सैन्यवाद को बढ़ावा दिया।

आर्थिक दृष्टि से भी जापान में सैन्यवाद जरुरी था, जापान की अर्थव्यवस्था पर विदेशी व्यापार का बहुत महत्व था जिसके कारण 1929 ई. में आई आर्थिक मंदी ने वहाँ के लोगों की स्थिति को दयनीय बना दिया, यह आर्थिक मंदी तब आई थी जब जापान के लोग 1923ई. में आये भूकंप और 1920 के दशक में आर्थिक अस्थिरता ने वहाँ के किसानों और मजदूरों को बहुत बुरी तरह प्रभावित कर दिया था। इस कारण से उस समय जापान में साम्राज्यवाद की भावना प्रबल होने लगी जिससे कि विदेशी व्यापार को जारी रखा जा सके, आर्थिक विकास के लिए भी चीन के बाजार की जरुरत थी जहाँ उसके कपडा तथा निर्मित वस्तुओं का निर्यात किया जा सके।चीन इसके लिए एक अच्छा बाजार था जहाँ कच्चा माल भी प्राप्त किया जा सकता था, साथ ही जापान अपनी बढती जनसंख्या को मंचूरिया में बसा सकता था तथा वहाँ से कच्चा माल भी पा सकता था इसलिए उसने 1931 ई. में मंचूरिया पर कब्ज़ा कर लियाद्य।

13.6. सारांश

इस इकाई में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में उत्पन्न राजनीति और कूटनीति के साथ इटली और जर्मनी में फासी और नाज़ी तानाशाही के साथ एशिया का सबसे शक्तिशाली देश जापान में सैन्यवाद के आने के कारणों का जिक्र किया गया है। फासीवाद और नाज़ीवाद कैसे उग्रराष्ट्रवाद की आड़ में द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बना, इसमें आपने मुसोलिनी तथा हिटलर के व्यक्तित्व और उसके नेतृत्व का भी अध्ययन किया। जापान कैसे यूरोपीय औपनिवेशिक देशों की बराबरी करने के लिए सैन्यवादी नीति को अपनाता है इसका भी विवरण किया गया है। दुनिया के यही वो देश और लोग थे जिन्होनें अपनी आक्रमणकरी नीति के तहत एक बार फिर पूरे विश्व को महायुद्ध में धकेल दिया, इस युद्ध के लिए दुसरी यूरोपीय शक्तियां जैसे इंग्लैण्ड और फ्रांस भी कम जिम्मेदार नहीं थी क्यूंकि इन्हें अपने उपनिवेशों को बनाए रखने की चिंता थी जबकि फासीवादी देश भूखे साम्राज्यवादी थे जिन्हें अपनी शक्ति के हिसाब से उपनिवेशों की लूट में अनुपातिक हिस्सा नहीं मिला। इसी कारण से द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ और फासीवादी राष्ट्रों की हार हुई।

13.7. शब्दावली

वाइमर गणतंत्र: प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के पराजय के बाद वहाँ पर एक गणतंत्र की स्थापना की गई जिसे वाइमर गणतंत्र के नाम से जाना जाता है।

कमिनटर्न:रुसी क्रांति के बाद रूस के बाहर दुसरे देशो में साम्यवादी क्रांति लाने के उदेश्य से गठित की गई संस्था।

साम्यवाद:ऐसी संस्था जिसमे संसाधनों पर सामूहिक या सर्कार की नियंत्रण हो।

पूंजीवाद: उत्पादन पर निजी स्वामित्व

साम्राज्यवाद: किसी शक्तिशाली देश द्वारा किसी दुसरे देश को शैनिक शक्ति के बल पर आधिपत्य करना और उसके संसाधनों का अपने हित के लिए उपयोग करना।

उपनिवेश: जिस देश को साम्राज्यवादी देश अपने प्रभाव क्षेत्र में लेते है उस देश को उसका उपनिवेश कहा जाता है।

राष्ट्रवाद:किसी खास भौगोलिक क्षेत्र के लोगों में अपनी संस्कृति औए समाजिक समानता के कारण अपने क्षेत्र के प्रति भावनात्मक लगाव।

उग्रराष्ट्रवाद:किसी खास क्षेत्र या राष्ट्र के द्वारा राष्ट्रवाद के नाम पर आक्रामक नीति को अपनाना ।

13.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1. फासीवाद से आप क्या समझते है?

उत्तर देखिये भाग 2.3.1.

प्रश्न 2. नाज़ीवाद से आप क्या समझते है?

उत्तर देखिये भाग 2.4.1.

प्रश्न 3. हिटलर के जीवन के बारे में बताइए।

उत्तर देखिये भाग 2.4.3.

प्रश्न 4. सैन्यवाद से आप क्या समझते हैं?

उत्तर देखिये भाग 2.5.1

13.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

रजनी पाम दत्त;फासीवाद और सामाजिक क्रांति. अनुवादक- अरविन्द मोहन. 2002.ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड.

जेम्स जौल;यूरोप 1870 से,1991.हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.

पार्थसारथि गुप्ता;यूरोप का इतिहास, 1983, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.

देवेश विजय, मीना भरद्वाज, वंदना चौधरी;आधुनिक यूरोप का इतिहास आयाम एवं दिशाएं.2010.हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.

Japan's Emergence as a Modern State.

13.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम

लालबहादुर वर्मा;यूरोप का इतिहास (1789-1945.

Modern Europe Since 1789.

अनुप कुमार;आधुनिक यूरोप का इतिहास.

हरिशंकर शर्मा; आधुनिक विश्व.

जैन और माथुर; आधुनिक विश्व इतिहासरू 1500-2000.

13.11. निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न.1.फासीवाद क्या है? इसकी प्रकृति के बारे चर्चा करे

प्रश्न.2. इटली में फासीवाद के उदय के क्या कारण थे

प्रश्न.3. इटली में फासीवाद लाने में मुसोलिनी का क्या योगदान था द्य

प्रश्न.4. वर्साय के संधि के अलावा जर्मनी में ऐसी कौन सी परिस्थितिया थी जिसके कारण वहाँ नाजीवाद को पनपने में मदद मिली?

प्रश्न.5. जर्मनी में नाजियों के सता में आने के लिये हिटलर का क्या योगदान था ?

प्रश्न.6. जापान की किन परिस्थितियों ने वहाँ पर सैन्यवाद को प्रबल किया ?

इकाई चौदह

द्वितीय विश्व युद्ध

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण

- 14.3.1 वर्साय की सन्धि
- 14.3.2 1930 की महामन्दी
- 14.3.3 जापानी सैन्यवाद का उभार
- 14.3.4 विचारधारात्मक कारण
- 14.3.5 हिटलर की भूमिका
- 14.3.6 तुष्टीकरण की नीति
- 14.3.7 लीग आफ नेशन्स की असफलता
- 14.3.8 विजेता राष्ट्रों का मनमानापन
- 14.3.9 इतिहासकारों का दृष्टिकोण: दोषी कौन?

14.4 युद्ध का घटनाक्रम

- 14.4.1 आरम्भिक चाल: सितम्बर 1939-दिसम्बर 1940 सितम्बर
- 14.4.2 धुरी राष्ट्रों के आक्रमणों में तेजी: 1941-1942
- 14.4.3 धुरी राष्ट्रों के आक्रमण प्रतिरोध में फँसे: 1942◌:1943
- 14.4.4 धुरी राष्ट्रों की पराजय: जुलाई 1943-अगस्त 1945

14.5 युद्ध के परिणाम

- 14.5.1 जानमाल और सम्पत्ति की अभूतपूर्व तबाही
- 14.5.2 विस्थापन की महामारी
- 14.5.3 उपनिवेशवाद विरोधी उभार
- 14.5.4 शक्ति सन्तुलन में फेरबदल
- 14.5.5 सर्व-समावेशी शान्ति समझौते का अभाव
- 14.5.6 अफ्रीका और मध्य पूर्व में स्वतन्त्रता की लहर
- 14.5.7 सामाजिक और वैज्ञानिक विकास का दौर
- 14.5.8 युद्ध के सांस्कृतिक प्रभाव
- 14.5.9 संयुक्त राष्ट्रसंघ का उदय

14.6 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

14.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.8 अध्ययन के लिए ग्रन्थ सूची

14.9 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम द्वितीय विश्व युद्ध के महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन करेंगे। विश्वयुद्ध के कारणों व उसकी पृष्ठभूमि की जानकारी भी इस इकाई में हासिल कर सकेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप बीसवीं सदी के सबसे विध्वंसकारी युद्ध के विभिन्न कारकों के सापेक्षिक महत्व का विश्लेषण कर सकेंगे।

आप इस इकाई में युद्ध के प्रमुख घटनाक्रम की जानकारी हासिल करेंगे 1939-1945 के वर्ष भारी उथल-पुथल वाले वर्षों में महायुद्ध के विभिन्न मोर्चो पर काफी महत्वपूर्ण घटनाएँ देखी गई थीं। इस घटनाक्रम की संक्षिप्त जानकारी से आप युद्ध के उन तथ्यों को जानेंगे जो उसके विश्लेषण के लिए जरूरी हैं।

युद्ध के तात्कालिक व दूरगामी परिणामों पर चर्चा व विश्लेषण भी इस इकाई में हम करेंगे, जिसके बाद इतिहास की दिशा बदल देने वाले महायुद्ध की भूमिका को आप सफलतापूर्वक जान सकेंगे।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इन बातों में सक्षम हो जाएँगेः

1. द्वितीय विश्व युद्ध के मुद्दों को जानेंगे और उसके लिए जिम्मेदार विभिन्न कारकों के आपेक्षिक महत्व को समझ सकेंगे।
2. युद्ध की शुरुआत से अन्त तक की घटनाओं को पूरी तरह समझ सकेंगे और उसकी दिशा निर्धारक निर्णायक घटनाओं की व्याख्या कर सकेंगे।
3. युद्ध के तात्कालिक व दूरगामी परिणामों को समझकर इस युद्ध की पूरी भयावहता को उद्घाटित कर सकेंगे और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिदृष्य में आमूल परिवर्तन लाने वाली इसकी भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।

14.3 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका के लिए अनेक कारक जिम्मेदार थे, जिनकी हम नीचे चर्चा करने जा रहे हैं-

14.3.1 वर्साय की सन्धि

प्रथम विश्व युद्ध के अन्त में पेरिस के वर्साय शहर में की गई इस सन्धि को दितीय विश्व युद्ध के लिए जिम्मेदार माना जाता है। कहा जाता है कि जर्मनी के साथ विजेता राष्ट्रों ने जिस तरह का अपमानजनक व्यवहार किया था उससे जर्मन स्वाभिमान आहत हुआ था। विजेता राष्ट्रों ने जिस तरह जर्मन भूमि को उससे अलग किया था, उसकी सेनाओं के आकार-प्रकार पर पाबन्दियाँ लादी थीं और उस पर 'युद्ध अपराधी की धारा' जड़ी थी, उसने मित्र राष्ट्रों को जर्मन घृणा

का निशाना बना दिया था। इसी तरह, जापान और इटली भी प्रथम विश्व युद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों के व्यवहार से खुद को ठगा महसूस करते थे। वर्साय की सन्धि ने विभिन्न देशों के बीच शान्ति स्थापना के लिए जिस लीग आफ नेशन्स का गठन किया था, वह पूरी तरह अप्रभावी हो गई थी। वर्साय सन्धि की खुली अवहेलना हिटलर लगातार करता रहा, लेकिन लीग हाथ पर हाथ धरे बैठी रही।

14.3.2 1930 की महामन्दी

29 अक्टूबर 1929 को अमरीकी शेयर बाजार यानी वाल स्ट्रीट के औंधे मुँह गिरने के साथ दुनिया एक आर्थिक संकट, बल्कि महामन्दी के आगोश में आ गई थी, जो द्वितीय विश्व युद्ध के कारकों को और तीखा बनाने वाली साबित हुई। महामन्दी ने जर्मनी की पहले से ही संकटग्रस्त आर्थिक दशा को बिलकुल बेजार कर दिया। नतीजतन, जर्मनी ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय देशों के लिए निर्धारित क्षतिपूर्ति की अदायगी रोक दी, जिसके कारण यूरोपीय देशों के आर्थिक कार्यक्रम भी लड़खड़ाने लगे। जर्मनी की अन्दरूनी राजनीति का इस आर्थिक संकट से अछूता रहना नामुमकिन था, और वहाँ वाइमर गणतन्त्र धराशाई हो गया। इस राजनीतिक अनिश्चितता, विकास के अवसरों में कमी, क्रय शक्ति की गिरावट और श्रमिक असन्तोष के कारण मजबूत सरकार की माँग करने वालों का शोर तेज हो गया। हिटलर चालाकी से इस अवसर को भुनाने में कामयाब हुआ और जर्मनी की सत्ता पर काबिज हो गया। उसे पूँजीपतियों का भी साथ मिला, क्योंकि मजदूर संघों को मटियामेट करने व अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता से संरक्षण के अपने स्वार्थ के लिए वे उसे उपयोगी समझते थे।

14.3.3 जापानी सैन्यवाद का उभार

आर्थिक महामन्दी का असर जापान पर भी घातक साबित हुआ। बढ़ती बेरोजगारी, निर्यात मंे गिरावट और ग्रामीण इलाकों में फैलते जनअसन्तोष के कारण जापान राजनीतिक अस्थिरता के माहौल में डूब गया। नागरिक सरकार की नीतियों से जनता का भरोसा उठ गया, और इस माहौल में वहाँ की ताकतवर सैन्य संस्थाओं को नियन्त्रित करना उसके लिए मुश्किल हो गया। 1931 में जापान ने चीन के प्रान्त मन्चूरिया पर कब्जा जमा लिया, और फिर समूचे चीन के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया, द्वितीय महायुद्ध में कूद पड़ा और 7 दिसम्बर 1941 को पर्ल हार्बर पर हमला कर दिया।

14.3.4 विचारधारात्मक कारण

द्वितीय महायुद्ध की आग भड़काने में वैचारिक कारकों ने भी बारूद का काम किया था। जर्मनी और इटली के फासिस्टों और जापान के सैन्यवादियों के कारण समाज का समूचा माहौल बदल गया था। विस्तारवाद की इन ताकतों का लक्ष्य अन्य देशों की जमीन हड़पकर अपनी राष्ट्रीय सीमाओं का विस्तार करना था। दूसरी तरफ रूस के बोल्शेविक विश्व क्रान्ति को अंजाम देने और दुनिया के मजदूरों को एकताबद्ध करने में लगे थे, जिसके कारण पश्चिमी देश रूसी इरादों के प्रति सशंकित थे। फ्रान्स, जर्मनी और इटली ने तो बोल्शेविक रूस को राष्ट्र के रूप में अन्ततः 1924 में मान्यता दे दी थी, लेकिन अमरीका ने ऐसा नहीं किया, और वह 1934 तक रूस के अस्तित्व को मानने से इनकार करता रहा। दो तरह की तानाशाही, मसलन रूस में कम्युनिस्ट और इटली, जर्मनी, जापान, स्पेन और पुर्तगाल में

फासिस्ट तानाशाही के उदय के कारण सामाजिक ढाँचों के पुनर्गठन की शुरुआत हो चुकी थी। ब्रिटेन और फ्रान्स के प्रभावशाली तबके में यह धारणा भी थी कि एक मजबूत जर्मनी कम्युनिज्म के विस्तार को रोक देने वाली ढाल बन सकता है।

14.3.5 हिटलर की भूमिका

इतिहासकार स्टीफेन जे. ली ने द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भिक दौर को 'हिटलर का युद्ध' कहा है। हिटलर का मकसद जर्मनी को फिर से महाशक्ति बनाना और जर्मन स्वाभिमान को पुनर्जीवित करना था। इस उद्देश्य के लिए जरूरी था कि वर्साय की अपमानजनक सन्धि का खात्मा करके जर्मन सेनाओं को सुदृढ़ किया जाए, सारलैन्ड और पोलिश गलियारे जैसे मित्र राष्ट्रों द्वारा छीने गए जर्मन इलाकों को वापस ले लिया जाए, सभी जर्मन लोगों को राइक के अधीन इकट्ठा करने के लिए आस्ट्रिया को जर्मनी से मिलाया जाए, और चेकोस्लोवाकिया व पोलैन्ड के जर्मन बहुल इलाकों को भी जर्मनी की राष्ट्रीय सीमाओं का अंग बनाया जाए।

अधिकांश इतिहासकार मानते हैं कि इन क्षेत्रों के अधिग्रहण की जर्मन कोशिशें समूचे पोलैन्ड व चेकोस्लोवाकिया और उत्तर में यूराल पर्वत श्रंखला तक फैली रूसी भूमि को हड़पने की हिटलर की महायोजना का अंग थी। हिटलर का लक्ष्य एक लेबेनस्रॉम (जर्मन राष्ट्र की खुशहाली के लिए जरूरी भौगोलिक क्षेत्र) को साकार करना था, जिसमें जर्मन लोगों की खाद्य जरूरतों की पूर्ति सुनिश्चित होने के अलावा अतिरिक्त जर्मन जनसंख्या का भार भी पूर्वी यूरोप के इलाकों में स्थानान्तरित हो जाता। इतिहासकारों की इस धारणा के उलट ए.जे.पी टेलर मानते हैं कि हिटलर किसी बड़े युद्ध को छेड़ने का इरादा नहीं रखता था, बल्कि केवल पोलैन्ड के साथ एक सीमित युद्ध चाहता था।

उसके दूरगामी इरादे चाहे जो रहे हों, यह तो मानना ही होगा कि हिटलर की विदेश नीति का शुरुआती दौर बेहद सफल साबित हुआ। उसने निशस्त्रीकरण के वैश्विक सम्मेलन और लीग ऑफ नेशन्स से जर्मनी को अलग कर लिया। इसके बाद पोलैन्ड के साथ एक दस साल की अवधि वाली अनाक्रमण सन्धि कर ली। एक जनमतसंग्रह के जरिए सारलैन्ड के जर्मन इलाके को जर्मनी की राष्ट्रीय सीमाओं से दोबारा जोड़ लिया। उसने सेना में अनिवार्य भरती का अभियान छेड़ दिया और वर्साय सन्धि द्वारा जर्मन सैन्य बलों की संख्या सीमित करने वाले प्रावधानों को धता बता दिया। हिटलर ने मार्च 1936 में वर्साय सन्धि द्वारा राइनेलैन्ड के असैन्यीकृत किए गए इलाके में अपनी सेनाओं की दोबारा तैनाती कर दी। 1936 में, बाद मंे मुसोलिनी के इटली के साथ रोम-बर्लिन धुरी और जापान के साथ कोमिन्टर्न विरोधी समझौते (1937 में जिसमें इटली भी शामिल हो गया) को अंजाम देकर हिटलर ने जर्मनी को काफी ताकतवर बना लिया। 1938 में वह आस्ट्रिया में घुस गया, और इस तरह एन्शुलस (जर्मनी के साथ एकताबद्ध आस्ट्रिया) का सपना साकार हो गया। वर्साय सन्धि का मखौल उड़ाने वाले हिटलर के इन कदमों के लिए मित्र राष्ट्रों द्वारा अपनाई गई जर्मन तुष्टीकरण की नीति भी जिम्मेदार थी।

14.3.6 तुष्टीकरण की नीति

युद्ध से बचने के लिए जर्मनी, इटली और जापान जैसे आक्रामक देशों के प्रति बिटेन और फ्रान्स तुष्टीकरण की नीति अपना रहे थे, बशर्ते वे अत्यन्त बेजा न हों। मन्चूरिया और अबीसीनिया पर जर्मन कब्जे, जर्मन पुनर्सैन्यीकरण

और राइनेलैन्ड पर फिर से दाखिल होने जैसी सभी घटनाएँ मित्र राष्ट्रांे द्वारा स्वीकार कर ली गई थीं। एक तरफ स्पेन के गृह युद्ध में ब्रिटेन और फ्रान्स तटस्थ बने रहे, दूसरी तरफ जर्मनी और इटली स्पेन के तानाशाह जनरल फ्रान्को का खुला समर्थन करते रहे। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को अपनी राष्ट्रीय सीमा में मिला लेने यानी एन्शुलस (मार्च 1938) का ब्रिटेन और फ्रान्स ने जोरदार विरोध जरूर किया था, लेकिन उस वक्त भी ब्रिटेन में अनेक लोग इसे दो जर्मन समूहों की स्वाभाविक एकता बता रहे थे। तुष्टीकरण की इस नीति की पराकाष्ठा 29 सितम्बर 1938 को म्युनिख में तब देखी गई जब युद्ध से बच निकलने की अपनी बेकरारी के चलते ब्रिटेन और फ्रान्स ने चेकोस्लोवाकिया के जर्मन बहुल प्रान्त सुडेटेनलैन्ड को भी हिटलर को सौंप दिया। इस समझौते में चेकोस्लोवाकिया की शेष सीमाओं की रक्षा करने की गारन्टी इटली, ब्रिटेन और फ्रान्स के साथ-साथ जर्मनी ने संयुक्त तौर पर दी थी।

इन समझौतों से हिटलर की विस्तारवादी प्यास कम न हुई। नतीजतन, मार्च 1939 में हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करते हुए उसकी बाकी भूमि भी हड़प गया। अप्रैल 1939 में हिटलर डेन्ज़िग बन्दरगाह और पोलिश गलियारे में सड़क व रेल मार्ग स्थापित करने की माँग उठाने लगा। हालाँकि डेन्ज़िग जर्मन बहुल इलाका तो था, लेकिन इस माँग के पीछे हिटलर की असली मंशा पोलैन्ड पर हमला करने की थी। इसी दौरान, हिटलर ने सोवियत संघ के साथ दस साल के लिए एक अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर किए, जिसके तहत पोलैन्ड पर हमला होने की सूरत में सोवियत संघ को तटस्थ रहना था, और पोलैन्ड व बाल्टिक देशों के क्षेत्रों का एक आपसी बँटवारा किया गया था (24 अगस्त, 1939)। हिटलर को मुगालता था कि रूस के तटस्थ रहने पर ब्रिटेन व फ्रान्स पोलैन्ड के सवाल पर हस्तक्षेप नहीं कर पाएँगे। लेकिन 1 सितम्बर 1939 में हिटलर की सेना द्वारा पोलैन्ड पर हमला करने के बाद 3 सितम्बर 1939 को इंगलैन्ड द्वारा जर्मनी के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया गया।

14.3.7 लीग आफ नेशन्स की असफलता

दुनिया में शान्ति कायम रखने के उद्देश्य से प्रथम विश्व युद्ध के बाद गठित लीग ऑफ नेशन्स तमाम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के सन्दर्भ में नाकारा साबित हुई। जापान ने मन्चूरिया, इटली ने अबीसीनिया और जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया को हड़प लिया, और लीग मूक दर्शक बनी रही। मतभेदों का समाधान ढूँढ़ने में इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की यह असफलता दुनिया को युद्ध की ओर धकेलने वाली साबित हुई।

14.3.8 विजेता राष्ट्रों का मनमानापन

विजेता राष्ट्रों द्वारा वर्साय सन्धि के जरिए पराजित राष्ट्रों के सीमा क्षेत्रों की काट-छाँट में जो मनमानपन किया गया वह द्वितीय विश्व युद्ध का एक कारण बन गया; एक नस्ल व संस्कृति के लोगों को बिलकुल भिन्न संस्कृति वाले राष्ट्र की सीमाओं में धकेलने से जन-असन्तोष का पनपना स्वाभाविक था। ये लोग अपन नस्लीय क्षेत्र से जुड़ने की माँग करने लगे। दक्षिण-पूर्वी यूरोप में प्रोत्साहित किए गए तेज विखन्डन के कारण नव-स्थापित देशों में जर्मन अल्पसंख्यकों की संख्या काफी बढ़ गई थी, जो भावी जर्मन आक्रामकता का एक पुख्ता आधार साबित हुआ।

14.3.9 इतिहासकारों का दृष्टिकोण: दोषी कौन?

मार्टिन गिलबर्ट कहते हैं कि हिटलर का लक्ष्य प्रथम विश्व युद्ध की शर्मनाक पराजय के दाग को मिटा देना था, और युद्ध इसलिए जरूरी था क्योकि एक युद्ध की हार के जख्म पर दूसरे युद्ध की जीत से ही मरहम लगना संभव है। ह्यू ट्रेवर रोपर का तर्क है कि हिटलर बिलकुल शुरुआत से ही एक बड़ा युद्ध करने का मन बना चुका था; कम्युनिज्म से उसे घृणा थी, जिस पर वह लगाम लगाना चाहता था, और यह लक्ष्य एक बड़े युद्ध के बिना नामुमकिन था; पोलैन्ड पर हमला उसने इसलिए किया क्योकि उस पर कब्जा किए बगैर सोवियत संघ पर हमला करना सम्भव न था। सोवियत संघ से अनाक्रमण सन्धि करने के पीछे उसकी असल मंशा सोवियत संघ को धोखे में रखकर पोलैन्ड पर कब्जा पूरा होने तक उसे तटस्थ बनाए रखना था। इस बात के प्रमाण के लिए ह्यू ट्रेवर रोपर हिटलर की किताब मीन काम्फ के अलावा होसबाक मेमोरेन्डम का हवाला देते हैं, जो कर्नल होसबाक का दिया गया नवम्बर 1937 में सेना के साथ हिटलर की उस बैठक का सारांश है, जिसमें हिटलर की रणनीति का खुलासा मिलता है।

अन्य इतिहासकार तुष्टीकरण की नीति को भी युद्ध के लिए दोषी मानते हैं। एलन बुलक तर्क करते हैं कि आरम्भिक सफलताओं के अलावा किसी तरह का प्रतिरोध न मिलने के कारण हिटलर का आगे बढ़ना और अधिक जोखिम उठाना संभव हो सका था।

ए.जी.पी. टेलर का तर्क है कि हिटलर की मंशा बड़े युद्ध की न थी। उसकी योजना पोलैन्ड के साथ केवल एक छोटा युद्ध करने की थी। टेलर के अनुसार हिटलर अवसर भाँपने में तेज था, इसलिए जर्मन तुष्टीकरण के अलावा फरवरी 1939 के चेकोस्लोवाकियाई संकट का भी उसने फायदा उठाया, जिस पर जर्मन कब्जा किसी खतरनाक दूरगामी योजना का परिणाम न होकर स्लोवाकिया की आकस्मिक घटनाओं का नतीजा था। बहरहाल, हिटलर तात्कालिक परिस्थितियों के अपने मूल्यांकन में फँस गया, क्योंकि पोलैन्ड पर जर्मन हमले के बावजूद अपने खिलाफ ब्रिटेन और फ्रान्स के युद्ध में कूद पड़ने की अपेक्षा उसने कभी न की थी। टेलर के अनुसार पोलैन्ड में अपना दाँव उलट जाने के कारण हिटलर के लिए युद्ध में उलझना एक तरह की दुर्घटना थी।

जर्मन इतिहासकार जोकिम फेस्ट तर्क करते हैं कि हरेक मामले को चरम टकराहट तक ले जाने की हिटलर की फितरत ने घटनाओं को इस तरह मोड़ दिया कि पश्चिमी देशों की समझौते की हरेक ख्वाहिश बंद गली में दम तोड़ती रही। उसका समूचा मिजाज युद्ध के लिए बना था।

अभ्यास प्रश्न: सही या गलत

1. प्रथम विश्व युद्ध का समापन करने वाली वर्साय सन्धि द्वितीय विश्व युद्ध के लिए जिम्मेदारी मानी जाती है।
2. दुनिया में शान्ति कायम करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद गठित लीग ऑफ नेशन्स अनेक विवादित मुद्दों से निपटने में असफल रही।
3. ए.जे.पी टेलर का तर्क है कि हिटलर बड़े युद्ध की जगह पोलैन्ड के खिलाफ केवल एक सीमित युद्ध चाहता था।
4. एन्शुलस शब्द जर्मनी में आस्ट्रिया की एकता को अभिव्यक्त करता था।

5. युद्ध टालने के लिए ब्रिटेन व फ्रान्स जैसे आक्रामक देशों की माँगों को मानने वाली तुष्टीकरण की नीति जर्मनी, इटली और फ्रान्स जैसे देश अपनाते थे, बशर्ते वे माँगे बिलकुल बेजा न हों।

14.4 युद्ध का घटनाक्रम

नार्मन लो ने युद्ध के चार स्पष्ट दौर गिनाए हैं, जिनकी अब हम चर्चा करने जा रहे हैंः

14.4.1 आरम्भिक चालः सितम्बर 1939-दिसम्बर 1940 सितम्बर

1939 के अन्त तक जर्मनी और रूस पोलैन्ड पर अपना कब्जा पूरा कर चुके थे। 29 सितम्बर 1939 को पोलैन्ड (अगस्त सन्धि या अनाक्रमण सन्धि के अनुरूप) इन देशों के बीच बाँट लिया गया था। अगले पाँच महीने शान्ति बनी रही, जिसके कारण अमरीकी मीडिया इस युद्ध को 'नकली युद्ध' कहने लगा था। बहरहाल, अप्रैल 1940 में युद्ध की हलचलें तेज हो गईं, और जर्मनी ने डेनमार्क व नार्वे पर कब्जा जमा लिया। मई 1940 में हालैन्ड, बेल्जियम और फ्रान्स पर भी जर्मन हमलों की शुरुआत हो गई, और काफी फुर्ती के साथ इन राष्ट्रों को जर्मनी ने हरा दिया। फ्रान्स के उत्तरी हिस्से और अटलान्टिक तट पर जर्मनी का कब्जा हो चुका था। शेष फ्रान्स को मार्शल पेटेन के नेतृत्व में विची से एक फ्रान्सीसी सरकार चलाने की इजाजत मिल गई, लेकिन किसी तरह की स्वतन्त्रता उसे नसीब न थी। यह कठपुतली सरकार उलटे जर्मनी से साँठगाँठ करके ब्रिटेन को अलग-थलग करने में लगी थी (फ्रान्स का पतन होने के ठीक पहले, जून में, मुसोलिनी भी युद्ध छेड़ चुका था)। हिटलर ने सोचा था कि भारी बमबारी करके वह ब्रिटेन को घुटने टेकने पर मजबूर कर देगा, लेकिन ब्रिटेन के साथ अगस्त-सितम्बर 1940 के बीच हुई जंग में उसकी यह रणनीति फुस्स हो गई। यह घटना युद्ध में पहला निर्णायक मोड़ साबित हुई, क्योंकि इसके साथ ही जर्मन अजेयता का अब तक का खौफ अचानक खत्म हो गया। इसी समय मुसोलिनी की सेनाएँ मिस्र (सितम्बर 1940) और ग्रीस (अक्टूबर 1940) पर हमला कर रही थीं, लेकिन दोनों मोर्चो पर वह पीछे धकेल दी गई। मुसोलिनी हिटलर के लिए मुसीबत बन गया।

14.4.2 धुरी राष्ट्रों के आक्रमणों में तेजीः 1941-1942

इस दौर में युद्ध वैश्विक युद्ध का आकार लेने लगा। जर्मनी ने मिस्र पर दोबारा कब्जा करने में इटली की मदद की और ग्रीस पर कब्जा कर लिया। उसने अनाक्रमण सन्धि को ताक पर रखते हुए सोवियत संघ पर (22 जून, 1941, ऑपरेशन बारबरोसा) हमला कर दिया। कुछ इतिहासकारों की नजर में जर्मनी का रूस पर हमला करना उसकी सबसे भारी भूल थी, लेकिन ह्यू ट्रेवर रोपर का दावा है कि 'रूस में सैनिक अभियान से बचने की विलासिता हिटलर को उपलब्ध न थी; वह नाजीवाद के लिए करो या मरो की स्थिति थी, जिसमें देर करना भी मुमकिन न था। वह उसके लिए अभी नहीं तो कभी नहीं वाली स्थिति थी।'

दिसम्बर 1941 को (हवाई द्वीप स्थित) पर्ल हार्बर के अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर जापान ने हमला कर दिया। इस घटना ने अमरीकियों को द्वितीय विश्व युद्ध में सीधे तौर पर खींच लिया। इस हमले के बाद भी जापानी रुके नहीं, और वे फिलीपीन्स, मलय, सिंगापुर, हांगकांग, डच ईस्ट इन्डीज, बर्मा और अमरीकी कब्जे वाले गुआम व वेक द्वीपों में कूच कर गए। यह घटना हिटलर को भी संयुक्त राष्ट्र अमरीका के खिलाफ युद्ध घोषित करने की तरफ ले गई। यह

उसकी भूल थी, क्योंकि अमरीका, रूस और ब्रिटेन के साझा सन्साधन जर्मनी के लिए काफी चुनौतीपूर्ण साबित होने वाले थे।

अपने कब्जे वाले इलाकों में जर्मन व जापानी सेनाओं का व्यवहार बेहद अमानवीय व बर्बर था। नाज़ी पूर्वी यूरोप के लोगों के साथ कमतर मनुष्य का व्यवहार करते थे और उन्हें जर्मन नस्ल का गुलाम समझते थे। इस दुराचरण के मामले में जापान कत्तई पीछे न था और वह विजित लोगों के साथ बेहद बुरा बर्ताव करता था। इसके कारण उनके प्रति लोगों में असन्तोष पैदा हुआ और विजित इलाकों में वे जन-समर्थन हासिल करने में नाकाम रहे।

14.4.3 धुरी राष्ट्रों के आक्रमण प्रतिरोध में फँसेः 1942ः1943

युद्ध के तीन अलग मोर्चों पर धुरी राष्ट्रों को पराजय का मुँह देखना पड़ा। पहली घटना मिडवे द्वीप पर घटी, जहाँ ताकतवर जापानी नौसेना को अमरीकियों ने हरा दिया। जापानी रेडियो के कूट संदेशों को पढ़ लेने और जापानी सेनाओं को विभाजित करने की रणनीति के कारण अमरीकी यह करिश्मा करने में कामयाब हुए थे। हालाँकि यह लड़ाई 'द्वीप बदलते रहने' की जापानी रणनीति के कारण काफी लम्बी खिंची और 1943-44 तक जारी रही। उधर, मिस्र के अल अलामीं (अक्टूबर 1942) में रॉमेल के नेतृत्व में आक्रमण करती जर्मन सेनाओं को मान्टगोमरी की आठवीं सेना ने वापस खदेड़ दिया। मित्र राष्ट्रों की इस विजय के कारण मिस्र और स्वेज नहर जर्मन कब्जे में जाने से बच गए; दूसरी तरफ मध्य पूर्व और यूक्रेन की अपनी सेनाओं में सम्पर्क स्थापित करने के धुरी राष्ट्रों के सपने भी चकनाचूर हो गए। यह घटना उत्तर अफ्रीका से धुरी राष्ट्रों की सेनाओं के पूरी तरह खदेड़ दिए जाने के अभियान में निर्णायक साबित हुई। जंग का तीसरा महत्वपूर्ण मोर्चा रूस में था, जहाँ जर्मन सेनाएँ कूच करते हुए स्टालिनग्राड के करीब पहुँच चुकी थीं। लेकिन यहाँ रूसियों ने जबरदस्त प्रतिरोध किया, और नवम्बर में जोरदार प्रत्याक्रमण कर दिया। 2 फरवरी 1943 में जर्मन सेनापति ने समर्पण कर दिया। यह हार जर्मन सेना का नासूर बन गई और रूसियों का मनोबल सातवें आसमान पर पहुँच गया। जर्मन सेना रूस से साफ कर दी गई।

14.4.4 धुरी राष्ट्रों की पराजयः जुलाई 1943-अगस्त 1945

अमरीका और रूस के विशाल संसाधन ब्रिटेन की नौसैनिक श्रेष्ठता और उसके विशाल साम्राज्य के संसाधनों ने मिलकर धुरी राष्ट्रों को समय के साथ पस्त कर डाला। धुरी राष्ट्रों के ढहने में इटली की हार निर्णायक साबित हुई। हार के बाद इटली के सम्राट ने मुसोलिनी को बर्खास्त कर दिया। मुसोलिनी का उत्तराधिकारी मार्शल बादोग्लिओ एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके मित्र राष्ट्रों के खेमे में शामिल हो गया। जर्मनी ने रोम पर कब्जा कर लिया। जवाब में मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ जर्मन सेना के खिलाफ युद्ध में डट गईं, और जून 1944 में रोम पर कब्जा कर लिया। इटली की जीत मित्र राष्ट्रों की जीत का कारण बन गईः उसके हवाई अड्डों से मध्य यूरोप व बालकन क्षेत्र पर तैनात जर्मन सेनाओं पर बमबारी की जाने लगी, जिसके कारण जर्मन सेना वहीं उलझकर रह गईं और रूस के मोर्चे पर अतिरिक्त कुमुक भेजने के जर्मन मंसूबे ध्वस्त हो गए। जर्मन कब्जे वाले फ्रान्स पर मित्र राष्ट्रों का आक्रमण (जिसे दूसरा मोर्चा कहा जाता है) 6 जून 1944 में शुरू हुआ; मित्र राष्ट्रों की सेना नारमेन्डी में घुस गई। वहाँ से तेजी के साथ कूच करते हुए मित्र राष्ट्रों की

सेना कुछ सप्ताह के अन्दर उत्तरी फ्रान्स के अधिकांश हिस्से को मुक्त कराने में कामयाब हो गई, जिसके बाद 25 अगस्त 1944 को पेरिस भी आजाद करा लिया गया।

ब्रिटेन और अमरीकी सेनाओं के जर्मनी पर हमले होते रहे, लेकिन जर्मन सेनाओं ने काफी प्रतिरोध किया। बल्ज की लड़ाई में आक्रमण का जोखिम उठाते हुए हिटलर ने सब कुछ दाँव पर लगा दिया, और उसे भारी नुकसान झेलना पड़ा, जिसमें ढाई लाख सैनिक और 600 टैंक शामिल थे।

6 अगस्त 1945 को अमरीकियांे ने 'लिटिल बॉय' नामक एक महाविनाशक आणविक बम हिरोशिमा पर गिरा दिया, 84, 000 इन्सान तत्क्षण मौत के मुँह में समा गए। उधर, 'फैट मैन' नाम वाला दूसरा आणविक बम अमरीका ने नागासाकी पर 9 अगस्त 1945 के दिन गिराया, जिसके कारण 40, 000 बेगुनाह इन्सान मौत के मुँह में धकेल दिए गए। इस बमबारी का असर हताहतों की इस संख्या तक सीमित न था, अनेक शारीरिक विकृतियों के रूप में आणविक विकिरण के प्रभाव भावी पीढ़ियों को भी सालते रहे। राजनीतिक नेता इस कार्यवाही को जायज ठहराने के लिए चाहे जो दलील दें, इसमें दो राय नहीं कि द्वितीय विश्व युद्ध की यह सबसे भयानक और बर्बर घटना है।

अभ्यास: सही या गलत

1. जर्मनी और इटली ने स्पेन के गृहयुद्ध में जनरल फ्रान्को का साथ नहीं दिया था
2. जापानियों ने 7 दिसम्बर 1941 को पर्ल हार्बर पर हमला किया, जिसके कारण अमरीका सीधे तौर पर युद्ध में कूद पड़ा था।
3. हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराए जाने वाले दो बमों का नाम 'बिग बॉय' और 'थिन मैन' था।

14.5 युद्ध के परिणाम

14.5.1 जानमाल और सम्पत्ति की अभूतपूर्व तबाही

युद्ध के कारण दुनिया को जानमाल और सम्पत्ति की भारी तबाही झेलनी पड़ी। नार्मन लो के अनुसार इस युद्ध में मरने वालों की संख्या 3 करोड़ थी, जिसमें आधे तो केवल रूसी थे। इसके अलावा, लगभग 2 करोड़ 10 लाख लोग अपने घरों से उजाड़ दिए गए थे (जिन्हें मजदूर बनाने या बंदी शिविरों में कैद करने के लिए जर्मनी ले जाया गया था)। युद्ध के बाद इन लोगों को स्वदेश भेजने की समस्या खड़ी थी। एक दूसरे अनुमान के मुताबिक युद्ध मंे मरने वालों की संख्या पाँच से साढ़े पाँच करोड़ बताई जाती है।

द्वितीय विश्व युद्ध की बर्बरता इसलिए खास थी कि इसमें मरने वाले अधिकांश नागरिक सोची समझी रणनीति के तहत मारे गए थे। शहरों पर भारी बमबारी करना और बेगुनाह नागरिकों का जनसंहार करना युद्ध की जायज रणनीति बना दी गई थी। युद्ध में शामिल हरेक राष्ट्र ने विरोधी राष्ट्र के आम नागरिकों के प्रति कोई संवेदनशीलता नहीं दिखाई, और दुश्मन राष्ट्र के नागरिकों को बर्बरता के साथ बमबारी का निशाना बनाया।

14.5.2 विस्थापन की महामारी

युद्ध के अन्तिम दिनों में लगभग एक करोड़ पचास लाख लोग विस्थापित होने के लिए मजबूर किए गए थे। रूस के नेता स्टालिन, ब्रिटेन के चर्चिल और अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने पॉट्सडैम सम्मेलन (1945) में जनसंख्या के

'व्यवस्थित और मानवीय' स्थानान्तरण की बात तय की थी। लेकिन, इस वादे के उलट, पश्चिमी पोलैन्ड, चेकोस्लोवाकिया और अन्य जगहों पर पीढ़ियों से बसे जर्मन अल्पसंख्यकों को अपने घरों को छोड़ने पर मजबूर किया गया, क्योंकि इन देशों की सरकारें इन इलाकों पर जर्मनी के किसी तरह के भावी दावों की गुन्जाइश नहीं छोड़ना चाहती थीं। इस जबरन विस्थापन के कारण युद्ध के बाद सड़कों व रेलों में शरणार्थियों का रेला लग गया था।

14.5.3 उपनिवेशवाद विरोधी उभार

युद्ध ने दुनिया भर में उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों को तेज कर दिया। 1942 मंे छह महीने तक जर्मन फौजों के कब्जे में रहने के कारण टुनीशिया पर फ्रान्स की औपनिवेशिक जकड़ ढीली पड़ गई और ट्यूनीशियाई राष्ट्रवाद को जैसे पंख लग गए। युद्ध के दौरान दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीकानेर (अफ्रीकान्स बोलने वाले डच मूल के दक्षिण अफ्रीकी) लोगों का प्रतिरोध बाद में अंग्रेजों से नाता तोड़ने की उनकी तीव्र इच्छा में बदल गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया के विभिन्न देशों में भी उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलनों में तेजी आ गई। अगस्त 1943 में जापानी सेना की मदद से बर्मा ने खुद को आजाद घोषित कर दिया था। इसी साल अक्टूबर में जापानी सेना की मदद पाकर फिलीपीन्स ने भी खुद को आजाद घोषित कर दिया। भारत में भी आजादी की जंग का ज्वार अंग्रेजों को हलेकान करने लगा। इन आन्दोलनों के कारण औपनिवेशिक ताकतों को एहसास हो गया कि उपनिवेशों के आन्दोलनों को झेलना अब उनके बूते की बात नहीं है, इसलिए उन्होंने अपने साम्राज्य का बोरिया बिस्तर समेटने का मन बना लिया।

14.5.4 शक्ति सन्तुलन में फेरबदल

द्वितीय विश्व युद्ध के पहले ब्रिटेन दुनिया का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था, लेकिन युद्ध के बाद शक्ति सन्तुलन का पलड़ा अमरीका और रूस की तरफ झुक गया। ये दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय वर्चस्व के शिखर पर बिराजमान हो गए, जबकि ब्रिटेन की पुरानी चमक फीकी पड़ गई। इस युद्ध में रूस ने भारी योगदान किया था और युद्ध की समाप्ति पर आधा यूरोप उसके नियन्त्रण में था। अमरीका ने जर्मनी को हराने, हिरोशिमा और नागाशाकी पर विध्वंसक आणविक बम के जरिए जापानी सेना का समर्पण कराने में बड़ी भूमिका निभाई थी, और उसकी नौसेना का प्रशान्त क्षेत्र में दबदबा कायम हो चुका था। सोवियत संघ में समाजवाद और अमरीका में पूँजीवाद जैसी सरकार की दो बिलकुल अलग व्यवस्थाओं के कारण इन दोनों देशों के बीच तकरार होना लाजिमी था। युद्धोत्तर दुनिया की तसवीर पर उनमें किसी सहमति का होना मुश्किल था। यही वैचारिक मतभेद और टकराहटें भविष्य में 'शीत युद्ध' में बदल गए। 1945 से लेकर 1991 में सोवियत संघ के विघटित होकर अनेक नए राष्ट्रों के बनने तक, इन दो महाशक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का चरित्र निर्धारित करती रही। 1991 के बाद अमरीका सर्वोच्च महाशक्ति बन गया और हमारी द्वि-ध्रुवीय दुनिया एक ध्रुवीय दुनिया में तब्दील हो गई। यही कारण है कि आज दुनिया के दूसरे ताकतवर देश अपना प्रभाव बढ़ाकर अमरीका से होड़ करने की कोशिश कर रहे हैं, ताकि वे बहु-ध्रुवीय दुनिया कायम करने की कोशिश कर सकें।

14.5.5 सर्व-समावेशी शान्ति समझौते का अभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दुनिया के देश वर्साय जैसी सर्व-समावेशी शान्ति सन्धि नहीं कर सके। ऐसा इसलिए क्योकि युद्ध के अन्तिम दौर में सोवियत संघ और पश्चिमी ताकतों के बीच उभरे अविश्वास ने किसी आम सहमति की सम्भावना को खत्म कर दिया था।

युद्ध के बाद राष्ट्रों के बीच हुई अलग-अलग सन्धियों के परिणामों पर नार्मन लो ने टिप्पणियाँ की हैं। युद्ध के बाद इटली के अफ्रीकी उपनिवेश खत्म कर दिए गए, और उसे अलबानिया और अबीसीनिया पर अपना दावा छोड़ने पर भी मजबूर किया गया; सोवियत संघ को चेकोस्लोवाकिया का पूर्वी छोर, पेट्सामो जिला और लादोगा झील के इर्दगिर्द फिनलैन्ड का इलाका मिल गया, और एस्टोनिया, लाटविया, लिथुआनिया और पूर्वी पोलैन्ड के 1939 में विजित हिस्से भी उसकी झोली में चले गए। रोमानिया ने बेसार्बिया और उत्तरी बुकोविना सोवियत संघ को सौंप दिया जबकि युद्ध के दौरान हंगरी के कब्जे से मुक्त उत्तरी ट्रान्सिलवानिया फिर से उसे मिल गया। ट्रीस्टे पर इटली और यूगोस्लाविया दोनों ही दावा जता रहे थे, इसलिए उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण वाली मुक्त भूमि घोषित कर दिया गया। सैन फ्रान्सिसको (1951) में जापान भी पिछले नब्बे वर्षों में अपने द्वारा विजित सभी इलाकों को लौटाने के लिए तैयार हो गया, जिसमें चीन से जापान की सम्पूर्ण वापसी शामिल थी।

14.5.6 अफ्रीका और मध्य पूर्व में स्वतन्त्रता की लहर

विश्व युद्ध के दौरान फ्रान्सीसी इन्डो-चीन, मलय और सिंगापुर और डच ईस्ट इन्डीज जैसे यूरोपीय आधिपत्य वाले इलाकों पर जापान की विजय ने यूरोपीय अपराजेयता के मिथक को ध्वस्त कर दिया था। इन क्षेत्रों की जनता भी यूरोपीय औपनिवेशिक जुए से मुक्ति के लिए जापान के साथ मिलकर लड़ी थी। युद्ध के बाद आजादी का स्वाद चख चुकी इस जनता से यूरोपीय देशों के अधीन बने रहने की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके अलावा, एशिया की इन घटनाओं ने अफ्रीका और मध्य पूर्व के अनेक देशों पर भी जबरदस्त असर डाला और वहाँ भी आजादी की माँग तेज हो गई। इन देशों के अनेक नेता अल्जियर्स (1937) में एक सम्मेलन के लिए इकट्ठा हुए थे, और उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वे साम्यवाद व पूँजीवाद के दो विरोधी वैश्विक ध्रुवों से खुद को तटस्थ रखना चाहते हैं। ये देश आम तौर पर गरीबी से बेजार और औद्योगिक रूप से पिछड़े थे, और दुनिया के विकसित व धनी देशों पर अपनी निर्भरता खत्म करना चाहते थे।

14.5.7 सामाजिक और वैज्ञानिक विकास का दौर

नार्मन लो ने बताया है कि एक कल्याणकारी राज्य की ब्रिटिश योजना को युद्ध के कारण ही बढ़ावा मिल सका था। बीवरिज रपट (1942) में तर्क किया गया था कि अभाव, बीमारी, ज्ञान की कमी, गंदगी और बेकारी दुनिया की ऐसी बड़ी समस्याएँ हैं जिन पर विजय हासिल करना जरूरी है। सरकारों को बीमा योजनाएँ, बाल सहायता व राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना लागू करते हुए पूर्ण रोजगार सुनिश्चित करना चाहिए। हालाँकि, वैज्ञानिक क्षेत्र में मानवता का समूल नाश करने में समर्थ आणविक हथियारों के उत्पादन की प्रक्रिया में तेजी भी इसी दौर की देन है।

14.5.8 युद्ध के सांस्कृतिक प्रभाव

बर्बर क्रूरता के बढ़ने और तार्किकता के लकवाग्रस्त होने के कारण दयालुता, मानवता और उदारता जैसे मूल्यों को गहरा धक्का पहुँचा था। अनेक लोग बर्बरता और अतार्किकता को मानवीय स्वभाव व सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग व सार्वकालिक गुण मान बैठे थे। लोगों को यह भी लगा कि विज्ञान और तकनीक ने जिस पैमाने की शक्ति का संचार किया है उसे नियन्त्रित करना मनुष्य जाति के लिए संभव नहीं है। धरती से जीवन का समूल नाश करने में समर्थ आणविक हथियारों का विभिन्न देशों द्वारा उत्पादन विनाशकारी वैज्ञानिक विकास को मिलने वाले प्रोत्साहन की खतरनाक मिसाल है।

इस माहौल में दर्शन की अस्तित्वादी धारा वैचारिक जगत में सर्वप्रमुख हो गई। अस्तित्ववाद जीवन की निरर्थकता को रेखांकित करता था। सैमुएल बेकेट का नाटक वेटिंग फॉर गोदो इस दौर में काफी लोकप्रिय हुआ। यह ''दो अंको वाली हास्य-त्रासदी'' लोगों को या तो चकित करती थी या उन्हें आक्रोश से झकझोर देती थी। नाटक में दो आवारा (ट्रैम्प) 'गोदो' नाम के जिस व्यक्ति का इन्तजार करते हैं वह अन्त तक नहीं आता, और इस तरह नाटक अपने दर्शकों को जीवन की निरर्थकता का बोध कराता है। इस नाटक में घटनाक्रम का नितान्त अभाव है, जिसके कारण मानवीय अस्तित्व किसी अर्थ या उद्देश्य से बिलकुल रहित दिखता है। 1940 के दशक में यह नाटक 'निरर्थकता के नाट्यमंच' का प्रतीक बनकर खासा प्रतिष्ठित हुआ था। 1940 के दशक में ही कला के क्षेत्र में अमूर्त अभिव्यंजनवाद (एक्सप्रेशनिज्म) के नए स्कूल का उभार हुआ, जिसमें कलाकार बौद्धिक के बजाय भावुक तत्वों को वरीयता देते थे। 1950 के दशक के पॉप कलाकारों की मंशा आम संस्कृति की मामूली चीजों व प्रतीकों का कलावस्तु के बतौर इस्तेमाल करने के जरिए कला के अभिजात चरित्र को झकझोरना था। आदर्शवाद और विवेक के प्रति एक तरह से आम अविश्वास की भावना लोगों में घर कर गई थी।

14.5.9 संयुक्त राष्ट्रसंघ का उदय

लीग ऑफ नेशन्स के उत्तराधिकारी के बतौर 24 अक्टूबर 1945 को यूएनओ की स्थापना की गई, ताकि दुनिया में शान्ति की गारन्टी हो सके। संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर 1945 में सैन फ्रान्सिसको में पारित किया गया था, जो रूस, अमरीका, ब्रिटेन और चीन के बीच 1944 में डम्बर्टन ओक्स (यूएसए) में हुए सम्मेलन की सहमतियों पर आधारित था। संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य विश्व में शान्ति कायम करने और संघर्ष के मुद्दों को खत्म करने के लिए दुनिया में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा देना है। सभी जनसमुदायों के मानवीय अधिकारों व सार्वभौमिक आजादी की गारन्टी करना इसका लक्ष्य है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि पहली सितम्बर 1939 के दिन पोलैन्ड पर जर्मनी के हमले से शुरू द्वितीय विश्व युद्ध मनुष्य जाति के इतिहास का सर्वाधिक भीषण युद्ध था। इस युद्ध के अनेक कारण ऐसे थे, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय संकट को इस विस्फोटक मोड़ पर ला दिया था, और जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। युद्ध में जानमाल और सम्पत्ति का जो नुकसान हुआ वह युद्धों के इतिहास में अभूतपूर्व है। लेकिन यह विभीषिका भावी पीढ़ियां को इस पैमाने पर युद्ध की कार्यवाही दोबारा न करने का सबक भी है, क्योंकि यह गलती दोहराने का अर्थ मनुष्य जाति के समूल नाश के सिवा कुछ न होगा।

अभ्यासः सही या गलत

1. द्वितीय विश्व युद्ध में शहरों पर बमबारी करके आम नागरिकों का व्यवस्थित जनसंहार करना युद्ध की एक मान्य रणनीति थी।
2. पोट्सडैम सम्मेलन में जनसंख्या के व्यवस्थित और मानवीय स्थानान्तरण की व्यवस्था की गई थी।
3. युद्ध के बाद शक्ति संतुलन ब्रिटेन और फ्रान्स के पक्ष में झुक गया और वे महाशक्ति बन गए।
4. अफ्रीका और मध्य पूर्व में आजादी की माँग का तेज होना द्वितीय विश्व युद्ध का एक परिणाम था।
5. अस्तित्ववाद जीवन की सार्थकता पर जोर देता था।
6. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 24 अक्टूबर 1945 में विश्व में शान्ति कायम करने के लिए की गई थी।

अभ्यासः खाली स्थान भरें

1. अगस्त 1943 में बर्मा ने .....सेना की मदद से खुद को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था
2. .....द्वारा लिखित वेटिंग फॉर गोदो नाटक .....के नाट्यमंच के बतौर प्रसिद्ध हो गया था
3. चित्रकला के क्षेत्र में 1940 के दशक में अमूर्त.....के नए स्कूल का उदय हुआ था जिसमें कलाकार बौद्धिकता की जगह भावुकता को तरजीह देते थे।
4. मुसोलिनी के उत्तराधिकारी.....ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके इटली को मित्र राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया।
5. मीन काम्फ (मेरा संघर्ष) .....ने लिखा था।

14.6 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई14.3.9 के उत्तर

1. सही
2. सही
3. सही
4. सही
5. गलत

इकाई 14.4.4 के उत्तर

1. गलत
2. सही
3. गलत

इकाई 14.5.9 के उत्तर

1. सही
2. सही
3. गलत

4. सही

5. गलत

6. सही

14.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- ब्रिग्स, आसा और क्लाविन पैट्रीशिया, माडर्न यूरोपः पियरसन एजूकेशन लिमिटेड, दिल्ली, 2003
- महाजन, स्नेह, इशूज इन ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी वर्ल्ड हिस्ट्री, मैकमिलन, दिल्ली, 2010
- लो, नार्मन, मास्टरिंग माडर्न वर्ल्ड हिस्ट्री, दूसरा संस्करण,, मैकमिलन, लंदन, 1988
- पैक्सटन, राबर्ट ओ, यूरोप इन द ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी, तीसरा संस्करण, हारकोर्ट ब्रस एन्ड कम्पनी, फ्लोरिडा, 1997
- ली, स्टीफेन जे, हिटलर एन्ड नाज़ी जर्मनी, रूलेज, लंदन, 1998
- टेलर, ए.जी.पी, द ओरिजिन्स आफ द सेकन्ड वर्ल्ड वार, लंदन, 1963

14.8 अध्ययन के लिए ग्रन्थ सूची

- मैनविक, आर्थर, ब्रिटेन इन द सेन्चुरी आफ टोटल वार, बोस्टन, 1968
- हॉब्सबाम, ई.जे, द एज आफ इक्स्ट्रीम्सः द शार्ट 20 सेन्चुरी, 1914-1991 (1994)
- थामसन, डेविड, यूरोप सिन्स नेपोलियन, लो एन्ड ब्राइडन लिमिटेड, लंदन, 1957
- मेरीमन, जॉन, अ हिस्ट्री आफ माडर्न यूरोप, खन्ड 2, डब्ल्यू.डब्ल्यू. नार्टन एन्ड कम्पनी, न्यू यार्क/लंदन, 1996

14.9 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. द्वितीय विश्व युद्ध के लिए हिटलर किस हद तक जिम्मेदार था?

प्रश्न 2. तुष्टीकरण की नीति ने द्वितीय विश्व युद्ध में क्या भूमिका निभाई?

प्रश्न 3. द्वितीय विश्व युद्ध की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करें?

प्रश्न 4. द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों की चर्चा करें?